सर्वदर्शन सार
स्वामी शांती धर्मानन्द सरस्वती
चित्रं वटतरोर्मूले, वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यास्तु छिन्न संशयाः।।
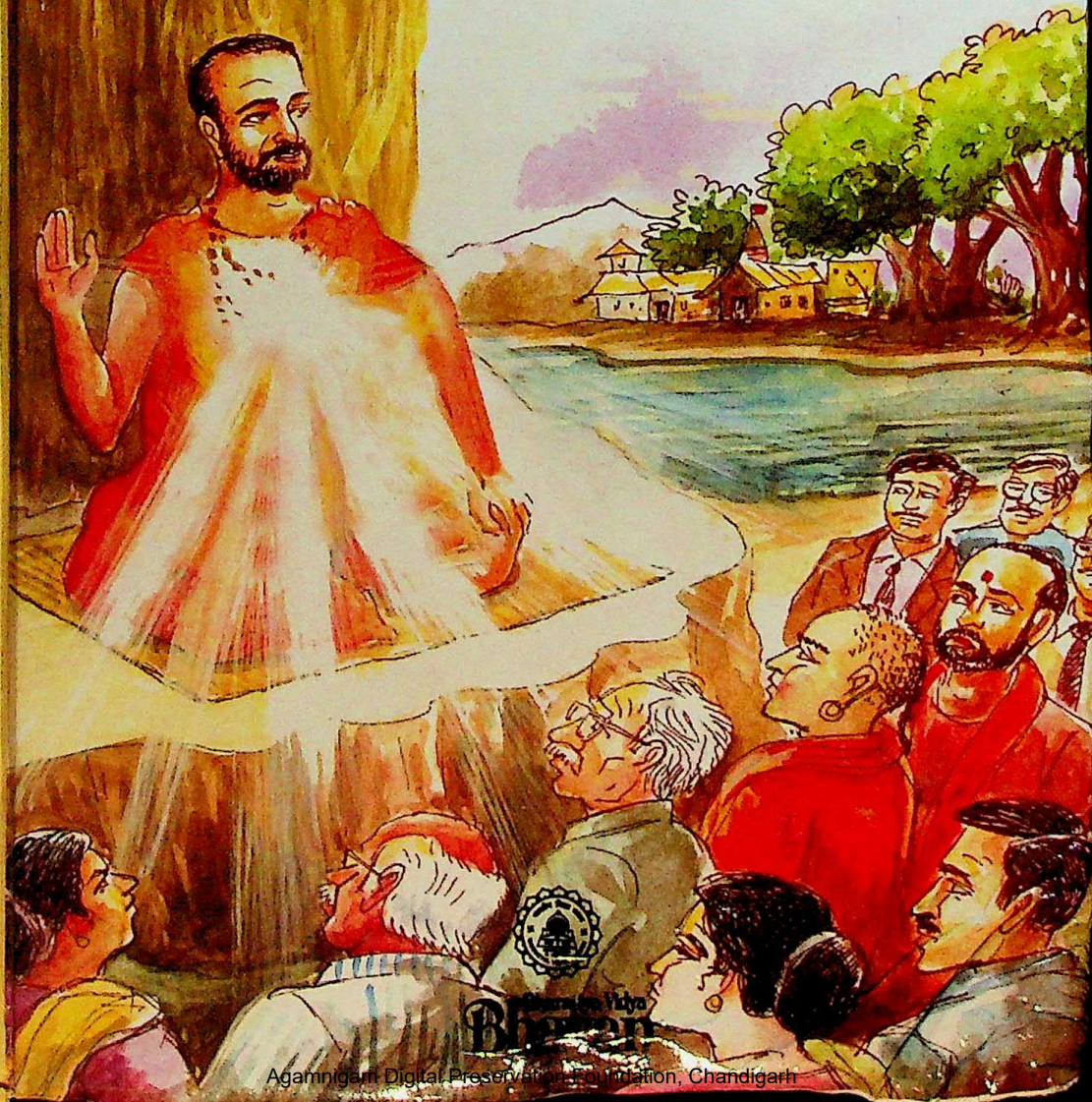
आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः

ā no bhadrāḥ kratavao yantu viśvataḥ

Let noble thoughts comes to us from every side

— Rigveda 1-89-i

BHAVAN'S BOOK UNIVERSITY

मुख्य सम्पादक

एस. रामाकृष्णन

सर्व दर्शन सार

स्वाती शांती धर्मानंद

BHAVAN'S BOOK UNIVERSITY

सर्व दर्शन सार

स्वामी शांतीधर्मानंद

२०००

भारतीय विद्या भवन

कुलपति मुन्शी मार्ग

मुम्बई - ४०० ००७

सर्व दर्शन सार

लेखक : **स्वामी शांतिधर्मानंद सस्वती**

प्रथम संस्करण

जून 2001 : 1000 प्रतियाँ

मूल्य : रू. 175 मात्र

ISBN : 81-7276-228-3

प्रकाशक

एस. रामाकृष्णन

कार्यकारी सचिव

भारतीय विद्या भवन

कुलपति मुन्शी मार्ग, मुम्बई 400 007

अक्षर संयोजन

मैकटेक, ए 2/387 सेक्टर 8

रोहिणी, दिल्ली 110085

आवरण

अरुण महेश्वरी

मुद्रक

नाईस प्रिंटिंग प्रेस, नई दिल्ली

भूमिका

"**दर्शन**" शब्द का अर्थ है देखना, देखने का साधन, विचारना, श्रद्धा करना, इत्यादि। आदि काल से ही मानव ने अपने जीवन के लक्ष्य के संबंध में विचार करना आरंभ किया है। अतः तब से ही दर्शन मानव के जीवन का अंग बना हुआ है। जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण ही दर्शन है। अनन्त मनुष्य हैं इसलिए अनंत दर्शन भी। प्रत्येक मनुष्य में अपने आसपास के वस्तुओं को जानने, समझने और उनके उपयोग करने की जिज्ञासा जैसे होती है ठीक उसी प्रकार आन्तरिक वस्तुओं, उनकी गति–विधि, क्रिया –प्रतिक्रिया, स्थूल –सूक्ष्म भेद आदि को जानने, समझने और उनको अपने अनुकूल उपयोग करने के साथ साथ उनके नियंत्रण आदि की जिज्ञासा होती है। आंतरिक एवं ब्राह्य वस्तुओं का क्या संबंध है, उस संबंध का निरूपण कौन कैसे करता है, उनके ज्ञान के क्या साधन हैं, इत्यादि अनेक प्रश्न मनुष्य के मन एवं बुद्धि में उत्पन्न होते हैं। उनसे मनुष्य को चिंतन की प्रेरणा मिलती रहती है । अतः जिज्ञासा की निरंतर धारा ही दर्शन के आविर्भव का कारण है।

"**दर्शन**" के विषय में भारतीय चिंतन धारा अत्यन्त विलक्षण एवं परिपक्व है। प्रायः सभी दर्शन दुःखनिवृत्ति के लिये ही उपायों की खोज में लगे हैं। अतः दर्शन का आधार दुःख पर प्रतिष्ठित है । यह प्रत्येक प्राणी का अनुभवसिद्ध तथ्य है कि विविध दुःखों से सभी ग्रस्त हैं। इसलिये सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति सुखप्राप्ति की ओर होती है। लेकिन विचार का विषय यह है कि सुख क्या है। क्योंकि मनुष्य जिसे सुख समझकर प्राप्त करने की चेष्टा करता है, क्या वह वास्तविक शाश्वत सुख है। उत्तर होगा नहीं, क्योंकि एक वस्तु से सुख प्राप्त होने पर दूसरे की कामना होती है। दर्शनों का लक्ष्य है सर्वोच्च निरतिशय शाश्वत वास्तविक सुख का उपाय बताना जिससे दुःखों का आत्यन्तिक निवारण हो। यद्यपि उस परमसुख की परिभाषा करना असंभव है तथापि सांसारिक दुःखों को **बंधन** और उनकी निवृत्ति को परमसुख **मोक्ष** शब्द से दार्शनिक कहते हैं। यह बंधन और मोक्ष ही भारतीय दर्शनों का मूल आधार है। उनके स्वरूप के विश्लेषण में मतभेद होने से दर्शन अनेक हुए।

यद्यपि बंधन निवृत्ति पूर्वक मोक्ष प्राप्ति के लिये वेद में उपाय बताया गया है तथापि तार्किक दृष्टि से भी उपायों पर विचार किया गया है। कुछ तो इन्द्रियों के अनुभव पर आधारित होकर व्याख्या करते हैं। इस प्रकार दर्शनों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है – अनुभवप्रधान, तर्कप्रधान और आगम (वेद) प्रधान। सभी दर्शनों में दर्शन को जीवन से पृथक् नहीं माना गया है। इसलिये अनुभव, तर्क अथवा

वेद पर आधरित होकर दर्शन में तत्त्वमीमांसा, आचारशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, (क्रिया) कर्म शास्त्र, धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, आदि सभी विषयों पर विचार किया गया है।

दर्शनों में परस्पर तारतम्य है। अतः तारतम्य से चार्वाक के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की विचारधारा से आरंभ करके शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जिज्ञासा की पूर्णतः शान्ति होती है। सभी दर्शनों का एक कथन समान है कि –मूलतत्त्व के साक्षत्कार से ही मोक्ष होता है। पुनः मूलतत्त्व क्या है और उसका साक्षात्कार कैसे, इस पर मतभेद है। इसके लिये प्रमाणों के रूप मे साधन दिये गये है। अतः प्रत्येक दर्शन में विचार किया गया है कि ज्ञान कैसे प्राप्त हो और शुद्धज्ञान का साधन क्या है। साधन की शुद्धि कैसे। इन प्रश्नों पर विचार करते हुए दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या आदि को निर्धारित किया है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। अतः कोई भी ज्ञान हो, वह इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ अनुभव है। बौद्धों तथा वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण माना है। जैन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। माध्व सम्प्रदाय वाले भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाणों को मानते हैं। प्रमाणों के विशेज्ञको नैयायिकों ने चार प्रमाण स्वीकार किया है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। मीमांसको में प्रभाकरमत के अनुसार उक्त चार से अतिरिक्त अर्थापत्ति प्रमाण पाचवाँ स्वीकार करना चाहिये। मीमांसक कुमारिल भट्ट के मत के अनुसार उक्त पाँच के साथ अनुपलब्धि प्रमाण को भी माना गया है। इस प्रकार कुल छः प्रमाण हुए। शंकारचार्यजी इन छः प्रमाणों को स्वीकार किये हैं। पौराणिक लोग इनसे अतिरिक्त संभावना और ऐतिह्य नामक दो प्रमाण अधिक मानते हैं। तान्त्रिक और साहित्यकार लोग चेष्टा को नवम प्रमाण के रूप में मानते हैं। सभी दर्शनकारों ने प्रमाणों के लक्षण में अन्तर किया है। कौन से प्रमाण श्रेष्ठ एवं प्रबल हैं – इस पर भी विवाद है। फिर भी समस्त दार्शनिकों को हम दो कोटि में रख सकते हैं – तार्किक और श्रौत।

मूलतत्त्वों के अनुसंधान में जो लोग एकमात्र तर्क का (अनुमान) का सहारा लेते हैं, वे तार्किक हैं। तार्किक भी दो प्रकार के हैं – शुद्धतार्किक और प्रछन्न तार्किक। बौद्ध, जैन आदि शुद्धतार्किक हैं। तर्कानुकूल वेद को माननेवाले नैयायिकादि प्रच्छन्न तार्किक हैं। मूलतत्त्व के अनुसंधान में केवल वेद (श्रुति) को ही प्रमुख साधन (प्रमाण) मानने वाले श्रौत हैं। जैमिनि, पाणिनी, शंकराचार्य आदि श्रौत दार्शनिक हैं। अतः श्रौत दार्शनिकों के लिये वेद अपौरुषेय, स्वतः प्रमाण है जब कि तार्किकों के लिये वेद पौरुषेय, परतः प्रमाण है।

प्रमाणों से जिसकी सिद्धि की जाती है उसे प्रमेय कहते हैं। मुख्यरूप से सभी दर्शनों में तीन प्रमेय हैं – ईश्वर,जीव, और जगत् ।

1. **ईश्वर** – चार्वाकदर्शन में पृथ्वी के राजा को ही परमेश्वर कहा है। बौद्ध और जैन ने अपने–अपने धर्म के प्रर्वत्तकों को ही ईश्वर मानते हैं। वस्तुतः ये लोग ईश्वर की स्वतन्त्र सत्ता मानते ही नहीं। सांख्य और मीमांसा भी ईश्वर को नही मानते। पाणिनी वैयाकरण शब्द की परा–अवस्था स्फोट को ही ईश्वर मानते हैं। योग दर्शन में ईश्वर की स्वतन्त्रसत्ता मानी गई है और उसे एक पुरुषविशेष कहा है। रामानुज सगुणब्रह्म को ईश्वर कहते हैं और निर्गुण ब्रह्म को मानते ही नहीं। मध्वाचार्य भी इसी प्रकार मानते हैं। किन्तु अन्तर इतना है कि रामानुज के अनुसार जीव और जड़ ईश्वर के शरीर हैं जब कि मध्वाचार्य का कहना है कि ईश्वर अन्य तत्त्वों से पृथक् एव पूर्णतया स्वतन्त्र है। महेश्वर (शैव) सम्प्रदाय, नैयायिक और वैशेषिकों की भी यही मान्यता है। ये सब ईश्वर को संसार का निमित्त कारण मानते हैं, उपादान कारण नहीं। योगदर्शन एवं शंकराचार्यजी ने ईश्वर को निर्गुण, निर्लेप तथा पारमार्थिक माना है। योगदर्शन ने ईश्वर को संसार का न तो निमित्तकारण माना है और न उपादान। किन्तु शंकराचार्यजी का कहना है कि जीव और जगत् रूपी संसार का माया से विशिष्ट ईश्वर ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है क्योंकि संसार विवर्त है।

2. **जीव** :– नास्तिक दर्शनों में चार्वाक के अनुसार चैतन्य विशिष्टशरीर ही आत्मा है। कुछ चार्वाक इन्द्रियो को, कुछ प्राण को, कुछ मन को आत्मा मानते हैं। बौद्धों के अनुसार जीव क्षणिक है और व्यावहारिक तौर पर क्षणिकविज्ञानरूप से प्रतीति मानते हैं। जैनों के अनुसार आत्मा नित्य होते हुए भी विकासशील है अर्थात् कूटस्थ नहीं है।

आस्तिक दर्शनों में नैयायिक और वैशेषिकों के अनुसार जीवात्मा अनित्यगुणोंवाला होने से विकारी है। अतः जड़ के समान है, आगन्तुक ज्ञानगुण से चेतनता आती है। इसलिये मुक्ति की दशा में आत्मा पाषणवत् हो जाती है। प्रभाकर मीमांसक भी इसी प्रकार मानते हैं। किन्तु भाट्टमीमांसक के अनुसार आत्मा के दो अंश हैं – ज्ञान और जड़। शैव, सांख्य, योग और वेदांत में आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि कुछ आस्तिक दर्शनों ने (द्वैतवेदांती, विशिष्टाद्वैतवेदांती आदि, वैष्णव तथा न्याय, वैशेषिक, मीमांसक) आत्मा को सगुण माना है और अन्य आस्तिकों ने (सांख्य, योग, शैव, अद्वैतवेदांती आदि) आत्मा को निर्गुण माना है।

जीवात्मा के परिमाण के विषय में बौद्धों का कहना है कि विज्ञानधारा ही आत्मा

होने से, आत्मा का कोई परिमाण ही नहीं है। रामानुज, माध्व, वल्लभादि वैष्णवलोग अणु परिमाण कहते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग, अद्वैतवेदांतवाले विभुपरिमाण कहते हैं। चार्वाक, जैन और शून्यवादीबौद्ध मध्यम परिमाण मानते हैं।

3. **जगत्** :– समस्त जड़वर्ग अर्थात् जगत् (संसार) का कारण चार्वाक के अनुसार जड़पदार्थ हैं। वे चार हैं – पृथ्वी, जल, तेज और वायु। इनके परमाणुओं से संसार का निर्माण होता है। चार्वाक आकाश तत्त्व को नही मानता है। चार्वाक के समान बौद्ध भी जड़ परमाणुओं को मानता है, किन्तु वह परमाणुओं के अवयवों के प्रवाह से संसार का निर्माण मानता है। चार्वाक परमाणु का अवयव नहीं मानता है। जैन लोग एक विशेष प्रकार के परमाणुओं को ही संसार का कारण मानते हैं। बौद्ध और जैन दोनों आकाश को नही मानते। न्याय और वैशोषिक दर्शनों में दो परमाणु से द्वयणुक और तीन द्वयणुक से त्र्यणुकों की उत्पत्ति मानते हैं। त्र्यणुकों से संसार का निर्माण होता है। ये सब दार्शनिक परमाणु को नित्य मानते हैं। मीमांसक और वैयाकरण परमाणुओं को भी अनित्य मानते हैं। इनके मत में केवल शब्द ही नित्य है, अतः शब्द ही संसार का कारण है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसक और वैयाकरण आकाश को मानते हैं। सांख्य और योग के मत में शब्द भी कार्य है, उसका कारण है अहंकार, अहंकार का महत् और महत् का मूलप्रकृति। इसलिये त्रिगुणात्मिका नित्या मूलप्रकृति ही संसार का कारण है। रामानुजादि वैष्णवों ने इसे ही थोड़ा अन्तर करके स्वीकार किया है। किन्तु अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मूलप्रकृति भी संसार का मूलकारण नहीं है। क्योंकि यह संसार ब्रह्म का विवर्त है।

यह सृष्टि अपने मूलकारण में किस प्रकार (सम्बन्ध) से है, इस पर भी मतभेद है। न्याय और वैशेषिक मत में तीन कारण (समवायि, असमवायि और निमित्त) मिलकर अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करते हैं। इसे ''**आरम्भवाद**'' कहा जाता है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध का कहना है कि उपादान कारण अपने से भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं करता, अपितु सब कुछ क्षणिक होने से कारण के नष्ट होते ही कार्य उत्पन्न होता है। लेकिन शून्यवादी बौद्ध कहता है कि कारण सद्रूप होता ही नहीं, असत् होते हुए भी क्षण–क्षण में कार्यरूपेण प्रतीत होता रहता है। विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि विज्ञानरूपी आत्मा क्षण–क्षण में नये–नये बाह्यपदार्थों अर्थात् कार्य के रूप में प्रतीत होती है। ये सब "असत्यकार्यवादी" हैं। जब वास्तव में उपादान कारण कार्य के रूप में बदल जाए तो उसे "**परिणामवाद**" कहते है। इसे सांख्य, योग, रामानुजादि वैष्णव दर्शनों में माना गया है। ये सब ''सत्कार्यवादी'' हैं। जब कारण की

परिणति कार्य के रूप में वास्तविकरूप से न हो, केवल प्रतीति मात्र हो उसे ''**विवर्तवाद**'' कहते हैं। इसे शंकराचार्यजी के अद्वैतवेदान्त तथा कुछ शैव दर्शनों में माना गया है। यह भी सत्कार्यवाद ही है।

इस विवर्तवाद के भी दो भेद हैं–सृष्टिदृष्टिवाद और दृष्टिसृष्टिवाद। प्रथम सृष्टिदृष्टिवाद तो मायोपाधिक ईश्वर से निर्मित सृष्टि में जीव अपना सम्बन्ध जोड़कर व्यवहार करता है। दूसरा दृष्टिसृष्टिवाद में तो यह संसार जीव की अपनी अविद्या के कारण तात्कालिक और तद्रूप सृष्ट होकर दीखता है। वास्तव में 'जीव' भी अविद्या का कार्य है, परमार्थतः है ही नहीं। प्रत्यभिज्ञादर्शन में दृष्टिसृष्टिवाद को तो स्वीकार करते हैं किन्तु सृष्टि के लिये 'प्रतिबिंबवाद' मानते हैं। अर्थात् यह सृष्टि न ब्रह्म से आरम्भ हुई, न ब्रह्म का परिणाम है और न ब्रह्म का विवर्त अपितु ब्रह्म में अन्तर्भूत प्रतिबिंबात्मक जगत् दिखलाई पड़ता है। इस पक्ष में माया बिम्ब है, जगत् प्रतिबिम्ब और ब्रह्म दोनों का अधिष्ठान।

4. तत्त्वविचार :–

सभी दार्शनिकों ने संसार के कारणीभूत मूलपदार्थो तथा प्रमुख कार्यों पर विचार किया है, जिन्हें ''पदार्थ'' अथवा ''तत्त्व'' कहते हैं।

चार्वाक 4 तत्त्व मानते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु। बौद्ध लोगों में से शून्यवादी केवल शून्य को, योगाचार केवल विज्ञानस्कन्ध को, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक 5 आंतरिक स्कन्धों और 4 बाह्य परमाणुओं को तत्त्व माना है। परन्तु भगवान् बुद्ध ने 4 आर्यसत्य को ही तत्त्व माना है– दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध और निरोधमार्ग। जैनों ने 2 तत्त्व माना है–जीव, और अजीव। कुछ लोग उन दोनों को 5 भागों में विभक्तकर विचार किया है – जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल कुछ अन्य लोगों ने तो 7 भागों में विभक्त किया है। जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष।

सांख्यदर्शन में 4 प्रकार का तत्त्व माना गया है। प्रकृति, विकृति, उभयरूप और अनुभयरूप। योग दर्शन ने भी इन्हीं चार तत्त्वों को माना है। केवल अनुभयरूप पुरुषतत्त्व में थोड़ा अन्तर किया है–जीव और ईश्वर। वैशेषिकों ने 7 तत्त्व स्वीकार किया है–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। नैयायिकों ने 16 तत्त्वों को माना है, वे हैं–प्रमाण, प्रमेय, संख्या, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। मीमांसा दर्शन में आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार 5 तत्त्व मान्य हैं। वे हैं–द्रव्य, जाति, गुण कर्म और अभाव। वेदान्त के प्रभेदों में रामानुज संप्रदाय के अनुसार 2 तत्त्व हैं।

प्रमाण और प्रमेय। प्रमेय पुनः 3 हैं– द्रव्य, गुण और सामान्य। माध्व संप्रदाय के अनुसार तत्त्वों की संख्या 10 है–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। महेश्वर (शैव) संप्रदाय के अनुसार 5 तत्त्व हैं–कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। पाशुपतदर्शन के अनुसार 3 ही तत्त्व हैं–पशु, पति और पाश। वैयाकरण लोग द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य–इन चार तत्त्वों के साथ शब्द ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक तत्त्व मानते हैं। अद्वैत वेदान्त में केवल एक ही पदार्थ (तत्त्व) है–ब्रह्म। अनादि अविद्या के कारण द्वैत परिकल्पित है। अतः दृक् और दृश्य के भेद से दो तत्त्व हैं। दृक् के 3 भेद हैं–ईश्वर, जीव और साक्षी। दृश्य का भी 3 भेद है– अव्याकृत, मूर्त और अमूर्त। इन सब का विचार इस ग्रन्थ में पूर्णरूप से किया गया है।

5. मोक्ष :– मोक्ष के विषय में भी दार्शनिकों में मतभेद हैं। चार्वाक ने देहनाश को ही मोक्ष माना है। शून्यवादी बौद्ध आत्मा के उच्छेद को मोक्ष मानते हैं। शेष बौद्ध निर्मल ज्ञान की उत्पत्ति को मोक्ष कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार कर्म से उत्पन्न आवरण के नाश से जीव का निरन्तर ऊपर उठना ही मोक्ष है। वैशेषिक का मत है कि आत्मा के समस्त विशेष गुणों का अभाव होना ही मोक्ष है। नैयायिक कहते हैं कि 21 प्रकार के दुःखों (6 ज्ञानेन्द्रिय, उनसे उत्पन्न 6 ज्ञान, उनके 6 विषय, सुख, दुःख और शरीर) की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष हैं। मीमांसकों के अनुसार विहित वैदिक कर्म के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना ही मोक्ष हैं। सांख्य दर्शन का मत है कि प्रकृति जब पूर्णतया उपरत हो जाय तब पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है। योगदर्शनकार के अनुसार चित्शक्ति का निरुपाधिकरूप से अपने आप में स्थित होना मोक्ष है। रामानुज संप्रदाय में ईश्वर के गुणों की प्राप्ति के साथ ईश्वर के स्वरूप का अनुभव होना मोक्ष है। माध्वमत में दुःख से भिन्न पूर्णसुख की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष अवस्था में जीव को ईश्वर के तीन गुण (सृष्टिकर्तृत्व, लक्ष्मीपतित्व, श्रीवत्स की प्राप्ति) को छोड़कर सब कुछ प्राप्त होता है। पाशुपत दर्शन में परमेश्वर (पति) बन जाना, शैव दर्शन में शिव हो जाना और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पूर्ण आत्मा की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। रसेश्वरदर्शन में रस के सेवन से देह का स्थिर हो जाना और जीते जी मुक्त होना मोक्ष है। वैयाकरणों का कहना है की मूलाधारचक्र में स्थित परा नामक ब्रह्मरुपिणी वाक् का दर्शन कर लेना ही मोक्ष है। अद्वैत वेदान्त में मूल अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अपने स्वरूप की अनुभूति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है।

यह ''सर्वदर्शनसार'' मेरे दस वर्षो के अध्यापन का परिणाम है। इस अवधि में विभिन्नस्थानों के मनीषियों, विद्वानों, जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं, विद्यार्थियों एवं शिष्यों से

इस कार्य में जो प्रेरणा मिलती रहती है वही मेरा सबसे बड़ा बल रहा है। विशेषतः IAS एवं PCS के छात्रों तथा मेरे अन्य समस्त दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों की जिज्ञासा के अनुसार इसे सरल, सुन्दर और सभी के उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है। फिर भी यदि दोष रह गये हों तो उनके लिये क्षमा चाहता हूँ।

ग्रन्थ के विषय के अनुरूप विशद भूमिका हमने नहीं लिखी है किन्तु प्रमुख दर्शनों के मूलभूत सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ के **प्रकाशक** श्री पी. वी. शंकर कुट्टी, भारतीय विद्या भवन, क. मा. मुन्शी मार्ग, मुंबई 7, एवं **आर्थिक सहयोग प्रदाता** श्री मोतीलाल भीमराज चैरिटी ट्रस्ट, ए 732, माडर्न सोसायटी, सैक्टर 15, रोहिणी, नई दिल्ली–85, का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। **प्रूफरीडिंग** में सहयोग दिये स्वामी सर्वेशानन्द सरस्वतीजी तथा श्री भास्करनाथ तिवारिजी को भूरिशः धन्यवाद देता हूँ। इनसे अतिरिक्त मेरे समुद्देश की सफलता में विभिन्न प्रकार से तत्पर होकर सहयोग प्रदान करनेवाले समस्त शुभाभिलाषियों को मैं हार्दिक अनन्त–अनन्त धन्यवाद देता हूँ।

यदि यह कृति पाठकों को थोड़ा भी ज्ञानवर्धन करने में उपयोगी हो तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

अपने इस कृति को परमपिता परमात्मा, माँ भगवती गंगा एवं सद्गुरुदेव परमहंस श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ।

विद्वच्चरणानुरागी
स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती

ऋषिकेश
गणेश चतुर्थी, सं 2057
ता. 2.9.2000

हरिः ऊँ तत्सत्

विषय सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
	भूमिका	i-vii
	विषय सूची	vii-ix
1.	विषय प्रवेशिका	1–9
2.	भारतीय दर्शनों की विशेषतायें	10–11
3.	भारतीय दर्शनों में ईश्वरविचार	12–16
4.	वेद और उपनिषद्	17–23
5.	श्रीमद्भगवद्गीता	24–33
6.	चार्वाक दर्शन	34–41
7.	बौद्ध दर्शन	42–71
8.	जैन दर्शन	72–85
9.	सांख्य दर्शन	86–95
10.	योग दर्शन	96–99
11.	वैशेषिक दर्शन	100–11
12.	न्याय दर्शन	112–122
13.	मीमांसा दर्शन	123–132
	वैष्णवसम्प्रदाय :–	
14.	रामानुज दर्शन	133–139
15.	माध्व (पूर्णप्रज्ञ) दर्शन	140–146
16.	निम्बार्क दर्शन	147–151
17.	वल्लभ दर्शन	152–155
18.	चैतन्यमहाप्रभु दर्शन	156–158
	शैवसम्प्रदाय :–	
19.	पाशुपत दर्शन	159–162
20.	शैवदर्शन	163–166
21.	कश्मीरी शैव (प्रत्यभिज्ञा) दर्शन	167–170
22.	रसेश्वर दर्शन	171–173

1. विषयप्रवेशिका [उपक्रम]

इस दृश्यरूपी जगत् में कुल 84 लाख प्रकार के जीवों के शरीर हैं। इस सम्बन्ध में बृहद्विष्णुपुराणादिग्रन्थों में कहा गया है-

जलजा नवलक्षाश्च दशलक्षाश्च पक्षिणः ।
कृमयो रुद्रलक्षाश्च विंशलक्षा गवादयः ॥
स्थावरास्त्रिंशल्लक्षाश्च चतुर्लक्षाश्च मानवः ।
पापपुण्यं समं कृत्वा नरयोनिषु जायते ॥

[नौ लाख जलचरों में, दस लाख पक्षिजाति में, ग्यारह लाख कृमि (कीट) जाति में, बीस लाख गो आदि पशुजाति में, तीस लाख पेड़-पौधा आदि जाति में, और चार लाख मानव जाति में होते हैं। इन 84 लाख योनियों में से मानव योनि में जन्म तब प्राप्त होता है जब पुण्य व पाप लगभग समान हों।]

इन समस्त प्रकार के जीवों में से मानव योनि में ही सर्वाधिक विकसित बुद्धि है। उन मानवयोनियों में से भी नरयोनि, जिनका पृथिवी पर जन्म होता है केवल उनमें विवेक द्वारा कर्मादि करने योग्य चिन्तनशील विशिष्ट बुद्धि है। मनुष्य की अपनी बौद्धिकता उसे अनेक प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिये बाध्य करती है। कुछ प्रश्न इस प्रकार के उपजते हैं:-

मैं कौन हूँ, मेरा जन्म क्यों हुआ, मैं कहाँ से आया, मेरा लक्ष्य क्या है, क्या

मेरा पूर्वजन्म था, क्या भविष्य में जन्म होगा, यह जन्म-मरण का चक्कर कब से है और कब तक रहेगा, क्या ऐसे दु:खमय जीवन का कोई अन्त है, इस जगत् का क्या स्वरूप है, इसके साथ मेरे क्या रिश्ते हैं, इसे किसने उत्पन्न किया, क्या ईश्वर है, यदि है तो उसका क्या स्वरूप है, जीव और ईश्वर का क्या सम्बन्ध है, क्या संसार चक्र से मुक्ति हो सकती है, इत्यादि। इन प्रश्नों से लगता है कि जीव, जगत् और ईश्वर ही विचार का विषय है। इस प्रकार विवेचन करना ही मनुष्य का स्वभाव है, जीवन के बाकी सामान्य क्रियाकलाप तो मनुष्य और पशुओं में समान हैं। जैसा कि कहा है-

'आहारनिद्राभयमैथुनञ्च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीना पशुभिः समाना ॥'

(हितो 1/23)

[आहार, निद्रा, भय और मैथुन (भोग क्रिया) ये सभी पशु और मनुष्यों में समान हैं, किन्तु मनुष्यों में ज्ञान (विवेकशक्ति) एक अधिक गुण है। अत: ज्ञानविहीन नर तो पशुतुल्य है।]

अतएव जीव, जगत्, ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। इस तरह के ज्ञान की चर्चा को ही दर्शन कहते हैं। यद्यपि दर्शन शब्द का अर्थ है-जिसके द्वारा देखा जाय तथापि केवल साधन व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्वीकार नहीं किया गया, अपितु दर्शन उस विद्या को कहा जाता है जिसके द्वारा तत्त्व साक्षात्कार हो अर्थात् पाश्चात्यदर्शनों के समान विज्ञान और तर्क के आधार पर केवल तत्त्व की बौद्धिक व्याख्या नहीं, बल्कि तत्त्व-अनुभूति प्राप्त करने की विद्या है। इसलिये 'फिलॉसोफी' दर्शन का पर्यायवाची शब्द नहीं हो सकता है।

समस्त भारतीय दर्शनों का लक्ष्य तत्त्वानुभूति होने के कारण इन दर्शनों का आधार मुख्य रूप से 'वेद' नाम का ग्रन्थ है जिसे कुछ लोग समाधिस्थ ऋषियों के हृदय में स्वत: प्रकट मानते हैं और कुछ लोग ईश्वर द्वारा मानव मात्र के हित के लिये उपदिष्ट मानते हैं । केवल चार्वाक दर्शन ही एक मात्र ऐसा दर्शन है जो केवल इन्द्रिय अनुभूति के आधार पर स्थापित है। यद्यपि कतिपय विद्वान बौद्ध और जैन को भी अवैदिक तथा नास्तिक मानते हैं तथापि उनका मूल स्रोत वेदों में परिदृष्ट है तथा स्मृतियों में बहुचर्चित है।

दर्शनों के आधारभूत वेद आदि कुल 18 शास्त्रीयग्रन्थ हैं। जैसे कि याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है-

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥'

(या.स्मृ. 1.3।)

[पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र इन चार उपाङ्गों एवं छह अंगों सहित चार वेद-धर्म और विद्याओं के कुल 14 स्थान बनते हैं। इन्हें चार उपवेद सहित 18 शास्त्र कहा जाता है।]

चार उपवेदों सहित 18 विद्यापरक ग्रन्थ हैं। इनके संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से हैं-

वेद-धर्मार्थकाममोक्ष का साधनभूत ग्रन्थविशेष है। अन्य समस्त शास्त्रों का मूलस्रोत है। इसका कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड के नाम से २ भाग किया जा सकता है। इन दोनों भागों से मिले हुए ग्रन्थ को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नाम से प्रयोजन भेद से विभक्त किया गया है। अथवा **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** (आप. श्रौ.सू.) के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण -ये वेद के दो भाग हैं, अन्य लोग वेद के चार भाग मानते हैं - संहिता (मंत्र), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इन को समझने तथा प्रयोग करने के लिये एक विशिष्ट पद्धति निर्धारित है। वेद के छह अंग, इस प्रकार हैं-

'वेदाङ्गानि षडेतानि शिक्षा व्याकरणं तथा ।
निरूक्तं ज्यौतिषं कल्पश्छन्दोविचितिरित्यपि ॥'

(ससिसं. 1.3)

[शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष्, कल्प और छन्द शास्त्र - ये छः वेद के अंङ्ग हैं।]

शिक्षा-वेदोच्चारण पद्धति का बोधक है ।

व्याकरण-वेदगत शब्दव्युत्पत्ति द्वारा अर्थ बोध कराता है।

निरूक्त-वैदिकशब्दों का अनेकार्थबोधक शब्दकोश है।

ज्योतिष्-वैदिककर्मानुष्ठानकाल निर्णायक शास्त्र है।

कल्प-वैदिककर्मों के अनुष्ठान क्रम का निर्णय बताता है ।

छन्दः-अक्षरों की मात्रा तथा संख्या द्वारा श्लोकों की लयबद्धता का वर्णन करता है।

वेदों के चार उपाङ्गों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है । वे चार हैं-पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र।

पुराणः-

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणम् पञ्चलक्षणम् ॥'

(वि.ध.पु.3.17.4)

[सृष्टि की प्रक्रिया, प्रलय की प्रक्रिया, प्रमुख वंशों का वर्णन, मन्वंतरों का वर्णन एवं विभिन्न वंशों में हुए विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र का वर्णन - ये पाँच जिस ग्रंथ में हों उसे पुराण कहते हैं।]

मुख्य 18 पुराण हैं, उपपुराण भी अनेक हैं। गौतम महर्षिजी ने पांच अध्यायों में **न्याय शास्त्र** का निर्माण किया है। **मीमांसा** शास्त्र दो हैं-जैमिनि महर्षि कृत कर्ममीमांसा के 12 अध्यायों में कर्म का पूर्ण विवेचन है तथा वेदव्यास कृत उत्तरमीमांसा के 4 अध्यायों में वेदान्तवाक्यार्थ निर्णय किया गया है। मनु याज्ञवल्क्यादि अनेकों ऋषियों द्वारा निर्मित स्मृति ग्रन्थों को **'धर्मशास्त्र'** कहा गया है। जैसे वेदों के 6 अंग और 4 उपांग हैं वैसे ही 4 उपवेद भी हैं। क्रम से वे हैं-आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र ।

अत: वेद-4, अङ्ग-6, उपाङ्ग-4 और उपवेद-4, कुल 18 विद्यायें ही मनुष्य के अपने लक्ष्यभूत तत्त्वानुभूति के लिए उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त-कपिलमुनि प्रणीत **सांख्यदर्शन** 6 अध्यायों में है, महर्षि पतञ्जलि द्वारा विरचित **योगदर्शन** 4 पादों में है और कणादप्रोक्त **वैशेषिक दर्शन** 10 अध्यायों में है। पूर्वोक्त न्याय, मीमांसा और वेदान्त सहित कुल छह दर्शन हुए जिन्हें आस्तिक दर्शन कहते हैं । लेकिन इनसे अतिरिक्त और भी अनेक आस्तिक दर्शन हैं जिनका इस ग्रन्थ में उल्लेख किया जायेगा। जैसे कि पशुपति द्वारा विरचित पञ्चाध्यायात्मक पाशुपत दर्शन, नारदमहर्षि द्वारा निर्मित तीन खण्डों में विभक्त भक्तिदर्शन (पाञ्चरात्र दर्शन) इत्यादि ।

इस सन्दर्भ में इन विशेष बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

उक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि - मानव मात्र के सर्वाङ्गीण तथा सर्वोन्मुख विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक आधारभूत ग्रन्थ वेद है। जिसके ये मुख्य भाग हैं- वेदांग, उपवेद, पुराण (और इतिहास), स्मृति, निबन्धग्रन्थ और आगम ।

1. <u>वेद</u> :- वेद एक है। महर्षि कृष्णद्वैपायन ने प्रयोजन भेद से वेद को चार भागों में विभक्त किया। अत: उन्हें वेदव्यास कहते हैं।

'निर्व्यास वेदान्यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः।'

[जिसलिये एक वेद का चार भागों में विस्तार किया इसलिये उन्हें व्यास कहा गया है।]

वे चार भागों में हैं - ऋग्, यजु, साम और अथर्व। प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ हैं।

(क) **शाखाएँ** :- ऋषियों ने अपने शिष्यों को सुविधानुसार वेद पढ़ाया। किसी ने एक छन्द के सभी मन्त्र एक साथ पढ़ाये। दूसरे ने एक देवता के सभी मन्त्र एक साथ पढ़ाये। तीसरे ने मन्त्रों को उनके विषय अथवा उपयोग के अनुसार पढ़ाया। इस प्रकार एक वेद की अनेक शाखाएँ हो गयीं।

ऋग्वेद की 21 शाखाएँ हैं। उनमें से केवल "शाकल" शाखा शुद्धरूप में प्राप्त है। यजुर्वेद के दो प्रकार के पाठ हैं - शुक्लयजुर्वेद तथा कृष्णयजुर्वेद। शुक्लयजुर्वेद की 15 तथा कृष्णयजुर्वेद की 86 शाखाएँ हैं। इनमें से शुक्लयजुर्वेद की "काण्व" तथा "माध्यन्दिनीय" शाखाएँ प्राप्त हैं। जबकि कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी, तैत्तिरीय, कठ, कापिष्ठल, और श्वेताश्वतर - ये 5 शाखाएँ प्राप्त हैं। सामवेद की 1000 शाखाओं का उल्लेख है किन्तु उनमें से केवल तीन प्राप्त हैं - कौथुमी, जैमिनीया और राणायनीया। अथर्ववेद की 58 शाखाएँ हैं। उनमें से पैप्पलादी और शौनकीया शाखाएँ शुद्धरूप में मिलती हैं।

(ख) **ब्राह्मणग्रन्थ** :- मन्त्रभाग (संहिताभाग) में कहे गए मन्त्रों का यज्ञ में कैसे उपयोग हो यह ब्राह्मणग्रन्थों में बतलाया गया है। इस समय उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है - ऋग्वेद के ऐतरेय और शांख्यायन (कौशीतकी) ब्राह्मणग्रन्थ। शुक्लयजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण। यह भी दो प्रकार का है- काण्वशाखा 17 काण्डों में है और माध्यन्दिनीय शाखा 14 काण्डों का है। कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय संहिता के मध्यवर्ती ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, मन्त्र, दैवताध्याय, वंश, संहितोपनिषद्, जैमिनीय और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण हैं। अथर्ववेद का गोपथ-ब्राह्मण है।

(ग) **आरण्यक और उपनिषद्** :- ब्राह्मण ग्रन्थों के उस भाग को आरण्यक कहते हैं जो भाग अरण्य में पढ़ने येग्य हैं। ब्राह्मण एवं मन्त्र (संहिता) ग्रन्थों के उस भाग को उपनिषद् कहते हैं जिसमें आत्मतत्त्व सम्बन्धी विज्ञान की चर्चा है। इस समय उपलब्ध उपनिषदों की संख्या लगभग 275 है, किन्तु 13 ही प्रमुख हैं। क्योंकि इन पर आचार्यों ने भाष्यादि लिखे हैं। वे इस प्रकार हैं - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर,

कौशीतकी और मैत्रायणी।

(घ) **श्रौतसूत्र** :- वेदार्थ के निर्णय में उपयोगी सूत्रग्रन्थ तीन प्रकार के हैं - श्रौत, गृह्य और धर्म। श्रौत्रसूत्रों में "कल्प" नामक वेदांग के कर्मकाण्ड सम्बन्धी अध्याय को स्पष्ट किया गया है। वर्तमान में उपलब्ध श्रौत्रसूत्रों का विवरण इस प्रकार है-

ऋग्वेद का आश्वलायन और शांख्यायन श्रौतसूत्र। शुक्लयजुर्वेद का कात्यायन श्रौतसूत्र। कृष्णयजुर्वेद का आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ़), बोधायन, भरद्वाज, वैखानस, बाधूल, मानव और वराह श्रौतसूत्र हैं।

गृह्यसूत्रों में भी वैदिक यज्ञादि तथा गृहस्थकर्मों के विधान का वर्णन है। जबकि धर्मसूत्रों में धर्माचार का वर्णन है। ये भी चारों वेदों के पृथक्-पृथक् हैं।

(ङ) **प्रातिशाख्यग्रन्थ** :- ये वैदिक व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इनके द्वारा भिन्न-भिन्न वेदों तथा एक ही वेद के अनेक तरह से स्वरों के उच्चारण, पदों के क्रम और विच्छेद आदि का निर्णय होता है। वर्तमान में ये चारों वेदों के उपलब्ध हैं।

(च) **अनुक्रमणी** :- वेदों की रक्षा तथा वेदार्थ का विवेचन 'अनुक्रमणी' ग्रन्थ का विषय है। ये इस प्रकार हैं -ऋग्वेद के आर्ष, छन्द:, देवता अनुवाक, सर्व, बृहद्दैवत, ऋगविज्ञान, शांख्यायनपरिशिष्ट, आश्वलायन परिशिष्ट और ऋक्प्रातिशाख्य। शुक्लयजुर्वेद के प्रातिशाख्यसूत्र और कात्यायनानुक्रमणी। कृष्णयजुर्वेद के आत्रेय, चारायणीय और तैत्तरीयानुक्रमणी।

2. **वेदांग** :- यद्यपि अत्यन्त संक्षेप में इनका परिचय पहले ही कराया गया है तथापि इन पर कुछ विशेष विचार किया जा रहा है।

(क) **शिक्षा** :- शिक्षा ग्रन्थ में मन्त्र के स्वर, अक्षर, मात्रा तथा उच्चारण का विवेचन है। ऋग्वेद की पाणिनीय शिक्षा, शुक्लयजुर्वेद के याज्ञवल्क्य आदि 25 शिक्षा ग्रन्थ हैं। सामवेद की गौतमी, लोमशी और नारदीय शिक्षा। कृष्णयजुर्वेद की व्यीस शिक्षा एवं अथर्ववेद का माण्डूकी शिक्षा है।

(ख) **व्याकरण** :- यह भाषा में प्रयुक्त शब्दों पर अनुशासन (नियम) को निश्चित करता है। फलत: भाषा की विकृति को रोकता है। इससे शब्दों, उनके रूपों व प्रयोगों आदि का सही ज्ञान होता है। यद्यपि शाकटायनसूत्र एवं पाणिनीय सूत्र यजुर्वेद से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं तथापि पाणिनीय व्याकरण लौकिकी एवं वैदिकी भाषा दोनों के नियमन करने में उपयोगी है। पाणिनीय व्याकरण पर कात्यायन महर्षि का वार्तिकग्रन्थ एवं पतञ्जलि महर्षि के 'महाभाष्य' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त सारस्वत, कामधेनु, हेमचन्द्र, प्राकृत, कलप, मुग्धबोध आदि नाम से बहुत से व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुए।

(ग) **निरुक्त** :- वैदिक शब्दों की व्याख्या पद्धति बतलाने वाला ग्रन्थ 'निरुक्त' है। यह वैदिक शब्दकोश है। यद्यपि प्राचीन निरुक्त ग्रन्थ लुप्त है तथापि यास्काचार्यकृत निरुक्त वर्तमान में उपलब्ध है। इससे अतिरिक्त काश्यप, शाकपूति आदि के निरुक्तग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

(घ) **छन्द** :- अक्षरों की मात्रा तथा संख्या द्वारा श्लोकों की लयबद्धता के वर्णनपरक ग्रन्थ को 'छन्द' शास्त्र कहते हैं। वर्तमान में गार्ग्यप्रोक्त -उपनिदानसूत्र (सामवेदीय), पिंगलनागप्रोक्त -छन्द:सूत्र, वेङूकमाधवकृत - छन्दोऽनुक्रमणी और जयदेवकृत छन्द:सूत्र प्रसिद्ध हैं।

लौकिक छन्दों पर हलायुधवृत्ति:, छन्दोमञ्जरी, वृत्त रत्नाकर, श्रुतमेधा, जनाश्रयी, छन्दोविचिति, आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

(ङ) **कल्प और ज्योतिष** :-कल्पसूत्रों में यज्ञों की विधि का वर्णन है। ज्योतिष शास्त्र में ग्रह-नक्षत्रों की गति, स्थिति आदि का विचार तथा उनके शुभाशुभ फल बताने की प्रक्रिया का वर्णन है। इसके अतिरिक्त ज्योतिष का मुख्य प्रयोजन संस्कार तथा यज्ञों के लिये मुहूर्त बतलाना और यज्ञ स्थल, मण्डप आदि का माप बतलाना है। वर्तमान में इसके अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

3. **उपवेद** :- प्रत्येक वेद का एक उपवेद है, यथा ऋग्वेद का अर्थशास्त्र, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का आयुर्वेद है।

(क) **अर्थशास्त्र** : - इसमें आर्थिक विषयों व अर्थ से संबन्धित विषयों की व्याख्या है। वर्तमान में भट्ट का 'नीतिवाक्यामृतसूत्र', चाणक्यसूत्र, कामन्दक, शुक्रनीति आदि ग्रन्थ भी हैं।

(ख) **धनुर्वेद** :- इसमें शस्त्रों एवं अस्त्रों के निर्माण तथा प्रयोगपद्धति का वर्णन है। इसके वैशम्पायन कृत धनुर्वेद (वैशम्पायन नीतिप्रकाशिका), युक्ति कल्पतरु, समरांगण सूत्रधार, आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

(ग) **गन्धर्ववेद** :- इसमें नृत्य एवं गायन का वर्णन है। अत: राग, ताल, स्वर, वाद्य आदि के भेद-उपभेदों का वर्णन संगीतशास्त्र में है, जबकि नृत्य के भेद उप-भेदों का वर्णन नाट्यशास्त्र में है। भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र', शारंगदेव का 'संगीत रत्नाकर', दामोदराचार्य कृत 'संगीत दर्पण' आदि अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं।

(घ) **आयुर्वेद** :- इसमें शरीर की संरचना; रोग के कारण, लक्षण,

औषधि, चिकित्सा आदि का वर्णन किया गया है। इसके प्राचीन गन्थों में मुख्य हैं- अश्विनीकुमारसंहिता, ब्रह्मसंहिता, मलसंहिता, चरकसंहिता, इत्यादि। इनसे अतिरिक्त धन्वंतरिसूत्र, जाबालिसूत्र, अष्टांगहृदय, सुपाशास्त्र आदि उल्लेखनीय हैं।

4. **उपांग** :- यद्यपि इतिहास और पुराण - ये दो ही उपांग हैं तथापि कुछ विद्वान न्याय और मीमांसा से उपलक्षित सभी दर्शन एवं धर्मशास्त्र से लक्षित स्मृतियों को लेकर वेद के 4 उपांग मानते हैं। इतिहास और पुराण में वेदार्थ का पूर्णविवेचन है।

(क) **इतिहास** :- महर्षि बाल्मीकि का रामायण और वेदव्यास का महाभारत-ये दो महाकाव्यात्मक इतिहास ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अध्यात्मरामायण आदि अनेक इतिहास ग्रन्थ हैं।

(ख) **पुराण** :- पूर्व बताये लक्षण के अनुसार सृष्टि की रचना व प्रलय प्रक्रिया, सूर्य-चन्द्र आदि वंशों, मन्वंतरों, वंशों के विशिष्ट पुरुषों के चरित्र के वर्णन द्वारा पुराणों में वेदार्थ का रहस्य प्रकट किया गया है। पुराण 4 प्रकार के हैं - महापुराण, पुराण, अतिपुराण और उपपुराण। इनमें से प्रत्येक की संख्या 18 बतायी गयी है। लेकिन सामान्यत: महापुराण को ही "पुराण" नाम से जाना जाता है। इन महापुराणों के नाम इस प्रकार हैं - ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमदभागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ एवं ब्रह्माण्ड पुराण।

(ग) **दर्शन** :- दर्शनशास्त्रों में जीव, जगत्, ईश्वर आदि तत्त्वों, प्रमाणों एवं प्रमीतियों का विशद विवेचन किया गया है। मुख्य दर्शन छ: हैं - सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदांत), शेष गौण दर्शन हैं। आगे सबका विचार किया गया है।

(घ) **स्मृति** : - (धर्मशास्त्र) मानवधर्म व मानव समाज का संचालन स्मृतियों द्वारा ही होता है। स्मृति ग्रन्थों में वेदों में कहे गए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चारों पुरुषार्थों का ही विवेचन है। अत: इन में वर्णव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, वर्ण और आश्रम के धर्म, नैमित्तिक कर्म, प्रायश्चित, दण्डव्यवस्था, शासन विधान तथा मोक्ष के साधनों का वर्णन है।

वर्तमान में सौ से अधिक स्मृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से प्रमुख हैं - मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम, वसिष्ठ, प्रजापति, नारद इत्यादि।

5. **निबंधग्रन्थ** :- ये मध्यकाल में विरचित स्वतंत्र ग्रन्थ हैं। ये भी एक

प्रकार के स्मृति ग्रन्थ ही हैं। स्मृति, पुराण इत्यादि में कहे धर्माचरणों का इनमें विस्तार से संकलन किया गया है। तथा उन निर्देशों में जो परस्पर मतभेद दिखाई देते हैं अथवा जो बातें स्पष्ट नहीं है, उनका स्पष्टीकरण, एकीकरण व अविरोध की स्थापना निबंधकारों ने किया है। अत: इन ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक प्रमाण देकर विषय का विवेचन किया गया है। इसलिये ये ग्रन्थ स्मृति के समान प्रामाणिक हैं।

वेद से लेकर निंबधग्रथों तक वाङ्ममय का नाम **'निगम'** है।

6. **आगम :-** निगम के समान आगम ग्रन्थ की भी अनादि परंपरा है। आगम के दो भाग हैं। दक्षिणागम (समयमत) और वामागम (कौलमत)। सनातन धर्म में निगम एवं दक्षिणागम को प्रमाण माना जाता है, वामागम को प्रमाण नहीं माना गया। आगम शास्त्रों का विषय है- उपासना। अत: इनके मूल श्रुतियों में हैं और पुराणों में इसका विस्तार है। देवता का स्वरूप, गुण, कर्म, उसके मंत्र तथा उनका उच्चारण, ध्यान पूजा विधि आदि का विवेचन आगम ग्रन्थों में होता है। दक्षिणागम पुन: तीन भागों में विभक्त है- वैष्णवागम, शैवागम और शाक्तागम।

(क) **वैष्णवागम :-** वैष्णवागम में पांचरात्र तथा वैखानस आगम-ये दो प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं। विष्णु भगवान् व उनके अवतार ही वैष्णवागम में उपास्य हैं। अत: विष्णु भगवान् व उनके अवतारों के स्वरूप आदि का विवेचन इनमें है।

(ख) **शैवागम :-** भगवान् शिव के मुख से 28 तन्त्र प्रकट हुए थे। उपतन्त्रों को मिलाकर उनकी संख्या कुल 208 होती है। लेकिन इनमें से 64 को मुख्य माना गया है किन्तु ये सभी उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान में उपलब्ध शैवागम के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं - पाशुपतसूत्र, नरेश्वरपरीक्षा, तत्त्वसंग्रह:, भोग कारिका, मोक्ष कारिका, परमोक्षनिराशकारिका, श्रुतिसूक्तिमाला, चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रह: तत्त्वप्रकाशिका, सूतसंहिता, नारदकारिका और रत्नत्रय।

(ग) **शाक्तागम :-** यह तीन प्रकार का है। सात्त्विक को तन्त्र या आगम, राजसिक को यामल तथा तामसिक को डामर कहा जाता है। सृष्टि के प्रारंभ से ही सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक -तीनों स्वभाव के प्राणी रहे हैं। अत: तीनों प्रकार के मनुष्यों को भी उन्नति के लिये साधन मिलना ही चाहिये। इसलिये शाक्तागम में तीनों प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

शाक्तागम में भी 64 ग्रन्थ मुख्य हैं। 'शारदातिलक' में तान्त्रिक रहस्यों का विस्तृत संग्रह है। 'मंत्रमहार्णव' तो तंत्र का विश्वकोष है। वर्तमान में तीस से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इस प्रकार सनातनधर्म के आधारभूत शास्त्रों का संक्षित परिचय समाप्त हुआ।

2. भारतीय दर्शनों की विशेषतायें

भारतीय दर्शनों में अध्यात्मवाद को प्रधानता दी गई है न कि भौतिकवाद को। इन दर्शनों में जीवन के सभी प्रकार की समस्याओं पर एक ही साथ विचार किया गया है, अर्थात् संश्लेषणात्मक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से विचार किया है। भारतीय दर्शन अनुभूति पर आधारित होने के कारण अत्यन्त व्यावहारिक है। आश्चर्य एवं उत्सुकता पर आधारित नहीं है। भारतीय दर्शनों का चरम उद्देश्य केवल शाब्दिक ज्ञान को प्राप्त करना नहीं, अपितु जीवन का चरम उद्देश्य परम शान्तिरूपी मोक्ष को प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन जीवन और जगत् को दु:खात्मक तथा अभावात्मक दृष्टिकोण से देखता है। अधिकतर भारतीय दर्शनों में इस लोक से पृथक् परलोक की सत्ता को स्वीकारा गया है, लेकिन समस्त संसार को दु:खमय माना गया है। भारत में दर्शनों के विकास का मूलकारण ही आध्यात्मिक असन्तोष है । समस्त दु:खों के निवारण के लिये ही, चार्वाकदर्शन को छोड़कर, प्रत्येक दार्शनिक ने सन्तोष, पूर्णसुख एवं आनन्दरूप आत्मा की सत्ता में ही विश्वास किया है। प्राय: सभी भारतीय दर्शनों में कर्म सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसलिये सभी ने पुनर्जन्म में विश्वास किया है। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में इस संसार-चक्र का मूल कारण अज्ञान ही माना है और अज्ञान की निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञान से नहीं अपितु अभ्यास द्वारा तत्त्वानुभूति से है। इसके लिये इस

विश्व को एक नैतिक रंगमंच मानकर इन्द्रियनिग्रह, तप आदि साधनों द्वारा आत्मसंयम करने पर जोर दिया गया है। धर्म और दर्शन का परस्पर समन्वय भारतीय दर्शनों की मुख्य विशेषता है। इसकेलिये ही प्रमाणविज्ञान को भारतीय दर्शनों के प्रधान अङ्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। शेष प्रमेयविज्ञानादि गौण अङ्ग हैं। प्रमाणों से भूत और भविष्यत् की सिद्धि द्वारा अंधिकतर दर्शनों में जगत् की सत्यता को स्वीकार किया गया है। अतएव ईश्वर को भी सिद्ध किया है। भारत में दर्शनों के प्रादुर्भाव को चार कालों में विभक्त किया जा सकता है-1. वैदिक काल 2. महाकाव्य काल 3. सूत्र काल 4. वर्तमान तथा समसामयिक काल। वैदिक काल में वेद और उपनिषदों का पूर्ण विकास हुआ। तदनन्तर रामायण, महाभारत तथा पुराणों का, जो महाकाव्य माने गये हैं, उनका विकास हुआ। तत्पश्चात् न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्तादि सूत्र साहित्य का निर्माण एवं विकास हुआ। वर्तमान एवं समसामयिक काल में पूर्व तीन कालों में विकसित शास्त्रों को पुनर्जीवित करने के लिए नये ढंग से प्रस्तुत किया गया तथा नये सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। इस विकास की गति में भी पूर्व-पूर्व सम्प्रदाय एवं दर्शनों को मिटाते हुए उत्तरोत्तर सम्प्रदाय एवं दर्शनों का विकास नहीं हुआ, इसलिये आज भी इन समस्त दर्शनों के अनुयायी हैं और सभी दर्शन एक साथ जीवित हैं और विकासशील भी हैं। इसका कारण यह है कि भारत में दर्शन जीवन का एक अंग है, न कि जीवन के प्रति एक दृष्टि। इसलिये वंशपरम्परा के साथ-साथ सम्प्रदायों एवं दर्शनों की परम्परा भी जीवित है। भारत के विचारकों एवं समाजसुधारकों के विचार स्वातन्त्र्य रूपी गुण ही अनेक **दर्शन**, सम्प्रदाय एवं पन्थादि के जन्म, विकास तथा स्थिति का कारण है। यद्यपि प्रत्येक पन्थ एवं सम्प्रदाय के अनुयायियों में कट्टरता स्पष्ट झलकती है तथापि वैदिक सनातन धर्मावलम्बियों के विशाल हृदय में व्याप्त सहिष्णुता एवं विश्वबन्धुत्व के प्रति निर्विरोध ही अनेकता में एकता तथा सभी की स्थिति एवं विकास का कारण है।

卐

3. भारतीय दर्शनों में ईश्वरविचार

भारतीय दर्शन पर धर्म की अमिट छाप है इसलिये ईश्वर का विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समस्त वेदों को दो भाग कर व्यवहार किया जाता है । कर्म एवं कर्मसापेक्ष उपासनाओं का एक भाग -जिसे वेद शब्द से और कर्मनिरपेक्ष उपासना तथा ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् शब्द से, जिन्हें क्रमशः याज्ञिक तथा दार्शनिक कहा गया है। तदनुसार ईश्वर सम्बन्धी विचारों को भी दोनों में पृथक्-पृथक् विवेचित किया जायेगा। सर्वप्रथम वेदों में एक ही ईश्वर को अनेक नामों से देवताओं के रूप में आराधना का विषय माना गया है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है-

'एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

(ऋ. 1.64.46)

[सद् एक होते हुए भी विद्वान उसे बहुत प्रकार का कहते हैं]

देवताओं की संख्या में एक से तीन, तीन से 33, और 33 से 33 कोटि तक की अभिवृद्धि क्रम मानते हैं। इनके दो भेद हैं। एक वे जो पूर्व कल्पों में कृत पुण्य के आधार पर इस कल्प की सृष्टि के आदि में जन्म लेते हैं। उन्हें **आजानज देवता** कहते हैं। दूसरे वे जो इसी कल्प में जन्म लेकर अतिशय पुण्य करके देवत्व को प्राप्त होते हैं। उन्हें **कर्म-देवता** कहते हैं। सब देवताओं का अपने-अपने कर्त्तव्य के आधार पर पृथक् सत्ता होने पर भी बहुदेववाद में अनेकेश्वरवाद के

समान अत्यन्त स्वातन्त्र्यता, भिन्नता आदि दोष नहीं हैं । अत: वेद में मुख्य रूप से एकेश्वरवाद और गौण रूप से अस्वतन्त्र अनेकेश्वरवाद स्वीकार किया गया है। किन्तु **उपनिषदों** में ईश्वर को अत्यन्त गौण एवं व्यावहारिक मात्र स्वीकार किया गया है। यद्यपि ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त और किसी की भी सत्ता को नकारा गया है

'नेति नेति'

(बृ.उ. 2.3.6)

[नहीं है, नहीं है]

इस मन्त्र में तथापि औपाधिक ईश्वर का वर्णन किया है।

जैसे-

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'

(श्वे. 4.10)

[माया को प्रकृति जानो और मायावी को महेश्वर समझो।]

ईश्वर को अन्तर्यामी ब्राह्मण में विश्वव्यापी तथा विश्वातीत सिद्ध किया है-

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यँ सर्वाणि
भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि
भूतान्यन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्यामि'

(बृ.उ. 3.7.15)

[जो सभी भूतों में रहते हुए सभी के भीतर है (सूक्ष्मरूप से है)। जिसे सभी भूत नहीं जानते, सभी भूत जिसके शरीर है, जो सभी भूतों को भीतर से नियंत्रण करता है, वही तुम्हारी अन्तर्यामी आत्मा है।]

उपनिषदों के सारभूत ग्रन्थ भगवद्गीता में तो विश्वरूपदर्शनयोग नामक 11 वें अध्याय में औपाधिक सर्वेश्वरवाद स्पष्ट ही है। वास्तव में एकेश्वरवाद को भी औपाधिक ही स्वीकार किया है-

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम् ।।'

(गीता 10.41)

[जो जो ऐश्वर्यवाला है, सत्त्व है, धनी है, बलवान है, उन सबको मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हैं, ऐसा तुम समझो।]

चार्वाक दर्शन तो अत्यन्त निरीश्वरवादी है । इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रामाणिक मानता हैं। अतएव इन्द्रियों द्वारा घटादि के समान प्रत्यक्ष न होने से ईश्वर की कल्पना

भी असम्भव मानता है।

बौद्ध दर्शन में भी यद्यपि अनीश्वरवाद को सैद्धान्तिक रूप से माना गया है क्योंकि **'आत्मदीपो भव'** का उपदेश दिया है तथापि व्यावहारिक रूप में ईश्वर का विचार किया है। महायान सम्प्रदाय में बुद्ध को ईश्वर स्वीकार किया गया है किन्तु हीनयान सम्प्रदाय तो चार्वाक के समान अत्यन्त निरीश्वरवादी है।

जैन दर्शन में ईश्वर का खण्डन जोरदार ढंग से किया है और अनीश्वरवाद को अपनाया है। फिर भी ईश्वर के स्थान पर तीर्थङ्करों को मान कर परोक्षरूप से यह ईश्वरवादी और सैद्धान्तिकरूप से अनीश्वरवादी है। जैनदर्शन में पञ्चपरमेष्टि को माना है। वे हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुजैन। इस तरह यद्यपि परोक्षरूप से ईश्वर को माना है तथापि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह निरीश्वरवादी है।

न्याय दर्शन ईश्वरवादी है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाणों का आश्रय लिया है। उनमें से कुछ ऐसे हैं-1. कारणाश्रित अनुमान, 2. कर्मफलदातृत्वानुमान, 3. वेदकर्तृत्वहेतुकानुमान, 4. धृति इत्यादि। ईश्वर नित्य है और उसके ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा भी नित्य हैं। ईश्वर का अवतार भी स्वीकार करते हैं-

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥'

(गीता 4.7)

[जब जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ।]

ईश्वर को अनन्त शक्तिमान्, दयालु, व्यक्तित्वपूर्ण, नित्य मुक्त एवं ज्ञान, सत्ता और आनन्द से पूर्ण मानते हैं।

वैशेषिक दर्शन भी ईश्वरवादी है किन्तु वे जीवात्मा और परमात्मा के रूप में आत्मा के दो भेद मानते हैं। ईश्वर को एक, व्यापक और विश्व का स्रष्टा, पालक एवं संहारक मानते हैं। अनेकों अनुमान द्वारा ईश्वर को सिद्ध किया गया है क्योंकि वैशेषिक उपमान और शब्द (आगम) आदि प्रमाणों को नहीं मानते हैं।

सांख्य दर्शन में एक सूत्र है-

'ईश्वरासिद्धेः'

(सां.सू. 1.92)

[ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।]

इस सूत्र की व्याख्याभेद के कारण विज्ञानभिक्षु आदि कुछ लोगों ने सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध किया है लेकिन मुख्य रूप से अधिकांश टीकाकारों ने सांख्य को निरीश्वरवादी माना है। दो मुख्य युक्तियों से ईश्वर को असिद्ध किया है। वे निम्न प्रकार से हैं-

1. विश्व का कारण सत्कार्यवाद स्वीकार करने से, कोई नित्य परिवर्तनशील होना चाहिये अतएव प्रकृति ही कारण हो सकती है, ईश्वर नहीं। 2. कर्मफलदातृत्व और प्रेरकत्ववाद मानने पर जीव के स्वातन्त्र्य, अमरत्वादि सिद्ध नहीं होंगें तथा अंश मानने पर ईश्वरीय शक्ति स्वीकार करनी पड़ेगी जो कि असम्भव है। निष्प्रयोजन ईश्वर को स्वीकार करना व्यर्थ है। इस प्रकार सांख्य अनीश्वरवादी है।

<u>योगदर्शन</u> ने ईश्वर को स्वीकार किया है और अनेक युक्तियों से सिद्ध भी किया है। सृष्टि आदि के निरन्तर बने रहने का कारण ईश्वर है और वह सर्वज्ञ तथा नित्यमुक्त है।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

(यो.सू. 1.24)

[क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय (वासना) से अपरामृष्ट (सर्वथा असंस्पृष्ट) पुरुष विशेष ईश्वर है।]

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'

(यो.सू. 1.26)

[ईश्वर गुरुओं का गुरु है, क्योंकि काल से परिच्छिन्न नहीं है।]

इसी कारण योगदर्शन को सेश्वरसांख्य भी कहते हैं। वेदरूपी आगम प्रमाण को ईश्वर सिद्धि के लिये माना है।

<u>मीमांसा दर्शन</u> में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि उनका मानना है कि सृष्टि एवं कर्मफल प्रदान करने के लिए ईश्वर को स्वीकारना भ्रामक है। यज्ञ में मन्त्रात्मक देवताओं को ही द्रव्यादियों की आहुति देकर जीव अपने अन्तःकरण में अदृष्ट (पुण्य-पाप) उत्पन्न कर लेता है जो उसे समय पाकर फल देता है। कुमारिलभट्टजी ने अपने श्लोकवार्तिक में कहा है-

'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता ।
फलदातृत्वञ्चेत्येते विग्रहादि पञ्चकम् ॥'

(मी. श्लो. 9.1.5)

[देवता का विग्रह (शरीर), द्रव्य पदार्थो का भोग, उसका ऐश्वर्य, उसकी प्रसन्नता तथा फलदातृत्व - ये पाँच को मानने की आवश्यकता नहीं।]

<u>वेदान्तदर्शन</u> में आचार्य शंकर ने अपने प्रस्थानत्रयी भाष्य में ईश्वर को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य एवं पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या माना है। औपाधिक ईश्वर के अस्तित्व को श्रुति द्वारा प्रमाणित किया है। अतएव ईश्वर को मायोपहित, विश्वव्यापी, विश्वातीत, व्यक्तित्वपूर्ण, कर्माध्यक्ष, कर्मफलदातृत्व, इत्यादि अनेक गुणों से सम्पन्न मानते हैं। यह आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त का मत है किन्तु रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर और ब्रह्म को अभिन्न माना है। अत: निर्गुण निराकार ब्रह्म को वे स्वीकार नहीं करते हैं अपितु सगुण साकार को ही सिद्ध किया है।

卐

4. वेद और उपनिषद्

वेद विश्वसाहित्य की सबसे प्राचीनतम अनुपेम रचना है। वैदिक सनातन धर्म की परम्परा के अनुसार यह किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। अपितु सृष्टि के आदि काल में जब कुछ भी नहीं था तब केवल चेतन, जल (कर्मवासना) और अन्धकार (अज्ञान) था। जीवों के कर्मानुसार सृष्टि होने के लिये उस चेतन में अपने आप हिरण्यगर्भ (ब्रह्माजी) उत्पन्न हुए और उन्होंने तप किया, तब हृदय में वेद प्रकट हुआ और तदनुसार उन्होंने सृष्टि की–यह एक मत है वेद एवं पुराणों के अनुसार। इस विषय में ये प्रमाण हैं -

'गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात्'

(भाग. 3.8.13)

[काल से प्रेरित होकर गुणो से बींधा हुआ सृष्टि की उत्पत्ति के लिये नाभि देश से वह (कमल) उत्पन्न हुआ।]

प्रश्न उठता है कि जब कुछ नहीं था तो नाभि आदि कहाँ से आयी तो जवाब है कि-

'स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ॥'

(भाग. 3.8.14)

[जीवों के कर्म से उत्प्रेरित होकर उचित काल में एक साथ (झटिति) वह पद्मकोष नाभिकमल उत्पन्न हुआ।]

'तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्राविशत् सर्वगुणावभासम् ।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयंभुवं यं स्म वदन्ति ॥'

(भाग. 3.8.15)

[वह व्यापक भगवान् विष्णु उस सर्वगुणावभास सर्वलोकात्मक नाभि कमल में प्रवेश किया और उस पर स्वयं वेदमय विधाता के रूप में प्रकट हुए। जिसे लोग स्वयंभू ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ कहते हैं।]

'विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः ॥'

(भाग. 3.10.4)

[वह विरिञ्चि- ब्रह्मा ने उस भगवान् अज - व्यापक विष्णु के आदेशानुसार अपने को अपने में प्रविष्ट कर (ध्यानमग्न होकर) एक सौ दिव्य वर्ष तप किया।]

'ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान्वेदान्पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शस्त्रमिज्यं स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितं व्यधात्क्रमात् ॥'

(भाग. 3.12.37)

[तप करने के फलस्वरूप उन्होंने अपने पूर्वादि चार दिशाओं में स्थित चार मुखों से क्रमशः शस्त्रमय (जिन स्तोत्रों को गद्य जैसे पढ़ा जाता है, गायन नहीं किया जाता है, उन्हें शस्त्र कहते हैं,) ऋग्वेद, याग विधानमय यजुर्वेद, स्तुतिस्तोममय सामवेद और प्रायश्चितादिमय अथर्ववेद को उत्पन्न किया।]

'आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः।
स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखै :॥
इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥

(भाग. 3.12.37)

[इस ईश्वर ने अपने पूर्वादिमुखों से पुनः क्रमशः स्थापत्यवेद=अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और आयुर्वेद की रचना की। और पञ्चम वेद-व्याकरण, इतिहास, पुराण तथा सभी दर्शनों की सृष्टि सभी मुखों से की।]

दूसरा प्रसिद्ध एवं अत्यन्त प्रचलित मत यह है कि सत्ययुग के आदि में उत्पन्न उत्कृष्ट बुद्धि वाले मनुष्यों ने भौतिक सम्पदाओं के उपभोग से असन्तुष्ट होकर अपने जीवन के लक्ष्य एवं कर्त्तव्य को जानने के लिये तप किया। तब उनके हृदय में वेद के मन्त्र प्रकट हुए। इसलिये उन्हें 'ऋषि' कहते हैं-

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'

[ऋषि मंत्र के द्रष्टा हैं (कर्ता नहीं)।]

ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है। ऋषि-गणों ने अपने पुत्र एवं जिज्ञासुओं को अपनी तपस्या से प्राप्त उस दिव्य ज्ञान को सुनाया-इसलिये इसका नाम 'श्रुति' है। इस तरह अनेक ऋषियों की परम्परा चली। पौराणिक मान्यता है कि वेदव्यासजी-श्री कृष्णद्वैपायन नाम से प्रसिद्ध महर्षि ने जीवों पर कृपा कर उन समस्त मन्त्रों को संग्रह कर कर्मों के अनुष्ठान के अनुकूल चार भागों में विभक्त किया। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में लिखा है-

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'

(आप.श्रौ.सू.)

[मंत्र और ब्राह्मण नाम से कथित दो भागों का समूह वेद है।]

इससे सिद्ध होता है कि वेद एक है और उसे वेदव्यासजी ने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नाम से चार भागों में संग्रह किया। कहा है भागवत में-

'तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥'

(भाग. 1.4.21.)

'अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ।'

(भाग. 1.4.22)

'द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥'

(भाग. 1.4.14)

'चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।
व्यदधाद् यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधं ॥'

(भाग. 1.4.19)

[ऋग्वेद के आचार्य पैल, सामवेद के विद्वान जैमिनि एवं यजुर्वेद के एकमात्र स्नातक वैशम्पायन हुए। अथर्ववेद में प्रवीण हुए दरुणनन्दन सुमन्तु मुनि, इतिहास और पुराणों के आचार्य हैं महर्षि रोमहर्षण। इस वर्तमान चतुर्युगी के तीसरे युग द्वापर में महर्षि पराशर से उत्पन्न भगवान् के कलावतार योगिराज व्यासजी का जन्म हुआ। प्रजाओं के हृदय को शुद्ध करने वाले वैदिक चतुर्होत्र कर्मों के विस्तार करने के लिए तथा यज्ञ परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उन्होंने एक वेद

को चार भागों में विभक्त किया।]

ऋग्वेद स्तुतिसंग्रह प्रधान है, यजुर्वेद कर्म विधिप्रधान, सामवेद संगीतप्रधान और अथर्ववेद प्रायश्चित, गाथा, तन्त्र, मन्त्रादि प्रधान है। प्रत्येक वेद पुनः चार भागों में विभक्त है-संहिता (मन्त्र), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। ये विभाग प्रायः आश्रम व्यवस्था के अनुरूप हैं। उपनिषद् भाग को छोड़कर शेष वेद भाग में जो दार्शनिक विचार हैं अब यहाँ **'वैदिकदर्शन'** नाम से उनकी चर्चा करेंगे। वैदिक दर्शन अत्यन्त आस्तिक दर्शन है क्योंकि यह लौकिक और अलौकिक समस्त विषयों के ज्ञान का भण्डार है। इसलिये ठीक से वेदों के समझे बिना भारतीय दर्शनों को समझना असम्भव है। वेदों में मनुष्य के लक्ष्य एवं आनुशासनिक नीतिपूर्ण हिंतकारी प्रवृत्तियों की विस्तृत चर्चा है। ऋषियों में इस जगत् की वास्तविक स्वरूप को खोज करने की इच्छा एवं परम सत्य के ज्ञान के लिये प्रयास निरन्तर बना रहा। उन्हें अपनी अनुभूति से जो ज्ञात हुआ उसे उन्होंने ऋचाओं के रूप में प्रकट किया। इसलिये वैदिक दर्शन के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति के लिये यज्ञ, दान, तप आदि द्वारा अन्तःकरण शुद्धि करके ज्ञानाभ्यास से लक्ष्यानुभूति का मार्ग इसमें दर्शाया गया है। जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया का अनेकों प्रकार से कथन करके मिथ्यात्व को ही सिद्ध किया है। जैसे-

'सदेवेदमग्र आसीत्, असदेवेदेमग्र आसीत्,

(छांदो 6.2.1)

नसदासीद् नोसदासीत् तदानीम्

(ऋ. 10/11/129)

तेजसाऽभवत् सर्वं, सोमाद् पृथिवी तत आकाशः,' इत्यादि

[सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व यह व्याकृत जगत् सत् ही था, सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व यह व्याकृत जगत् असत् ही था, उस समय न सत् ही था न असत् ही था, तेज से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ, सोम से पृथिवी व्याप्त थी और पृथिवी से आकाश, इत्यादि परस्पर विरोधी श्रुतियाँ हैं।]

वैदिक दर्शन में प्राकृतनियम ऋत को तथा कर्मसिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यद्यपि पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक एवं मूर्तिपूजा के बारे में अस्पष्ट विचार हैं तथापि स्वर्गादिफल के साधन यज्ञादि के विधान द्वारा उनका समर्थन करते हुए परोक्षरूप से उन्हें स्वीकार किया है। वेदों में एकेश्वरवाद को माना है-

एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

(ऋ. 1.64.46)

[एक होते हुए भी विद्वान् उसे बहुत प्रकार का कहते हैं। जैसे कि-अग्नि, यम, वायु, इत्यादि।]

लेकिन कुछ लोग वेद में वर्णित अनेक देवी-देवताओं को देखकर वैदिक दर्शन को अनेकेश्वरवादी मानते हैं-उनकी मान्यता भ्रान्तिमूलक है। अन्य जो अनेकेश्वरवाद से आरम्भकर अन्ततः एकेश्वरवाद की ओर विकास मानते हैं वह भी भ्रान्तिपूर्ण ही है क्योंकि औपाधिक कथन को विकासवाद की संज्ञा देना अत्यन्त प्रमादपूर्ण है।

अब **औपनिषदिक दर्शन** पर विचार करें। उपनिषदें वेद के अन्तिम भाग हैं, इसलिये इन्हें वेदान्त कहते हैं। उपनिषद् शब्द का अर्थ है- शिष्य का गुरु के पास उपदेश ग्रहण करने के लिये श्रद्धापूर्वक बैठना, प्राप्त उपदेशों के मनन द्वारा अविद्या कृत बन्धन को ढ़ीला करना तथा अन्ततः निदिध्यासन द्वारा अविद्यानाश करके मुक्त होना। यद्यपि प्रत्येक शाखा में एक-एक उपनिषद् है, अतः कुल 1180 शाखाएं और उनके 1180 उपनिषद हुए तथापि मुक्तिकोपनिषद् में कृत गणना के अनुसार 108 प्रमुख हैं। उनमें से भी दस उपनिषदों को श्रेष्ठ तथा माण्डूक्योपनिषद् को श्रेष्ठतम करके वहीं पर कहा है। उपनिषदों में दार्शनिक एवं धार्मिक विचार भरे हैं। यद्यपि वेद और उपनिषदों के विषय परस्पर विरोधी हैं; क्योंकि वेद (कर्मकाण्ड मात्र) कर्मप्रधान तथा अज्ञानी के विषय हैं जबकि उपनिषद् ज्ञानप्रधान तथा मुमुक्षु के विषय हैं। तथापि अधिकारी भेद से व्यवस्था की गई है। वैदिक धर्म बहिर्मुखी ज्यादा है जबकि औपनिषदिक धर्म अन्तर्मुखी ज्यादा है। समस्त दर्शनों का गौण आधार वेद और मुख्य आधार उपनिषद् है। उपनिषदों में वेदोत्पत्ति के विषय में ऐसा कहा है-

'अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'

(बृ.उ.2/4/10)

[अरे मैत्रेयी! इस महान् भूत (परमात्मा) का निःश्वास है यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इत्यादि।]

अर्थात् निःश्वास के समान अनायास उत्पन्न। अधिकारी भेद के अनुसार दोनों प्रकार की विद्यायें-

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो
वदन्ति परा चैवापरा च ।'

(मुण्ड 1.1.4)

[ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं कि इस संसार में जानने योग्य विद्या दो हैं–पराविद्या और अपराविद्या।]

तथा सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं की चर्चा की गई है। वेदोक्त कर्म ज्ञानयोग्यता को उत्पन्न करने के लिये ही हैं– ऐसा नारदसनत्कुमार संवाद में छान्दोग्य में कहा गया है। उपनिषदों का प्रमुख विषय आत्मतत्त्व है। आत्मा शब्द के अर्थ को आचार्य शंकर ने लिङ्गपुराण के एक श्लोक द्वारा कठोपनिषद् भाष्य में प्रकट किया है-

'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।'

(लिंग 1.10.96)

[वह जो सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, इस लोक में सभी विषयों को भोगता है, जिसका सद्भाव सदैव विद्यमान रहता है, उसे आत्मा कहा गया है।]

यद्यपि आत्मा शब्द शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अंहकारादि अनेकों अर्थ में प्रयोग किया गया है तथापि मुख्यार्थ विशुद्ध ब्रह्म ही है जो अक्षर, आकाश, प्राण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, पुरुष इत्यादि शब्दों से भी उपनिषदों में व्यवहृत है। उस एकमेवाद्वितीय ब्रह्म को ही उपनिषदों में परब्रह्म और अपरब्रह्म शब्द से कहा है। परब्रह्म तो ब्रह्म ही है-जो निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्द स्वरूप, अशब्दम्, अरूपम्, अरसम्, इत्यादि शब्दों द्वारा लक्षित है।

अपरब्रह्म पुनः मायोपधिक समष्टि में ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्रूप से तथा अविद्योपाधिक व्यष्टि में प्राज्ञ, तैजस और विश्वनाम से विभक्त होकर परमात्मा एवं जीवात्मा के रूप में दो माना गया है– माण्डूक्योपनिषद् में। इस तरह उपनिषदों में जीव और आत्मा का औपाधिक भेद माना है। अतएव दोनों का एक साथ शरीर में निवास करने का भी कथन किया है-

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्त्यनशनन्नन्यो अभिचाकशीति ।।'

(मुण्ड. 3.1.1)

[सदैव साथ-साथ रहने वाले दो मित्र पक्षी एक ही (शरीररूपी) वृक्ष के आश्रित हैं; उनमें से एक तो कर्मफलानुसार सुख-दुःख का उपभोग करता है तथा

दूसरा कर्मफलों को न भोगता हुआ केवल देखता रहता है।]

यहाँ आत्मा ज्ञानी है और जीव अज्ञानी । यह व्यवहार औपाधिक है क्योंकि आत्मा तो ज्ञानरूप ही है। अत: आध्यात्मिक जीवभाव अज्ञानी और मायिक अन्तर्यामी ईश्वरभाव ज्ञानी शब्द से व्यवहृत हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न, प्राण, मन:, विज्ञान तथा आनन्दमय नामक पञ्चकोशों के वर्णन द्वारा एवं आनन्दमीमांसा में शुद्ध ब्रह्म को कालातीत, सर्वोपाधिरहित, सर्वाध्यास का आश्रय और आनन्दस्वरूप सिद्ध किया है। कुछ उपनिषदों में आत्मा शब्द से जीव का और ब्रह्म शब्द से शुद्धब्रह्म का कथन किया है, जैसे छान्दोग्योनिषद् में

'तत्त्वमसि'

(छांदो 6.8.7)

[वह तू है।]

आदि वाक्यों द्वारा जीवब्रह्मैकत्व का वर्णन किया है। यद्यपि सृष्टि के सम्बन्ध में उपनिषदों में कोई एक सुनिश्चित प्रक्रिया का कथन नहीं किया है। इससे जगन्मिथ्यात्व सिद्ध होता है तथापि कुछ प्रमुख श्रुतियों के आधार पर आचार्य शंकर ने ब्रह्मविवर्तजगत् को सिद्ध किया है।

माया और अविद्या के बारे में स्पष्टरूप से उपनिषदों में प्रमाण हैं।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।'

(श्वे.उ. 4.10)

[माया को प्रकृति जानो और मायावी को ईश्वर समझो।]

'अविद्यायामान्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥'

(कठ. 1/2/5)

[अन्धे के द्वारा ले जाये जा रहे अन्य अन्धों के समान अविद्या में डूबे हुए अपने आपको धीर एवं पण्डित माननेवाले मूढ बार-बार इस संसार में जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं।]

卐

5. श्रीमद्भगवद्गीता

दर्शनों के आधारभूत शास्त्रों पर विवेचन करते हुए वैदिक सनातनधर्म के अत्यन्त लोकप्रिय प्रामाणिक एवं पवित्र ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर विचार करना अत्यन्त प्रासङ्गिक है, जिसके बिना अपूर्णता स्वाभाविक है। यह गीता शास्त्र भगवान् श्री कृष्ण द्वारा जीवसामान्य को उद्देश्य करके एवं अर्जुन को निमित्त बनाकर दिया गया उपदेश है जिससे जीव अपने लक्ष्यभूत मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस उपदेशात्मक गीता को व्यासजी ने महाभारत में संग्रह कर महान् लोकोपकार किया है। गीता में धर्म एवं दर्शन का समन्वय है। यद्यपि उपनिषदों के समान गीता शास्त्र का भी अर्थ विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न रूप से प्रकट किया है तथापि आचार्य शंकर की अद्वैतपरक व्याख्या अधिक प्रसिद्ध है। गीता में सरल, स्पष्ट एवं अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से कर्म, उपासना (भक्ति) तथा ज्ञान का समन्वयात्मकरूप से कथन किया गया है। यह समस्त उपनिषदों का ही नहीं बल्कि समस्त दर्शनों का सार है। यद्यपि योगदर्शन में योग शब्द का अर्थ

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

(यो.सू.1.2)

[चित्तवृत्तियों का निरोध करना]

कहा है तथापि गीता में जीवब्रह्मैक्यत्व अर्थ में मुख्यरूप से योग शब्द का प्रयोग किया गया है और गौणरूप से अन्य अर्थों में। जैसे कि-

'योगः कर्मसु कौशलम्'

(गीता. 2.50)

[कर्मों में कुशलता ही समत्वरूपयोग है]

अर्थात् समबुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्यागकर मुक्त हो जाता है। अतः समत्वरूप योग कर्मबंधन से छूटने का उपाय है। इस प्रकार इस श्लोक में योग को मुक्ति का साधन कहकर गौण अर्थ लिया है। इस गौणार्थवाला योग शब्द का लक्षण इस प्रकार है-

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते

(गीता. 2.48)

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।

(गीता. 18.54)

बुद्धियोगमुपश्रित्य मच्चितः सततं भव।

(गीता. 18.57)

[कार्य को सिद्ध होने या न होने पर भी समभाव से रहना रूपी समत्व ही योग है।] [समस्त प्राणियों में समभाववाला योगी (गी. 6/21 भी देखें) मेरी पराभक्ति = तत्त्वज्ञान = जीवब्रह्मैक्य को प्राप्त हो जाता है] और [समभावरूपी बुद्धि = ज्ञानात्मक योग के साथ मेरे परायण और निरंतर मुझमें चित्तवाला होवो।] यहाँ पर योग का मुख्य अर्थ है, इत्यादि।

मनुष्य की तीन शक्ति-बुद्धि, क्रिया एवं भावना को लेकर ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के रूप में प्रवृत्त गीता सर्वाङ्गीण विकास द्वारा मनुष्य को मुक्ति प्रदान करती है। इन तीनों को समन्वयात्मक ढंग से प्रस्तुत करने से गीता मोक्ष मार्गों का संगम है।

ज्ञानयोग

गीतादर्शन में ज्ञान की महत्ता पर जोर दिया गया है तथा ज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति कहा है। मानव अज्ञानवश अपने आप को बन्धन में मानता है। वह अज्ञान ज्ञान से ही नष्ट होता है। गीता में ज्ञानयोग को बुद्धियोग शब्द से भी कहा गया है। यथा-

'ददामि बुद्धियोगम् तं येन मामुपयान्ति ते॥'

(गीता10.10)

[जिससे मुझे प्राप्त कर सकोगे उस बुद्धियोग को मैं तुम्हें देता हूँ।]।

प्रायः गीता में ज्ञान शब्द का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान है। इसलिये कहा है-

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'

(गीता.4.38)

[इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु कुछ भी नहीं है।]

ज्ञान प्राप्ति के लिये शरीर, मन और इन्द्रियों को अत्यन्त शुद्ध रखना आवश्यक है।

'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।'

(गीता 2.64)

[रागद्वेष से रहित होकर अन्तःकरण को अपने वश में रखकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरते हुए यह जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करता है।]

यहाँ इन्द्रियों को नष्ट करने के लिए नहीं कहा है किन्तु उन्हें नियन्त्रित कर सन्मार्ग में लगाने के लिए कहा है। जब ज्ञानप्राप्त होता है तब वह ज्ञानी ईश्वर, आत्मा एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं करता।

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'

(गीता 7.18)

[ज्ञानी तो मेरी आत्मा = स्वरूप ही है।]

इसके लिये योगाभ्यास पर भी जोर दिया है-जैसे यम और नियम का संकेत-

'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥'

(गीता 6.10)

[संग्रह एवं इच्छा का परित्याग पूर्वक मन को संयमित रखकर एकान्त में रहकर नित्य निरन्तर चित्त को परमात्मा में स्थिर करें।]

एवं आसन का संकेत-

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥'

(गीता 6.11)

[विशुद्ध स्थान में कुशासन, मृगचर्म और वस्त्र को एक के ऊपर एक रखकर अपने शरीर को स्थिर कर ध्यान के योग्य आसन में योगी बैठें। आसन जमीन के बराबर नहीं होना चाहिये, न अधिक ऊँचा ही।]

तथा प्राणायाम का विवेचन करते हैं-

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥'

(गीता 4.29)

[कोई अपान में प्राण की आहुति, कोई प्राण में अपान की आहुति देकर एवं अन्य प्राण और अपान दोनों की गति को रोककर (कुम्भक लगाकर) प्राणायाम का अभ्यास करते रहते हैं।]

और प्रत्याहार को इस श्लोक से -

'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।'

(गीता 6.12)

[समस्त इन्द्रियों के क्रियाकलाप को रोककर उसी में मन को एकाग्र करके इन्द्रियसंयम का अभ्यास करता है।]

जब कि धारणा को-

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।'

(गीता 6.13)

[शरीर, ग्रीवा और सिर एक सीध में (बिना झुकाये व टेढा किये) स्थिर रखकर इष्ट को धारण करते हुए (धारणा करता है)।]

ध्यान को-

'संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।'

(गीता 6.13)

[बाहर इन्द्रियों के विषयों की ओर न जाकर स्वयं के नासिकाग्र पर दृष्टि को स्थिर करके (ध्यान करता है)।]

अतएव मुमुक्षु योगाभ्यास द्वारा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को ज्ञान योग्य बनाकर वेदान्त के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा आत्मानुभूति कर सकता है।

कर्मयोग

कर्मयोग ज्ञानयोग का विरोधी नहीं है, अपितु सहकारी कारण है। क्योंकि कर्म से रहित कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता है-

'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'

(गीता 3.5)

[बिना कर्म किये एक क्षण भी यह जीव चुपचाप होकर शान्ति से बैठ नहीं सकता है।]

तात्पर्य है कि-मन अत्यन्त चञ्चल है। और

'न हि देहभृता शक्यम् त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।'

(गीता 18.11)

[देहधारण किये इस जीवात्मा से सकल कर्मों का त्याग कदापि नहीं हो सकता है।] इसलिये समस्त कर्मों को निष्काम भाव से करते हुए ज्ञानार्जन के अधिकारी बनने के लिये निष्कामकर्म का विधान किया है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥'

(गीता 2.47)

[तुम्हें कर्म में ही अधिकार है, फल में कदापि नहीं। कर्मफल की आसक्ति से कर्म मत करो और कर्म न करने में भी आसक्ति न रखो।]

सकामकर्म संसारप्राप्ति का कारण है किन्तु निष्काम कर्म मुक्ति का साधन है। अतः गीता में सर्वकर्मत्याग को संन्यास नहीं कहा अपितु काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास कहा है।

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।'

(गीता 18.2)

[विद्वान लोग काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं।]

जो लोग ऐसा नहीं करते उनके जीवन को व्यर्थ एवं पापमय कहा है-

'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति'

(गीता 3.16)

[भोगविलास में ही रमनेवाला पापी जीव व्यर्थ ही जीवन व्यतीत कर रहा है।]

अतएव परमात्मा तथा श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ भी लोककल्याण एवं धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये कर्म करते हैं-

'कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्'

(गीता 3.25)

[आसक्ति को त्यागकर विद्वान् को भी अज्ञानी के समान लौकिकमर्यादा की रक्षा के लिये सकल कर्मों को करना चाहिये।]

इस तरह गीता में निष्कामकर्म को ज्ञान में बाधक नहीं किन्तु साधक माना है। अतः ज्ञान और निष्काम कर्म को विरोधी माननेवालों को मूर्ख कहा है -

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'

(गीता 5.4)

[अविद्वान् ज्ञानयोग एवं निष्कामकर्मयोग को परस्पर विरोधी कहते हैं, विद्वान नहीं।]

इसलिये निष्काम कर्मयोग को ज्ञानयोग का बहिरङ्ग साधन तथा भक्तियोग को अन्तरङ्ग साधन माना गया है।

भक्तियोग

भक्तियोग मानव की भावनात्मक संवेदनाओं को ईश्वर की सेवा में प्रवाहित कर समस्त पापों को क्षय करने का साधन है। यह कर्म और ज्ञान के बीच एक सेतु है। उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं से प्रस्फुटित है भक्तिमार्ग। कर्म धन साध्य है तथा ज्ञान बुद्धिकुशलपुरूषसाध्य, परन्तु भक्ति भाव साध्य है। इसलिये धन एवं बुद्धिकौशल रहित और वर्णादि भेद के अङ्कुश से रहित साधारण व्यक्ति भक्तिमार्ग का अधिकारी है। योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि जी ने भी कहा है-

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(यो.सू. 1.23)

[ईश्वर को समर्पित होने से।]

अत: ईश्वर समर्पण ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। गीता में भी भगवान् कहते हैं-

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।'

(गीता 9.26)

[जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से पत्र (पत्ता), पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त के प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्रादि को मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रेमपूर्वक स्वीकार करता हूँ।]

और -

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

(गीता 9.27)

[हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर।]इस मार्ग में किसी तरह का भय भी नहीं, क्योंकि भगवान् ने स्वयं आश्वासन दिया है-

'न मे भक्तः प्रणश्यति ।'

(गीता 9.31)

[मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।]

पापात्मा भी भक्ति मार्ग को अपनाकर पुण्यात्मा हो सकता है, जैसा कि कहा है-

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(गीता 9.30)

[यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है।]

भक्तियोग में अत्यन्त अटूट श्रद्धा, तथा अपने स्वातन्त्र्य को समाप्त करके ईश्वरतन्त्र होना और पूर्णशरणागति आवश्यक है। कहा है-

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥'

(गीता 9.34)

[मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार अपने को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।]..... और

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'

(गीता 18.66)

[संपूर्ण धर्मों को=संपूर्ण कर्तव्यकर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।]

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्'

(गीता 12.7)

[मुझमें चित्त को लगानेवाले उन प्रेमी भक्तों का शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्र से मैं उद्धार करनेवाला होता हूँ।]

भक्ति का पर्यवसान ज्ञान द्वारा अद्वैतानुभूति में है जहाँ भक्ति का लक्ष्यभूत ईश्वर और भक्त (जीवात्मा) की ऐक्यानुभूति होगी। इसलिये भगवान् कहते हैं-

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥'

(गीता 7.16)

[भरतवंशियों में श्रेष्ठ! हे अर्जुन! धनार्थी, पीड़ित, ज्ञान के इच्छुक और ज्ञानी-ये चार प्रकार के उत्तम कर्म करने वाले भक्तजन मुझको भजते हैं।]

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥'

(गीता 7.17)

[उनमें से नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेम भक्तिवाला ज्ञानी अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्व से जाननेवाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।] उक्तश्लोक में स्पष्ट है ज्ञानी ही भगवान् को अत्यन्त प्रिय है।

इससे यह सिद्ध होता है भक्ति मोक्षप्राप्ति में ज्ञान का सहयोगी साधन है।

ईश्वरविचार

गीता दर्शन ईश्वरवादी है। ईश्वर जीवों को कर्मानुसार फल देता है। प्रकृति (माया) ईश्वराधीन रहती है, जिससे ईश्वर जगत् का सृजन, पालन और संहार करता है। यथा-

'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥'

(गीता 9.7)

[हे कौन्तेय! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में मैं उनको फिर रचता हूँ।]

ईश्वर ही इस जगत का माता, पिता, धाता, दादा आदि है-

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'

(गीता 9.17)

[इस संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला, कर्मों का फल देनेवाला, पिता, माता, पितामह, आदि मैं ही हूँ ।]

जीव उसी ईश्वर का अंश है-

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥'

(गीता 15.7)

[जीवलोक = इस देह में यह सनातन = नित्य जीवात्मा मेरा ही अंश है।]

आत्मा को व्यक्त और अव्यक्त भेद से दो कहा है। अव्यक्त को पुनः निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार रूप से विभक्त किया है। ईश्वरीय

प्रकृति को भी परा और अपरा भेद से दो कहा है। परा प्रकृति आध्यासिक चेतन है और अपराप्रकृति जड़ है। अपराप्रकृति अष्टधा विभक्त है। गीता में सर्वेश्वरवाद, एकेश्वरवाद, अभिन्ननिमित्तोपादान ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद की भी झलक विभिन्न अध्यायों में है। अवतारवाद की पुष्टि गीता में स्पष्ट है-

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥'

(गीता 4.7, 8)

[हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूप (अवतार) को रचता हूँ। साधुपुरुषों का उद्धार करने के लिये, पापियों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं प्रत्येक-युग में प्रकट होता हूँ।]

मायिक जगत् ईश्वरकृत होने के कारण मिथ्या है क्योंकि ईश्वरीय माया मिथ्या है। ईश्वर सृष्ट इस मायिक जगत् में साधकों को अपने स्वधर्मपालन करने पर जोर दिया गया है।

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता 4.13)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

(गीता 3.10)। तथा

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।'

(गीता 3.35)

[ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णों के समूह को गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मैंने रचा है। प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और वह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित फल देगा। अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म (दूसरे वर्ण अथवा आश्रम के धर्म) से गुणरहित भी अपना धर्म (स्ववर्णाश्रमधर्म) उत्तम है।]

और स्वधर्म की स्तुति भी की है-

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।'

(गीता 3.35)

[अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म तो अवश्य भय देनेवाला है ।]

गीता की यह स्वधर्मपालन की शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण और वाञ्छनीय है, क्योंकि सभी वर्णों के सभी लोगों के अपने-अपने कर्म को श्रेष्ठ तथा बराबर अर्थात् समानता सिद्ध करती है। इससे एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था तथा प्रत्येक व्यक्ति के सुनिश्चित आध्यात्मिक विकास तथा निष्कामकर्म भाव की सिद्धि होती है।

इस तरह भगवद्गीता शास्त्र मानवमात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

अभी तक सभी दर्शनों के आधारभूत ग्रन्थों का उल्लेख तथा संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अब सभी दर्शनों के वैदिक प्रमाणों सहित संक्षिप्त चर्चा करेंगे। यद्यपि दर्शनों को स्मृति शब्द से कहा है तथापि सभी दर्शन पूर्णतः वैदिक नहीं है किन्तु कुछ विचारों के मूल वेदों में स्पष्ट है और कुछ के लिये कल्पित आनुमानिक शिष्टाविरूद्ध श्रुति की कल्पना की जाती है।।

卐

6. चार्वाकदर्शन

चार्वाकदर्शन संसार का प्राचीनतम दर्शन है। इसका संकेत वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, बौद्ध आदि साहित्य में मिलता है।

चार्वाकदर्शन को प्रायः सभी ने जड़वादी कहा है किन्तु यह विभिन्न दार्शनिकों का चार्वाक पर आरोप मात्र ही है क्योंकि चार्वाक चेतन को मानता है। जड़ को आत्मा नहीं कहता है। आत्मा को माननेवालों को अध्यात्मवादी कहें तो चार्वाक भी अध्यात्मवादी ही है, जड़वादी नहीं। इस पर विस्तृत विचार बाद में करेंगे।

इस दर्शन के प्रवर्तक एवं नाम के बारे में इस प्रकार विचार हैं:– 1. कुछ लोग देवताओं के गुरु बृहस्पति को, जिन्होंने असुरों को उपदेश दिया मानते हैं। 2. कुछ लोग बृहस्पति नाम के कोई ऋषि जो याज्ञिकों के अत्याचार रोकने तथा वेदान्त के अनुभव रहित समाज को दिया हुआ उपदेश मानते हैं । 3. अन्य लोग व्यक्ति विशेष का रूढ़ नाम मानते हैं, जो बृहस्पति का शिष्य था अथवा 4. कोई स्वतन्त्र वेदविरोधी राक्षस (दुर्योधन का मित्र जो, शापवशात् राक्षस हुआ) जिसकी चर्चा महाभारत शान्तिपर्व के 38 और 39 वें अध्याय में है। 5. **'चर्वन्ति पुण्यपापादिकम् वस्तुजातमिति चार्वाकः'**-ऐसा भक्षणार्थक 'चर्व' धातु से व्युत्पत्ति द्वारा सिद्ध मानते हैं तो अन्य **'चारु वक्ति इति चार्वाकः'**-ऐसा निपातन से सिद्ध मानते हैं। इस तरह इस दर्शन के नाम को व्युत्पत्तिसिद्ध अथवा निपातन

से सिद्ध अथवा प्रवर्तक चार्वाक नाम के व्यक्ति के नाम के रूप में स्वीकार किया गया है। बाल्मीकि रामायण में इस दर्शन को लोकायतिक नाम से कहा है-

'कच्चिन्न लोकायतिकान्ब्राह्मणास्तात सेवसे ।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ।'

(वा.रा. 2.100.38)

[ये अपने आपको पण्डित माननेवाले मूर्ख हैं जो अनर्थफल देनेवाले कार्य करने में कुशल हैं इसलिये ऐसे लोकायतिक ब्राह्मणों का तुम क्यों सेवन (अनुसरण) करोगे।]

इस दर्शन की चर्चा मनुस्मृति के श्लोक – 3/150, 161 और 4/30, 61, 163, में; बौद्धग्रन्थ मज्झिमनिकाय में तथा शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह में भी की गई है। चार्वाक को अजितकेशकम्बली एवं कम्बलाश्वतर नाम से भी कहा गया है। इससे लगता है कि प्रायः वे खच्चर एवं केशों से बने हुए कम्बल साथ में रखते थे एवं उनके तर्कों से सब परास्त होते रहे, अतः उन्हें अजित [अर्थात् जिसे कोई नहीं जीत सकता] कहा गया। कृष्णपतिमिश्र कृत प्रबोधचन्द्रोदय में चार्वाकदर्शन की मान्यताओं का स्पष्ट कथन है। इस प्रकार यद्यपि अनेकों प्राचीन ग्रन्थों में तथा दर्शनों में खण्डन के विषय के रूप में इसका संग्रह एवं स्मरण किया गया है तथापि अन्यदर्शनों के सदृश कोई सैद्धान्तिक सूत्रात्मक ग्रन्थ प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं है, फिर भी किसी अज्ञात विद्वान द्वारा विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों पर आधारित एक कल्पित सूत्रात्मक ग्रन्थ रचा गया था। उसका कुछ सूत्र यहाँ उद्धृत किया जायेगा। अतः सर्वसिद्धान्तसंग्रह, सर्वदर्शनसंग्रह और अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लिखित चार्वाक मत के आधार पर यहाँ संक्षिप्त विचार करेंगे।

दर्शन का आधार प्रमाण विज्ञान है क्योंकि इस सम्बन्ध में एक प्राचीन उक्ति है कि-**'मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्चलक्षणात्'** [अर्थात् मेय (लक्ष्य) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन है तथा उस प्रमाण की सिद्धि लक्षण से होती है।] चार्वाकदर्शन में केवल ऐन्द्रीय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है–

'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् । तत्र किं अन्यप्रमाणापेक्षम् ।'

(बृ.सूत्र)

[प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उसकी प्रामाण्यता अन्य से सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं।]

अतः स्वतः प्रामाण्यवाद माना है। इन्द्रिय, पदार्थ एवं उनके परस्पर सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि चार्वाक के पूर्व अनुमानादि प्रमाण दर्शन

के विषय नहीं थे, क्योंकि यही सर्वप्रथम दर्शन है तथापि वेद एवं लोकव्यवहार में अनुमान और शब्दप्रमाण तो प्रसिद्ध थे ही। इसलिये अनुमान एवं शब्द प्रमाणों का खण्डन चार्वाक दर्शन में किया गया है।

प्राय: अनुमानप्रमाण द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण से गृहीत व्याप्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है। अनुमान तब संशयरहित होगा जब व्याप्ति संदेह रहित हो। यद्यपि एक-दो स्थानों पर दो वस्तुओं की परस्पर व्याप्ति ग्रहण कर भी लें तो भी सभी जगह उस व्याप्ति को ग्रहण करना असम्भव होने से वह व्याप्ति ही असम्भव है। यदि व्याप्ति को अनुमान से सिद्ध करने लगें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। शब्द प्रमाण से भी व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि स्वयं शब्द प्रमाण अपनी प्रामाणिकता के लिये अनुमान पर निर्भर है। कार्यकारणभाव आदि सम्बन्धों से भी व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि वे स्वत: सिद्ध नहीं हैं, अपितु अनुमान से सिद्ध किये जाते हैं। यदि कहें कि सभी जगह दो वस्तुओं की परस्पर व्याप्ति ग्रहण न होने पर भी सामान्यरूप से ग्रहण कर सकते हैं तो भी उस व्याप्ति से अनुमान द्वारा क्या विशेष का ग्रहण होता है अथवा सामान्य का। दोनों सम्भव नहीं। इसलिये कहा है-

''विशेषानुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् ।
अनुमाभंगपङ्केऽस्मिन् निमग्ना वादिदान्तिनः ॥'

(मा.मे पृ56)

[सामान्य व्याप्ति ग्रहण करने में सिद्धसाधन दोष है, विशेष व्याप्ति ग्रहण में अनुभव विरोध है। वादिश्रेष्ठ ऐसे अनुमानरूपी कीचड़ में डूबे हैं।]

अनुभव से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सभी अनुमान यथार्थ नहीं होते। इसलिये अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

यद्यपि प्राय: सभी दर्शनों में यथार्थ कथन करनेवाले आप्तपुरूष के वचनों को शब्दप्रमाण कहा गया है तथापि प्रामाणिकता को अनुमान से सिद्ध किया है। जब अनुमान ही अप्रामाणिक है तो उस पर आधारित शब्द भी अप्रामाणिक होगा, यथार्थ बोध कराना शब्द का धर्म नहीं है। शब्द ज्ञान का स्वंतत्र साधन भी नहीं है क्योंकि शक्तिग्रह, प्रत्यक्ष पर निर्भर है। वेदों को अपौरुषेय कहना तो कल्पनामात्र है। बृहस्पतिसूत्र-**'धूर्तप्रलापास्त्रयी'**। [धूर्तों का कथन है वेद।] वेदों में अनेकों अनर्थक, द्व्यर्थक, व्याघातक, अस्पष्ट, असंगत तथा परस्पर विरोधी वाक्य होने से वे अप्रामाणिक हैं। कर्मकाण्ड के बारे में तो कहा-

'अग्निहोत्रस्त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ॥'

(स.द. सं. 1/13,14,20)

[अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाना-ये बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन हैं, जिन्हें ब्रह्मा ने बनाया। यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जायेगा, तो यज्ञ में पशु के जगह पर यजमान अपने पिता को क्यों नहीं मार डालता? इसलिये यह निश्चय होता है कि ब्राह्मणों द्वारा बनाया हुआ यह जीविकोपाय है।]

इसी तरह अन्य सभी प्रमाणों का खण्डन किया गया है।
इसी प्रकार की चर्चा विष्णुपुराण 3/18 में है।

जैसा कि पूर्व में कहा है– प्रमाणों के अधीन है पदार्थ (तत्त्व) विज्ञान। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, अतः इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुओं को ही पदार्थ मानता है। जैसे बृहस्पति के सूत्र हैं-

'पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि ।
तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ॥'

[पृथिवी, जल, अग्नि और वायु – ये चार ही तत्त्व हैं। इनके परस्पर स्वाभाविक मिश्रण से उत्पन्न कार्य हैं – शरीर, इन्द्रिय और विषय।]

प्रत्यक्ष से केवल भूतों का ज्ञान होता है। इसलिये चार्वाक को लोग भूतवादी अथवा जड़वादी भी कहते हैं। इन चार भूतों का संयोग सृष्टि है और इनका बिखरना प्रलय । प्राण और चेतन की उत्पत्ति, विकास एवं ह्रास युक्त भूतों से उत्पन्न शरीर के साथ होती है-

'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।'

(बृ.सू.)

'जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ॥'

(ससिसं 2/7)

[किण्व, मधु, शर्करा आदि में जैसे स्वतः मादक शक्ति नहीं, किन्तु उनके सम्मिश्रण से मादक शक्ति उत्पन्न होती है। उसी प्रकार विज्ञान–चैतन्य है।] और

[जड़ात्मक भूतों के विकार में जो चैतन्य दिखाई (अनुभव होता) देता है वह पान का पत्ता, सुपारी, चूना, आदि को चबाने पर परस्पर योग होने से उत्पन्न लाल रंग के समान है।]

इस प्रकार चार्वाक दर्शन सजीव-निर्जीव सभी वस्तुओं की व्याख्या करने का प्रयास करता है। भूतों में स्वभाव रूपेण विद्यमान निर्माण शक्ति से परस्पर आकस्मिक संयोजन के फलस्वरूप विश्व की सृष्टि हुई। विश्व की सृष्टि का कोई उद्देश्य नहीं है। यन्त्र के समान प्रयोजनहीन हुई है एवं विश्व की सत्ता द्रष्टा के अधीन नहीं है अपितु स्वतन्त्र है अतएव विश्व स्वत: सिद्ध एक वास्तविक पदार्थ है। इस प्रकार जड़वाद ने स्वभाववाद, तन्त्रवाद एवं वस्तुवाद को जन्म दिया है।

चार्वाकदर्शन के अध्यात्म सम्बन्धी विचार – **'चैतन्यविशिष्टकाय: पुरुष:'**, **'काम एवैक: पुरुषार्थ:'** तथा **'मरणमेवापवर्ग:'**-[चैतन्य से युक्त शरीर ही आत्मा है, विषय भोग ही एकमात्र पुरुषार्थ है, शरीर की मृत्यु ही मोक्ष है।]

इन तीन सूत्रों से स्पष्ट है कि केवल शरीर को आत्मा नहीं मानते अपितु चैतन्य से युक्त शरीर को आत्मा कहा है। चैतन्य आन्तरिक प्रत्यक्ष का विषय है जबकि जगत बाह्यप्रत्यक्ष का विषय है। काम (इच्छा) एवं काम का साधक अर्थ, ये ही दो पुरुषार्थ हैं। क्योंकि परलोकादि को न मानने से धर्म और मोक्ष को पुरूषार्थ मानना व्यर्थ है।

'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवाऽऽत्मा पारलौकिक: ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिका: ॥'

(स.द.सं 1.12)

'स्वर्गानुभूतिर्मृष्टाष्टिद्वयाष्टवर्षवधूगम ।
मोक्षस्तु मरणं तच्च प्राणवायुनिवर्तनम्'

(स.सि.सं. 2.9-10)

[शरीर से भिन्न अन्यत्र स्वर्ग, मोक्ष अथवा आत्मा नहीं है। अर्थात् इन्हें अदृश्य, पारलौकिक आदि कल्पना करना उचित नहीं। वर्ण, आश्रम आदि के धर्म का पालन फलदायक नहीं होता। हृष्टपुष्ट, शुद्ध एवं स्वस्थ तथा सुन्दर सर्वगुणसम्पन्ना 16 साल की कन्या का आलिंगन करना ही स्वर्ग है। शरीर से प्राणों के निकलना रूपी मरण ही मोक्ष है। जब मरण ही मोक्ष है तो पुनर्जन्मादि का सिद्धांत नहीं रहा, अतएव पुण्य पापादि की व्यवस्था नहीं है।]

'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।'

[भस्मीभूत शरीर का पुनर्जन्म कैसे हो सकता है?]

इस उक्ति से स्पष्टतः पुनर्जन्मादि का खण्डन है। अतएव बृहस्पति सूत्र है -

'सुखमेव स्वर्गम्। दुःखमेव नरकम् ।'

[विषयसुख स्वर्ग है। कण्टकादि जन्य दुःख नरक है।]

भूतों में स्वभाववाद स्वीकार करने से सृष्टि के लिये भी ईश्वर की कल्पना अनावश्यक माना है। 19 वीं शताब्दी में भी दक्षिण भारत के मद्रास प्रान्त (आज का तमिलनाडु) में 'पेरियार' (अर्थात् बड़े श्रेष्ठ पुरुष) नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति ने ईश्वर-विरोधी प्रचार किया। आज भी उनके मन्दिरों में स्थापित पेरियार की मूर्तियों के निचले भाग में लिखा रहता है-

'कड़वुल ईल्लै, कड़वुल ईल्लै, कड़वुल ईल्लवाईल्लै ।'

[कोई ईश्वर नहीं, कोई ईश्वर बिल्कुल है ही नहीं।]

आज इस वर्तमानकाल में धर्मनिरपेक्षता को अपनाए हुए सभी राष्ट्र चार्वाक सिद्धान्त को अपनाये हुए हैं और भौतिक समृद्धि को ही देश की समृद्धि मानते हैं। इसलिये (ईश्वर न होने के कारण) चार्वाक कहते हैं कि ईश्वर के भय से अथवा आनुषङ्गिक दुःख के भय से विषयसुख को त्यागना महामूर्खता है। उनकी उक्ति है कि-

'त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां,
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ॥'

(स.द.सं. 1.2)

[यह मूर्खों का विचार है कि मनुष्यों को सुख का त्याग कर देना चाहिये क्योंकि उनकी उत्पत्ति (सांसारिक) विषयों से होती है तथा वे दुःख से भरे हैं। भला कहिये तो, (अपनी) भलाई चाहनेवाला कौन ऐसा आदमी होगा जो उजले और सबसे अच्छे दानेवाली धान की बालियों को केवल इसीलिये छोड़ना चाहता है कि इनमें भूसा, पुवाल आदि अवाञ्छित पदार्थ भी हैं।]

अतः चार्वाक अत्यन्त स्वार्थवाद का समर्थक है।

कालक्रमेण चार्वाक दर्शन की परम्परा में सुधारवादियों तथा आलोचकों ने सैद्धान्तिक अन्तर किया। इसलिये प्राचीन चार्वाक परम्परावालों को **'धूर्तचार्वाक'** और सुधारकों को **'सुशिक्षित चार्वाक'** कहा गया है। अभी तक धूर्तचार्वाक जो

मूलतः चार्वाकदर्शन के निर्माता हैं उनके मत पर विचार किया गया, अब सुशिक्षित चार्वाकों के मतभेद मात्र को दर्शाया जायेगा। सुधार का क्रम ऐसा है-

1. शरीर से भिन्न, शरीर में रहनेवाला चैतन्यविशिष्ट इन्द्रिय ही आत्मा है। 2. शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न, शरीर में रहनेवाला, चैतन्यविशिष्ट प्राण आत्मा है। 3. शरीर, इन्द्रिय और प्राण से भिन्न, शरीर में रहनेवाला, चैतन्य विशिष्ट मन ही आत्मा है। 4. शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन से भिन्न, शरीर में विद्यमान, चैतन्य विशिष्ट बुद्धि को आत्मा कहा। 5. उसे भी निषेध करके पूर्वोक्त सभी के संघात को आत्मा कहा है। 6. अन्तिम चार्वाकदर्शन के सुधारक कामसूत्रकार वात्स्यायन जी हैं, जिन्होंने कहा है-

'किन्नपाचयेत् भिक्षुकभयात् । किं वा नोप्येत पशूनाम्भयात् ॥'

(काम. 1.2.48)

[क्या भीख माँगने वाले आयेंगे- इस भय से घरों में भोजन नहीं पकायेंगे। क्या पशु खेती में घुसकर फसल खायेंगे -इस भय से कोई बीज नहीं बोयेगा।]

अर्थात् पुरुषार्थ पर जोर दिया है। एवं धर्म से युक्त ऐन्द्रिय भोग का समर्थन किया है, और धर्म को मनुष्य का लक्ष्य बताया है

'परस्परस्यानुपघातकम् त्रिवर्गं सेवेत'

[परस्पर अविरोधी धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करें।]

कामसूत्र के दूसरे अध्याय में यहाँ त्रिवर्ग शब्द का अर्थ है धर्म, अर्थ और काम। इस तरह अन्ततः पशुओं के समान ऐन्द्रिय भोग से ऊपर उठकर धार्मिक मूल्यों पर जीवन यापन करने पर बल दिया है।

इस चार्वाक दर्शन का आधार छान्दोग्योपनिषद् के विरोचन का निर्णय कहा जा सकता है क्योंकि विरोचन ने भी देहात्मवाद को ही माना था।

'यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ च एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ '

(छांदो 8.8.3)

[प्रजापति ने उपदेश देते हुए उनके प्रतिबिम्बों को जल में दिखाकर असुरों के राजा विरोचन और देवताओं के राजा इन्द्र से कहा–जैसे आप दोनों के ये अलङ्कार एवं वस्त्र से विभूषित पवित्र सुन्दर शरीर हैं, ठीक उसी प्रकार ये दोनों प्रतिबिम्ब हैं। यही आत्मा है। यही अमृत और अभय है। यही ब्रह्म है। – इस बात को सुनकर दोनों निश्चिंत होकर चले गये।]

ध्यान रहे असंतुष्ट होकर इन्द्र लौट आया है किन्तु विरोचन नहीं।

मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति चार्वाक मत की ओर ही है। दूसरे जीव अर्थात् पशु, पक्षी आदि तो साक्षात् स्वाभाविक धर्म एवं दर्शनवादी चार्वाक के ही पोषक हैं। ग्रीकदर्शन के एरिस्टिपस एवं एपिक्युरस ने चार्वाक मत को ही अभिव्यक्त किया है। पाणिनि व्याकरण के सू. 1/3/36 की काशिकावृत्ति में चार्वी नामक लोकायतिक आचार्य का उल्लेख है। चार्वाक प्रमुखतः भोगवादी है। अतः चार्वाक मत में स्वातन्त्र्य को मोक्ष माना गया है। अर्थात् निष्कण्टकरूप से स्वतंत्र जीवनपूर्वक स्त्री आदि की भोग-प्राप्ति ही मोक्ष है।

卐

7. बौद्धदर्शन

ऐतिहासिक प्रसिद्धि के अनुसार यद्यपि अन्य प्राणियों के और अपने ही संभावित भावी दु:खों को देखकर तथा जानकर ही उससे मुक्ति दिलाने और स्वयं पाने के लिये सन्त बने गौतम गोत्री राजकुमार सिद्धार्थ 'बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए तथापि श्रीमन्नारायण के 24 अवतारों के अन्तर्गत माननेवाले सनातनधर्मी और बौद्ध धर्मावलम्बी कुछ लोग यह मानते हैं कि ब्राह्मण धर्म में हिंसा बाहुल्य आने से बुद्ध अवतीर्ण हुए। जैसा भी हो बुद्ध एक ज्ञानी थे-यह निर्विवाद है। वे एक धार्मिक गुरु और समाज सुधारक थे, दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने किसी प्रकार का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उनके शिष्यों ने जो उपदेश प्राप्त किया था, उसे तीन पेटियों में विभक्त किया। उसका नाम पड़ा **'त्रिपिटक'**। इतिहास के अनुसार बुद्ध के शरीरत्याग के कुछ सप्ताह बाद राजगीर (प्राचीन नाम राजगृह, बिहार में है) में आयोजित धर्मसभा में 'विनय पिटक' का निर्माण हुआ। लेकिन करीब 100 साल के अन्तराल में विनयपिटक विवादग्रस्त होने से वैशाली में आयोजित दूसरी महाधर्मसभा में बौद्धों का विभाजन -स्थविरवादिन और महासंघिक नाम से हुआ। पुनः राजा अशोक ने पाटलिपुत्र में तीसरी महाधर्मसभा को आयोजित किया जिसमें 'त्रिपिटक' को पाली भाषा में संग्रह किया गया। कालक्रमेण इस अन्तराल में स्थविरवादियों के 11 प्रभेद और महासंघिकों के 9 प्रभेद हुए, जिसे हीनयान के

20 प्रभेद के रूप में वसुमित्र ने वर्णन किया है। उनमें से प्रमुख थे सर्वास्तिवादी। राजा कनिष्क द्वारा आयोजित चौथी महाधर्मसभा में समस्त प्रभेदों को तीन सम्प्रदायों में पुनर्गठित किया गया। वे हैं-हीनयान, महायान, और वज्रयान। इनमें हीनयान सम्प्रदाय निवृत्तिपरायण, महायान सम्प्रदाय लोककल्याणात्मक प्रवृत्ति परायण तथा वज्रयान उपासनात्मक प्रवृत्तिपरायण हैं।

बुद्ध भगवान ने चार आर्यसत्यों का उपदेश किया है। चौथे आर्यसत्य में अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया है। वे चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं-1 दुःख 2 दुःख समुदाय 3 दुःखनिरोध और 4 दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्। चौथे आर्यसत्य के स्वरूपभूत अष्टांगिक मार्ग ये हैं-सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। कुछ प्राचीन ग्रन्थों में मध्यममार्ग की चर्चा भी है, जिसे बुद्ध द्वारा सारनाथ में दिया गया प्रथम उपदेश माना गया है। इसमें उन्होनें कर्म एवं उपभोग को त्याग कर शील (चरित्र) और समाधि (सम्यग्ध्यान) द्वारा प्रज्ञा (सम्यग्ज्ञान) प्राप्त कर निर्वाण (मोक्ष) का अनुभव करना कहा है। आध्यात्मिक अवस्था के आधार पर साधकों को चार कोटियों में विभक्त किया है श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्ध।

पूर्वकथनानुसार यद्यपि बुद्ध दार्शनिक नहीं थे और उन्होनें कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है तथापि उनके शिष्यों द्वारा संगृहीत 'त्रिपिटक' ही बौद्ध धर्म एवं दर्शन के आधार हैं। वे हैं-विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। विनयपिटक में आचार संहिता निबद्ध है। इसके तीन भाग हैं-सुत्तविभंग, खन्धक और परिवार। सुत्तपिटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पिटक है क्योंकि इसमें बौद्धमत के मुख्य सिद्धान्त हैं। इसके पांच निकाय हैं-दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। इन पांचों में सबसे छोटा खुद्दकनिकाय है जिसके 15 अंग हैं। उन पन्द्रहों में से एक है धम्मपद जो कि बौद्धों के लिये भगवद्गीता के समान है। अभिधम्मपिटक सात अंगों में निर्मित है जिसमें धार्मिक क्रिया-कलापों का वर्णन है।

सामान्य बौद्ध मत- सुत्तपिटक के 5 निकायों में से दूसरे मज्झिमनिकाय में बुद्ध के उपदेशसार को चार आर्यसत्यों में निहित किया गया है।

उनमें से प्रथम आर्यसत्य है **दुःख**। संसार दुःखमय है। सब कुछ दुःखमय है।

'सर्वं दुःखम्, सर्वं दुःखम्, दुःखम्'

(म.नि. 1:5:4)

[सब दुःखरूप है। सब दुःख है, दुःख ही है।]

तथा उसी में **'पञ्चस्कन्धः दुःखमयः'** भी है। [पाँच स्कन्धोंवाला यह संसार दुःखरूप है।] शरीर, अनुभूति, प्रत्यक्ष, इच्छा और विचार को पञ्चस्कन्ध कहते हैं। सांसारिक विषय के सुख भी दुःखरूप हैं क्योंकि सुख के साधनभूत विषय प्राप्त न होने पर दुःख होगा और प्राप्त होने पर खोने का भय एवं रक्षा का चिन्तारूपी दुःख सताता है। इसलिये कहा है–

'संसाराद् दुःखं भवति, इन्द्रियसुखस्य विषयलोपाद् विषादी भवति।'

(ध.प. 213, 146)

[संसार से दुःख प्राप्त होता है। इन्द्रियसुख का साधन विषय का लोप होने से व्यक्ति दुःखी होता है।]

इसका कारण है कि संसार क्षणिक एवं नाशवान् है। सब कुछ ठीक रहने पर भी प्राणी मृत्युभय से ग्रस्त रहता है। चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने संसार को दुःखमय माना है। इसलिये बुद्ध ने कहा है–

'कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति'

(ध.प. 146)

[जब समस्त संसार आग में झुलस रहा है तब आनन्द मनाने का अवसर कहाँ।]

बुद्ध के इस दृष्टिकोण के वजह से कुछ लोगों ने कहा-बौद्ध निराशावादी हैं। लेकिन ऐसा कहना उचित नहीं। प्रथम आर्यसत्य संसार से वैराग्य प्राप्त कराने के लिये है, इसलिये अन्य आर्यसत्यों में आशावाद का संकेत है क्योंकि उनमें दुःखनिरोध को शुभ माना है तथा साधनों की चर्चा भी है। आरम्भ निराशावाद से अवश्य है परन्तु अन्त आशावाद में है।

दूसरा आर्यसत्य है **दुःखसमुदाय।** इसमें दुःख के कारणों का संग्रह एक सिद्धान्त के तहत किया गया है। उस सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृतभाषा में तथा पटिच्यसमुत्पाद पाली भाषा में कहा है। प्रति, इत्य और समुत्पाद इन तीन शब्दों के मेल से निष्पन्न प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है-**'अस्मिन् सति इदं भवति'**– [किसी वस्तु के उपस्थित होने पर किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति होना।] अर्थात् कार्य कारणाश्रित है। अतः दुःख एक कार्य होने से उसका भी कारण होगा। संसार के समस्त दुःखों को बुद्ध ने **'जरामरण'** शब्द से कहा है, यद्यपि शाब्दिक अर्थ है बुढ़ापा और मरण, तथापि जन्म और मरण ही लक्षित नहीं हैं। इसका कारण है पुनर्जन्म, जिसे **'जाति'** कहते हैं। बार-बार शरीर धारण करना ही जाति है। इसका

कारण **'भव'** है। जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति को भव कहा है अर्थात् कर्म ही भव है। उसके तीन भेद हैं-कुशल, अकुशल और मिश्र। पुनः प्रत्येक तीन प्रकार के हैं-कायिक, वाचिक और मानसिक। हिंसा, चोरी, अगम्यागमन आदि कायिक अकुशल कर्म हैं। झूठ, चुगली, फालतू बकवास आदि वाचिक अकुशल कर्म हैं। ईर्ष्या, द्वेष, बुरी दृष्टि आदि मानसिक अकुशल कर्म हैं। इनसे विपरीत कुशल कर्म हैं। दोनों का मिश्रण ही मिश्रकर्म है। वह तीन प्रकार का है–कामासक्ति, शीलासक्ति और आत्मासक्ति। आसक्ति शब्द का अर्थ है– आ=समन्तात् -अच्छी तरह, सक्ति -चिपकना। पुत्रैषणा = ऐहिकसुख - स्त्रीपुरुषसंयोगादि की इच्छा कामासक्ति है। लोकैषणा = स्वर्गादि में दीर्घकाल पर्यन्त वासादि की इच्छा के कारण व्रत, यज्ञादि की इच्छा शीलासक्ति है। साध्यैषणा = आत्मलोकेच्छा - आत्म सुख को अनन्त मानकर उसकी इच्छा आत्मासक्ति है। भव का कारण **'उपादान'** है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति–मानसिक झुकाव को उपादान कहते हैं। उपादान का कारण **'तृष्णा'** है। विषय भोगने की दृढ़ वासना को तृष्णा कहा जाता है। वह भी मुख्यरूप में काम, भव एवं विभव में होती है। काम अर्थात् भोग, इसे सब चाहते हैं। भव अर्थात् जीवन, सभी दीर्घायु चाहते हैं। मृत्यु के बाद भी मैं अनन्तकाल तक रहूँ, यही विभव है। उस तृष्णा का कारण है **' वेदना'**। इन्द्रियानुभूति जिससे संस्कारपूर्वक वासना बनती है उसे वेदना कहते हैं। वेदना का कारण **'स्पर्श '** है। इन्द्रियों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे स्पर्श कहते हैं। इन स्पर्शों के कारण **'षडायतन'** हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन को षडायतन कहते हैं। षडायतन के कारण **'नामरूप'** हैं। शरीर एवं मन के संघात को नामरूप संज्ञा दी गई है। भूतों से उत्पन्न होने से यह शरीर ही रूप है। मन और उसकी वृत्ति नाम है। स्थूलशरीर अर्थात् रूप से मन अर्थात् नाम पृथक् होने पर भी संस्कार नाम में रहता है। इस नामरूप का कारण **'विज्ञान'** है। गर्भदशा से लेकर मरण तक के सभी प्रकार के विकास एवं ह्रास के कारणबिन्दु चेतन को विज्ञान कहा है। वह दो प्रकार का है– आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। आलयविज्ञान सुषुप्ति एवं मूर्च्छा आदि में रहता है, यह एक आकार से निरन्तर परिणत होता रहता है। प्रवृत्तिविज्ञान जाग्रत एवं स्वप्न में रहता है, यह घटपटादि विषयों को लेकर भिन्न-भिन्न आकार में परिणत होता रहता है, अतः विषयरूप है। विज्ञान का कारण **'संस्कार'** है। पूर्वपूर्वजन्मों में कृत प्रवृत्ति (कर्म) के प्रभाव से जो संस्कार निर्मित होते हैं, वे पुनर्जन्म सिद्धान्त को व्यवस्थित करते हैं। इन संस्कारों का कारण **'अविद्या'** है। अज्ञान अर्थात् वास्तविक ज्ञानाभाव को अविद्या

मानते हैं। इन 12 कार्यकारणों के चक्र को 'द्वादश निदान', 'संसार चक्र', 'भाव चक्र' एवं 'जन्ममरणचक्र' भी कहते हैं। कहीं कहीं 'धर्मचक्र' नाम से भी उल्लिखित है। उक्त चक्र की 12 कड़ियों में से प्रथम दो भावी जन्म, अन्तिम दो भूत अथवा पूर्वजन्म एवं मध्यम के 8 वर्तमानजन्म से सम्बद्ध हैं। बुद्ध ने स्वयं मज्झिम-निकाय में कहा है **'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है वह धर्म को जानता है'** (म.नि. 22)। अतीत जीवन वर्तमान जीवन का कारण है और वर्तमान जीवन भावी जीवन का कारण है। इनमें अविद्या और संस्कार अतीत जीवन से सम्बद्ध हैं, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान एवं भाव वर्तमान जीवन से सम्बद्ध हैं तथा जाति एवं जरामरण भावी जीवन के विषय हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त क्रमशः कर्मवाद, अनित्यवाद, क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद को सिद्ध करता है। इसलिये दूसरा आर्यसत्य का आधार प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का केन्द्रबिन्दु है।

तीसरा आर्यसत्य है–**दुःखनिरोध।** पूर्वोक्त चक्र से स्पष्ट है कि अविद्या ही समस्त दुःखों का मूल कारण है। अविद्या नाश से निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त होगा। अतः दुःखनिरोध ही निर्वाण है। इसे पाली में निब्बान कहते हैं। यही जीवन का अन्तिम तथा मुख्य लक्ष्य है। बोधि अर्थात् आत्मसाक्षात्कार–जिससे निर्वाण प्राप्त होता है वह इस जन्म में भी हो सकता है; राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, अहंकारादि पर विजय पाने से। अतः निर्वाण जीवनमुक्ति है, विदेहमुक्ति को परिनिर्वाण कहा है। निर्वाण निष्क्रियता नहीं है अपितु कर्म त्यागकर आर्यसत्यों का स्वाध्याय करते रहना अथवा लोककल्याणपरक कर्म करते रहना है। बुद्ध ने निर्वाण के अनन्तर शरीरादि से होने वाले कर्मों को अनासक्तकर्म की संज्ञा दी है जो कि गीता के मुक्ति के साधन निष्कामकर्म के सदृश है।

यद्यपि निर्वाण शब्द का अर्थ कुछ लोग निषेधात्मक मत को अपनाते हुए 'बुझा हुआ' करते हैं, जबकि अन्य लोग भावात्मक मत को अपनाते हुए 'शीतलता' मानते हैं तथापि बौद्ध ग्रन्थ संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि –

'निर्वाण का अर्थ व्यक्तित्वप्रणाश करना, दुष्टतापूर्ण विमुखता है'

(सं. नि. 3.109)

और

'निब्बानं परमं सुखम्'

(ध.प. 203)

[निर्वाण (मोक्ष) को ही परम सुख कहा है।] इन उक्तियों से लगता है कि

भावात्मक दृष्टिकोण से शीतलता अर्थ करना उचित है। परम सुख कहने का तात्पर्य आनन्दानुभूति है। **'निब्बन्ति धीरा यथाऽयं प्रदीपो'** (सुत्तनिपात-रतनसुत्त)-अर्थात् [बुझा दीपक के समान धीर निर्वाण (गति रहितभाव) को प्राप्त करता है।] **'निब्बानं पदमच्युतम्'** (सुत्तनिपात विजनसुत्त) [निर्वाण अच्युतपद है,] एक बार प्राप्त होने के बाद नष्ट नहीं होता। **'निब्बानं अकुतोभयं'** (इतिवुत्तक-112) [निर्वाण भयरहित अभय पद है।] -इत्यादि उक्तियों से स्पष्ट होता है कि बौद्ध क्षणिक सुख को निर्वाण नहीं मानते अपितु परमानन्द ही निर्वाण है। सुखवाद और आनन्दवाद में भेद है, क्योंकि सुख क्षणिक, अस्थायी और दुःखप्रद है जबकि आनन्द अमृत, अनन्त, अभय, अजर आदि है। इसलिये बौद्ध लोगों को सुखवादी नहीं कह सकते अपितु वेदान्ती के सदृश आनन्दवादी हैं। इस विषय में उपमाओं द्वारा समझाते हुए अन्त में कहा है-

'निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान उसे ही हो सकता है जिसे उसकी अनुभूति प्राप्त हो'-

यह बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्मोपदेशक नागसेन और यूनानी राजा मिलिन्द के संवादात्मक ग्रन्थ 'मिलिन्द पन्हों' (मिलिन्द प्रश्न) में स्पष्ट है। निर्वाण से दुःखाभाव, पुनर्जन्माभाव और परमशान्ति की प्राप्ति होती है।

चौथा आर्यसत्य है **दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्**। इसमें दुःखनिरोध अर्थात् निर्वाण के उपायों की चर्चा करते हुए अष्टांगिक मार्ग का कथन किया है। अष्टांगिक मार्ग को प्रज्ञा, शील और समाधि नाम से तीन भागों में विभक्त किया है। सम्यक्दृष्टि (कुशल और अकुशल कर्म का विवेकदर्शन) और सम्यक् संकल्प (अकामता, अद्रोह एवं अहिंसा में दृढ़निश्चय) **प्रज्ञा** है। सम्यक् वाक् (झूठ, चुगली, व्यर्थभाषण आदि से रहित वाणी), सम्यक्कर्मान्त (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा मद आदि का त्याग-ये पाँच शील सभी के लिये और सायंकाल भोजनत्याग, मालादि धारण त्याग, गीतवाद्यादि त्याग, सुवर्णादि त्याग तथा सुखसाधन शय्यादि त्याग-ये पाँच शील भिक्षुओं के लिये अतिरिक्त हैं), सम्यक् आजीविका (हिंसा आदि दोषों से रहित जीविका) और सम्यक् व्यायाम (सत्कर्म, इन्द्रियसंयम और दुर्भावना की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना) **शील** हैं तथा सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि को **समाधि** संज्ञा दिये हैं। सम्यक्स्मृति के चार प्रकार है—कायानुपश्यना (मलमूत्रादि से भरे इस शरीर की नित्य अशुद्धता का अनुभव कर विचार करना), वेदनानुपश्यना (सुख, दुःख की अनियमितता देखकर विचार करना), चित्तानुपश्यना (काम, क्रोध, उद्दण्डता, आदि की अनियमितता को देखना) और धर्मानुपश्यना

(चार आर्यसत्य और हिंसा आदि श्रेष्ठ हैं, ऐसा समझना)। इसी तरह सम्यक् समाधि के भी चार प्रकार हैं—ह्लादमय (रागयुक्त महान् आह्लाद का अनुभव), शान्तिमय (राग रहित महान् आह्लाद का अनुभव), साम्यैकरस (समता एवं एकरसता का अनुभव) और पूर्णशान्तरस (पूर्ण शान्ति का अनुभव)। इन उपायों को जीवन में अपनाकर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है, तीव्रता, श्रद्धा और अभ्यास से शीघ्र हो सकता है। इन उपायों के समूह को मध्यमा प्रतिपत् कहते हैं क्योंकि यह सद् विषयक नहीं, असद् विषयक भी नहीं किन्तु दोनों के मध्य में स्थित है और अत्यन्त क्लेशदायी तप आदि साधन नहीं, अतिबाह्य विषयलोलुपता भी साधन नहीं किन्तु मध्यममार्ग हैं। इन आठ अंगोंवाली मध्यमाप्रतिपत् रूपी विद्या संसार का कारण अविद्यारूपी मल को तुरन्त ही उन्मूल कर देती है।

बौद्धदर्शन में सैद्धान्तिक रूप से स्वीकृत पदार्थ (तत्त्व) इस प्रकार हैं। समस्त जगत् सापेक्ष है, प्रतीत्यसमुत्पादरूप है एवं पञ्चस्कन्धसंयोगजन्य है। इसका जनक कोई ईश्वर, कालादि नहीं हैं। पञ्चस्कन्धों से जन्य पञ्चस्कन्धात्मक विज्ञानसन्ततिरूप विशिष्ट चैतन्य आत्मा है। नित्य निरवयव, मोक्षात्मकफलसम्बन्धाश्रय कोई आत्मा नहीं है। परस्पर सापेक्ष, परिणामी, परमाणुपुञ्ज ही द्रव्य है। अतएव परमाणुओं से अतिरिक्त कोई अवयवी द्रव्य नहीं है, न जाति नाम का कोई पदार्थ है क्योंकि अतत्कवस्तुओं से विच्छिन्न इतरव्यावृत्तिरूप अपोह से ही वस्तुभेद सिद्ध हो सकता है। पञ्चस्कन्ध को दो भागों में संक्षेप से विभक्त कर सकते है-रूपस्कन्ध और नामस्कन्ध। सभी मूर्तद्रव्य रूपस्कन्ध हैं। संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान ये चार नामस्कन्ध हैं। जो कि मन और उसके वृत्तिरूप परिणाम हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु भूत हैं और उनके पुञ्ज का विशिष्टस्वरूप शरीर, इन्द्रिय एवं विषय भौतिक हैं। ये सब **रूपस्कन्ध** हैं। अपनी वासना के अनुरूप हेयोपादेय, मित्रशत्रु आदि संज्ञाओं से युक्त जीवसृष्टिरूप ज्ञान को **संज्ञास्कन्ध** कहते हैं। सुख, दुःख आदि मानसवृत्ति को **वेदनास्कन्ध** माना है। राग, द्वेष, श्रद्धा, अश्रद्धा, मद, मान, भय, धैर्य, धर्म, अधर्मादि **संस्कार स्कन्ध** हैं। बाह्यरूपादिज्ञान में तथा आन्तरिक अहंकारादिज्ञान में अनुगत चित् को **विज्ञानस्कन्ध** मानते हैं। इन्हीं पञ्चस्कन्धसमुदाय का प्रतीत्यसमुत्पाद आत्मा है। अतएव रूपस्कन्ध के वियोग अथवा नाश से आत्मा का नाश और रूपस्कन्धान्तर का संयोग अथवा उत्पत्ति से आत्मा का जन्म कहा गया है। संस्कारात्मक वृत्ति विशिष्ट मन में अनुगत चैतन्यसंतति पुनर्जन्म का कारण है। अत: विश्व और आत्मा क्षणिक हैं, परिणामगत सादृश्यता के कारण नित्यत्व की भ्रान्ति होती है। इस प्रकार संक्षेप में

बौद्ध का सामान्य सिद्धान्त दर्शाया गया।

धार्मिक सम्प्रदायः-बुद्ध के विविध तथा परस्पर विरोधी उपदेशों के ऊहापोह करने से बौद्ध धर्म में मुख्य रूप से तीन धार्मिक सम्प्रदाय माने गये-

'यानत्रितयं श्रावकयानं प्रत्येकबुद्धयानं च ।
अपि बोधिसत्त्वयानं हीनमहद्वज्रसंज्ञं वा ॥'

(द्वादसं 3क-86)

[तीन मार्ग अथवा संप्रदाय हैं–श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व। इन्हीं तीनों को हीनयान, महायान और वज्रयान भी कहते हैं।]

आत्मा, ईश्वर, जगत्, तथा तथागत के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने पर बुद्ध का मौनात्मक उत्तर था, उसका उनके अनुयायियों ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या की। उसने अनुभववाद, संशयवाद और रहस्यवाद को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप तीन धार्मिक संप्रदाय एवं चार दार्शनिक संप्रदायों का आरम्भ हुआ।

हीनयान : हीनयान शब्द का अर्थ है-त्याग है साधन जिस मार्ग का। हीनयान में बुद्ध के उन उपदेशों को लिया है जिससे क्षणिक विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद और अनात्मवाद सिद्ध किया जाता है। वे ईश्वर की सत्ता नहीं मानते हैं। अत: उन्होंने जगत् की व्यवस्था कर्म और धर्म से दी है। अनुयायियों को संघ में निष्ठा रखना आवश्यक था जिससे उन्हें आध्यात्मिक बल मिलता था। सभी अनुयायियों को महाव्रत का पालन करना पड़ता था। वह व्रत ऐसा है- **'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।'** जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् बनना है। कामास्त्रव, भवास्त्रव एवं अविद्यास्त्रव का नाश हो जाय तो वह अर्हत् होता है जिसके पूर्व तीन अवस्थायें मानी गयी हैं-स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी । सर्वस्व एवं सर्वकामना को त्यागकर गुरु की शरण लेकर धर्मादि, श्रवणमनन तत्पर होकर निर्वाण पर्यन्त रहने को कहा है और पश्चात् भी। इस तरह स्वावलम्बन पर जोर दिया है। **'आत्मदीपो भव'** यह उनका उपदेश रहा अर्थात् स्वार्थवादी बनकर अपने मुक्ति के लिये प्रयत्न करना मनुष्य का लक्ष्य हुआ एवं परार्थ का उच्छेद है। यद्यपि यह बुद्ध के व्यक्तिगत जीवन एवं व्यवहार के विरूद्ध है, क्योंकि बुद्ध का कथन था-

'कलिकलुषकृतानि यानि लोके भवन्ति
मयि तानि पतन्तु विमुच्यताम् हि लोकः।'

(मपसू 6.1)

[इस लोक में जितने भी कलिकाल के दोष से उत्पन्न पाप हैं, वे सब मुझमें

हों (अर्थात् उन सबका मैं भोग करूँ)। समस्त जीव पापों से मुक्त हों।]

तथापि संन्यास को प्रश्रय दिया है, एवं सभी पूर्वोक्त चार अवस्थाओं में मार्गावस्थ तथा फलावस्थ नाम से दो भेद किया है। अतः पूर्वोक्त विरोध विरोधाभास मात्र ही है। हीनयान में बुद्ध को एक सन्त महात्मा मानते हैं ईश्वर नहीं, और नहीं उपास्य ही। स्वावलम्बन एवं संन्यास पर आधारित यह मार्ग अति कठोर एवं अत्यन्त कठिन होने से थोड़े ही व्यक्ति इसे अपना सके, अतः व्यापक असन्तोष ने मार्गान्तर को जन्म दिया।

महायानः- जन सामान्य के लिये कठिन, अनीश्वरवादी, संकीर्ण एवं अव्यावहारिक हीनयान मार्ग से हटकर कुछ बौद्धानुयायियों ने सर्वोपयोगी महायानमार्ग आरम्भ किया। इनका नाम महायान इसलिये पड़ा क्योंकि परम करुणा से समस्त लोक दुःखनिवारण की इच्छा से-निरन्तर प्रवृत्तिमार्ग परायणों का यह मार्ग महत् अर्थात् दीर्घ होता है। सद्योमुक्ति नहीं होती। पूर्णत्व प्राप्ति के साधन छः हैं, जिन्हें परिमिता शब्द से कहते हैं, तदनुसार छः अवस्थायें भी मानते हैं। वे हैं:- दानपरिमिता से मुदिता, शीलपरिमिता से विमला, धैर्य परिमिता से प्रभाकरी, वीर्यपरिमिता से अर्चिष्मती, ध्यान परिमिता से सुदुर्जय एवं प्रज्ञापरिमिता से अभिमुक्ति अवस्था। इन अवस्थाओं को भूमि शब्द से भी कहते हैं। इस मार्ग से बोधिसत्त्व की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना है। ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा को बोधिसत्त्व कहते हैं। इस मार्ग में अपनी मुक्ति से बढ़कर समस्त जीवों की मुक्ति पर जोर दिया है। लोककल्याण के लिये बोधिसत्त्व को प्राप्त होने पर भी जन्मग्रहण करने को तत्पर रहता है महायानी। अतः हीनयानी वैयक्तिक है जबकि महायानी सार्वभौम है। महायान में बुद्ध को ईश्वर माना गया है क्योंकि जब मनुष्य जीवन की समस्याओं का सामना करने में असमर्थ होता है तब वह अपने से उत्कृष्ट, परिपूर्ण एवं समर्थ एक विलक्षण सत्ता को स्वीकार करता है, जिसे ईश्वर संज्ञा दी गयी है। बुद्ध को अवतार भी मानते हैं क्योंकि 'जातक कहानियों' में बुद्ध के पूर्वावतारों का वर्णन है। इसलिये ईश्वर भक्ति पर जोर दिया है। महायानी आत्मवादी हैं और संन्यास विरोधी हैं। यद्यपि वैयक्तिक कर्म सिद्धान्त को मानते हैं तथापि बुद्ध में अपने पुण्यों से दूसरे के पाप नष्ट करने का सामर्थ्य स्वीकार किया है। लेकिन अपने पापों को वह स्वयं भोगता है। यद्यपि हीनयान में अर्हत्रूपी निर्वाण को अभावात्मक चित्रण किया है तथापि महायान आत्मवादी होने के कारण बोधिसत्त्वरूप निर्वाण को भावात्मक चित्रण किया है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये बोधिसत्त्व की दस अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इसका वर्णन असंगकृत

महायानवीधर्मसंगतिसूत्र में है। इस मार्ग को सहजयान भी कहते हैं।

वज्रयान:- वज्रयान ने महायान मार्ग की सभी मान्यताओं को स्वीकार किया है तथा उनसे अतिरिक्त मन्त्र तन्त्र को भी माना है।

'मन्त्रैस्तन्त्रैरपि ये त्विहपरसिद्धिः लब्धुमिच्छन्ति ।
ते मन्त्रयानसंज्ञास्ते प्रोक्ता वज्रयानश्च ।'

(द्वादसं 3 क.100)

[मन्त्र-तन्त्रों से जो इहलोक-परलोकसिद्धि या स्वार्थ-परार्थ सिद्धि चाहते हैं, वे मन्त्रयानी कहलाते हैं। इन्हीं को वज्रयानी भी कहते हैं। अर्थात् जो बौद्धअनुयायी मन्त्र एवं तन्त्र द्वारा इहलोक और परलोक की सिद्धि अथवा स्वार्थ एवं परार्थ की सिद्धि करना चाहता है उसे मन्त्रयानी अथवा वज्रयानी कहते हैं।]

सभी के लिये बुद्ध का यह सामान्य उपदेश था कि निर्वाण प्राप्ति के लिये चार भावनायें करना अत्यन्त आवश्यक है। 1. **सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्**। 2. **सर्वं दुःखं दुःखम्**। 3. **सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्** और 4. **सर्वं शून्यं शून्यं**। [सभी वस्तुऐं क्षणिक है क्योंकि आत्मा असत् है। परिदृश्यमान वस्तु अपनी स्थिति काल पर्यन्त सत् प्रतीत होती है। वस्त्वन्तर प्रतीति की उत्पत्ति से पूर्व वस्तु का नाश हो जाता है। इस प्रकार सकल पदार्थ क्षणिक हैं, अतः इनका मोह करना उचित नहीं-ऐसा विवेक करना चाहिये। सभी वस्तुऐं दुःखरूप हैं क्योंकि क्षणभङ्गुर हैं। जो क्षण-क्षण में विनाशी हो वह नित्य सुख कदापि नहीं दे सकता है। अतः सांसारिक क्षणिक पदार्थों के दुःखरूप होने के कारण उन्हें त्यागना चाहिये-ऐसा वैराग्य करें। सभी वस्तुऐं स्वलक्षण हैं क्योंकि ये अर्थक्रियाकारी हैं। स्वस्थिति काल में प्रयोजन से युक्त क्रिया विशिष्ट होते है। प्रयोजन सिद्ध हो या न हो तो भी वस्तु क्षणिक होने के कारण क्रिया की समाप्ति के साथ वस्तु नष्ट हो जाती है। अतः अर्थक्रियासामर्थ्य ही स्वलक्षण वस्तु का स्वरूप होने से, वस्तु शाश्वत नहीं है-ऐसा चिन्तन व ध्यान करना चाहिये। पूर्वोक्त साधनत्रय का फल है सर्वशून्यता की अनुभूति। सकल पदार्थ शून्य रूप हैं अर्थात् निर्विशेष हैं। तात्पर्य यह है कि क्षणिकत्व, स्वलक्षणत्व एवं दुःखरूपत्व रहित अत्यन्त असत् रूप है। इस असद्रूपता की प्राप्ति ही निर्वाण है।] माना जाता है कि बुद्ध ने निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय द्वारा अपने विचारों का प्रचार किया। कहा जाता है कि उन्होंने देवी पूजा का उपदेश भी दिया था। वज्रयानी 'वज्रवाराही', हीनयानी 'मणिमेखला' और महायानी 'रूपतारा' देवी की पूजा करते हैं। 'वसुधारा' अथवा 'प्रज्ञापारमिता' नाम की देवी जो सरस्वती के सदृश है, उसकी सभी पूजा करते हैं।

दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रमुखत: अनात्मवादी होने पर भी व्यावहारिक धरातल पर बौद्ध आस्तिकों के समान देवियों की पूजा करते हैं।

बौद्धदर्शन में प्रभेद क्यों?

दर्शन का आरम्भ सत्ता और विषय से होता है। अत: किस प्रकार की सत्ता का अस्तित्व है और विषय का ज्ञान किस प्रकार से होता है-इन दो प्रश्नों के उत्तर को लेकर बौद्ध दर्शन में चार प्रभेद हुए। पहले प्रश्न के तीन उत्तर हैं:-

प्रथम यह है कि किसी भी वस्तु की सत्ता या अस्तित्व नहीं है, सब कुछ शून्य है। यह शून्यवाद है।

दूसरा, विज्ञान ही एक मात्र सत्य है और सब असत् है। यह विज्ञानवाद है। इन्हें योगाचार भी कहते हैं।

तीसरा, विज्ञान और विज्ञान के विषय सत्य हैं। यह वस्तुवाद है। इन्हें वस्तुवादी अथवा सर्वास्तित्वादी भी कहते हैं। इनके दो भेद हैं 1- बाह्य विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु अनुमान से जाना जाता है जो ऐसा मानते हैं, उन्हें सौत्रान्तिक कहते हैं और दूसरा वह जो बाह्यवस्तु को प्रत्यक्ष मानता है, इन्हें वैभाषिक कहा है। इनमें प्रथम दो–शून्यवादी माध्यमिक और विज्ञानवादी योगाचार महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं जबकि बाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिक तथा बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी वैभाषिक हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अब प्रत्येक का विवेचन संक्षेप में करेंगे।

माध्यमिकदर्शन:- माध्यमिकदर्शन का आधार महायान पद्धति है। श्री अश्वघोष ने सर्वप्रथम महायानधर्म सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना की, जो 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कहा है-परमार्थसत्य-तथता है, अन्तिम सत् को भूततथता, विशुद्ध आत्मा को बोधि अथवा प्रज्ञा अथवा आलयविज्ञान, ऐक्यरूपपूर्णता को धर्मकाय अथवा धर्मधातु तथा सगुणानन्दरूपता को तथागतगर्भ कहते हैं। इसी तथागतगर्भ को व्यावहारिक दृष्टिकोण से संसार और अन्त्यानुभूति की दृष्टि से निर्वाण कहा जाता है। वास्तव में यह अवर्णनीय है क्योंकि वह बुद्धि से परे है। विचारों की चारों कोटियों से परे है–

'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदु:'

(मा.का. 1.7)

[1. सत्, असत्, सदसदुभय अथवा सदसद्विलक्षण २. एक, अनेक,

एकानेकोभय अथवा एकानेकोभयविलक्षण ३. भाव, अभाव, भावाभावोभय अथवा भावाभावोभयविलक्षण और ४. नित्य, अनित्य, नित्यानित्योभय अथवा नित्यानित्योभयविलक्षण है। इस प्रकार के विचार के विषय को **'तत्त्व'** कहते हैं।] माध्यमिक लोगों की उक्त चारों प्रकार की वस्तुविवेचन पद्धति द्वारा किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये कहा है-**सर्वं शून्यम्।** अतः उस परमसत्य तथता को शून्य कहा है। शून्यशब्द का अर्थ लोकप्रसिद्ध शून्यता नहीं है अपितु वर्णनातीत है। यह बौद्धदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। भ्रान्ति से लोगों ने शून्यवाद को सर्ववैनाशिकवाद भी कहा है। इसका कारण है कि माध्यमिकदर्शन के अनुसन्धाता नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को भी शून्य कहा –

'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यताम् तम् प्रचक्ष्महे ।'

(मा.का. 24.18)

[जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसी को हम शून्य कहते हैं।]

महायान सूत्रों से तथा अश्वघोषकृत ग्रन्थों से माध्यमिक सिद्धान्तों के संग्रहकर्ता नागार्जुन की माध्यमिक कारिका को ही इस दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। शून्यवाद को सापेक्षवाद भी कहा गया है क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव परस्पर निर्भर रहता है। किसी भी वस्तु का अपना कोई निश्चित निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र स्वभाव नहीं होता है। बुद्ध की आचारसंहिता में विषयभोग अर्थात् प्रवृत्ति एवं संन्यास अर्थात् निवृत्ति, इन दोनों के बीच के मार्ग को अपनाने के लिए कहा। उस मध्यममार्ग को प्रधानरूप से ग्रहण करने के कारण शून्यवादी को मध्यममार्गी अथवा माध्यमिक कहते हैं।

'सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥'

(मा.का. 24.18)

[प्रज्ञप्ति को लेकर (प्रज्ञप्ति के साथ) वह शून्यता ही प्रतिपत् है, वही मध्यमा है।]

नागार्जुन ने भी अपने चतुष्कोटि न्याय द्वारा विषयों की उत्पत्ति का खण्डन करते हुए शून्यता को सिद्ध किया है।

'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्याम् नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥'

(मा.का. 1.13)

[किसी के द्वारा कहीं भी किसी भाव पदार्थ को स्वतः, परतः, उभयतः अथवा कारण से उत्पन्न होकर रहना संभव नहीं।]

अतः वस्तुओं के ऊपर-निर्भर होकर तत्त्व के अस्तित्व को नहीं मानते हैं–शून्यवादी। सुत्तपिटक (सूत्रसंग्रहपेटिका) के प्रथमनिकाय दीघनिकाय के अन्तर्गत सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रों में चतुष्कोटिन्याय का विस्तार करके 62 परस्पर विरोधाधिकार का वर्णन किया है। इसी के आधार पर श्री नागार्जुन ने पञ्चस्कन्ध, द्रव्य, गुण और आत्मा को असद् सिद्ध किया है। कार्यकारणादि समस्त सिद्धान्तों के सहित उन परस्पर विरोधाधिकारों से सिद्ध यह विश्व भ्रममात्र है। परन्तु निर्वाण में जो अवर्णनीय शून्यता की अनुभूति होती है वह पारमार्थिक सत्य है। अतः व्यवहार सिद्धि के लिये नागार्जुन जी ने दो प्रकार के सत्य को मान्यता दी- सांवृत्तिकसत्य और पारमार्थिकसत्य।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानाम् धर्मदेशना ।
लोकसंवृत्तिसत्त्यञ्च सत्त्यञ्च परमार्थतः ॥
येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः ।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने ॥

(मा.का. 24.8, 9)

[माध्यंमिक कारिका में कहा है कि बुद्ध भगवान ने दो सत्यों को आश्रित करके उपदेश दिया है। वे दो सत्य हैं– व्यावहारिकसत्य और पारमार्थिकसत्य। जो इन दो सत्यों के विभाग को नहीं जानता है, वह बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट गम्भीर तत्त्व को नहीं जान सकता।] संवृत्ति अविद्या को कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं-तथ्यसंवृत्ति जो जगत् व्यवहार का कारण है, और मिथ्यासंवृत्ति जो व्यावहारिक भ्रान्ति का कारण है। पारमार्थिक सत्य तो केवल अद्वयावस्थारूपी निर्वाण में अनुभव होता है। यदि निर्वाण को कोई बुद्धि से ग्रहण करना चाहता है तो उसके लिए अष्टसाहस्त्रिक प्रज्ञापारमिता में स्पष्ट कहा है कि-

'निर्वाणमपि मायोपमम् स्वप्नोपमम्'

(अष्ट. पृ. 40)

[निर्वाण (मोक्ष) भी उसके लिए माया के तुल्य तथा स्वप्न पदार्थ के सदृश्य अलीक ही होगा]

अर्थात् बुद्धिग्राह्य नहीं है। शतसाहस्त्रिक में भी इसी प्रकार के वचन हैं-

'नामरूपमेव माया, मायैव नामरूपम् ।'

(शत. पृ. 898)

और

'मायायाः पदं न विद्यते ।'
(शत. पृ. 209) एवं

'यच्च प्रज्ञप्तिधर्मं तस्य नोत्पादो न ।
विरोधोऽन्यत्र संज्ञासंकेतमात्रेण व्यवह्रियते ॥'

(शत. पृ. 325)

[नाम और रूप (आकृति) ही माया है। अत: माया ही नाम और रूप है। माया की न गति, न आश्रय और न फल है। जो प्रज्ञप्ति का धर्म (स्वरूप) है, वह न उत्पन्न होता है और न उसका किसी से विरोध है। अत: अन्यत्र (जगत् में) नाम मात्र से व्यवहार किया जाता है।]

लङ्कावतारसूत्रों में भी कहा है–

'चतुष्कोटिकम् च महामते लोकव्यवहारः ।'

(लंसू. पृ. 88)

[लोकव्यवहार चतुष्कोटिक है]

अर्थात् किसी वस्तु को सत्, किसी को असत्, किसी को सदसदुभय और किसी को सदसद्विलक्षण के रूप में व्यवहार होता है। जो इन चार कोटियों से परे है वही शून्य है। इसी तरह के कथन ललिताविस्तार, समाधिराज और सुवर्णप्रभास आदि ग्रन्थों में हैं। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मवाद से–अद्वयवाद, दृष्टिवाद से शून्यवाद एवं पुद्गलनैरात्म्यवाद से धर्मनैरात्म्यवाद की सिद्धि ही शून्यवाद है। इसलिये नागार्जुन ने अपनी प्रथम कारिका में अष्ट निषेधों के कथन द्वारा पारमार्थिक सत्यभूतशून्य को लक्षित करके द्वितीय कारिका में व्यावहारिक सत्यता के विषय बुद्ध को नमन किया है।

'अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥'

(मा.का. 1.1)

[निरोध, उत्पत्ति एवं उच्छेद रहित, शाश्वत (नित्य) नहीं, एकार्थ नहीं और अनेकार्थ भी नहीं, आनेवाला जानेवाला भी नहीं।] और

'यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धः तम्वन्दे वदतां वरं ॥'

(मा.का. 1.2)

[सम्यक्प्रकार से बुद्ध (तत्त्वज्ञानी), कल्याणस्वरूप निष्प्रपञ्च प्रतीत्यसमुत्पाद तत्त्व का उपदेश करनेवालों में श्रेष्ठ (बुद्ध भगवान) को मैं नमस्कार करता हूँ।]

प्रतीत्यसमुत्पाद का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं कि **'अस्मिन् सति इदम् भवेत्'** यह असम्भव है क्योंकि-

'नैवाग्रम् नावरम् यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्'

(मा.का. 11.2)

अर्थात् [आदि और अन्त में सत्तारहित वस्तु मध्य में सत्य कैसे हो सकती है।]

इसी प्रकार की उक्ति समाधिराज में भी है–

'तस्मादुभेऽन्तविवर्जित्वा मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः।'

(सरा पृ. 30)

[आदि और अन्त दोनों को छोड़कर विद्वान कभी बीच में स्थान की कल्पना नहीं करते।]

तात्पर्य है कि किसी भी तत्त्व को ग्राह्यरूप से ग्रहण नहीं करता। एक और कारिका में कहते हैं-

'कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावश्चेन्न विद्यते ।
कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावो यदि विद्यते ।'

(मा.का. 3.4)

[यदि कोई स्वभाव है ही नहीं तो फिर किसका अन्यथाभाव (परिवर्तन) होगा। यदि स्वभाव है तो फिर किसका अन्यथाभाव होगा।]

इसी तरह चन्द्रकीर्ति, आर्यदेव और शान्तिदेव आदि ने भी कहा है। उस अन्तिम सत्य के स्वरूप का कथन अस्तिता अथवा नास्तिता आदि चतुष्कोटि द्वारा अवर्णनीय है–यही सिद्ध होता है। उसे अष्ट साहस्रिक प्रज्ञापारमिता में ब्रह्म शब्द से भी कहा है-

'सुभूते! तथताविनिर्मुक्तो नेह कश्चिद् धर्म उपलभ्यते'

(अष्ट. पृ. 453) और

'सर्वधर्मा नाऽऽगच्छन्ति न गच्छन्ति न रज्यन्ते न विरज्यन्ते
असक्ताः सङ्गासङ्गविगताः ब्रह्मभूताः ।'

(अष्ट. पृ. 476)

[हे सुन्दरबुद्धिवाले! तथता से रहित किसी वस्तु का अनुभव इस लोक में नहीं हो सकता। अतः सभी वस्तुयें आत्मरूप (क्षणिकविज्ञानरूप) हैं, क्योंकि वे गमनागमन, रञ्जनविरञ्जन, सङ्गासङ्ग रहित असक्त हैं।]

उसी ग्रन्थ में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टियों का भी वर्णन है। लङ्कावतार सूत्रों में विकल्प तथा द्वैत से परे एवं क्लेशावरण और ज्ञेयावरण को मिटाकर धर्म नैरात्म्य तथा पुद्गल नैरात्म्य की ज्ञानानुभूति को निर्वाणानुभूति कहा है।

इसलिये निर्वाण को बुद्धि एवं भाषातीत माना है। यह तैत्तिरीय श्रुति के अनुकूल है-

'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह ।'

(तैत्त. 2.9)

[जहाँ से बिना प्राप्त किए हुए ही मनसहित वाणी लौट आती है उसे ज्ञानानुभूति कहते हैं,]

लङ्कावतारसूत्र में स्पष्ट कहा है-

'अवचनं बुद्धवचनम्..............यो क्षरपतितम् धर्मं देशयति
स प्रलपति निरक्षरत्वात् धर्मस्य ।'

(लंसू पृ. 142)

[बुद्ध से उपदिष्ट तत्त्व अवाच्य है......... जो वस्तु को विनाशी रूप से उपदेश देता है वह अवश्य मिथ्या कथन कर रहा है। क्योंकि वस्तु अविनाशी है।]

और उसी में -

'यत्सर्वप्रपञ्चातीतं स तथागतः ।
एवं बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते,
तस्मादनभिलप्यस्ते निःस्वभावश्च देशितः ॥'

(लंसू पृ. 116)

[जो संपूर्ण प्रपञ्च से परे है वही तथागत है। बुद्धि से पृथक-पृथक् गृहीत वस्तुओं का विवेचन करने पर उनके स्वभाव का निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि बुद्ध ने उन्हें स्वभाव रहित करके उपदेश किया है। इसलिये वे अनिर्वाच्य हैं।]

उस पारमार्थिकतत्त्व को सौन्दरानन्द नामक ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों से कहा है-

'शान्तं शिवं साक्षिकुरूष्व धर्मं। क्षेमपदं नैष्ठिकमच्युतं तत् ॥'

(सौन्द. 16.26, 27)

[वह धर्म = तत्त्व शान्त, कल्याणरूप, साक्षिरूप, क्षेमपदं = परमपद, नैष्ठिक एवं अच्युत पद है।]

बुद्धि को उस पारमार्थिक अनुभूति की ओर ले जाने के लिये चार प्रकार के ध्यान, तीन प्रकार की समाधि और बोधिसत्त्वभाव की दस अवस्थाओं से गुजरना पड़ेगा। संक्षेप में उनका परिचय ऐसा है-प्रथम ध्यान में बुद्धि सामान्यप्रीति तथा सुख को लेकर सवितर्क एवं सविचार भाव में क्रियाशील रहती है; दूसरे ध्यान में बुद्धि समाधि से प्रीति एवं सुख तथा आत्मसम्प्रसाद से युक्त निर्वितर्क और निर्विचार

भाव में रहती है; तीसरे ध्यान में बुद्धि शान्त अर्थात् अविचार की ओर बढ़ती है, निष्प्रीतिक दशा में पहुँचती है और उच्चकोटि के सुखविहार करती है; अन्तिम ध्यान में अदु:खसुख दशा को प्राप्तकर, अनुभव के साथ एक होकर आनन्दविहार करती है। प्रथम समाधि को शून्यता समाधि कहते हैं, इसमें यह अनुभव करता है कि संसार स्वभावशून्य है अर्थात् पारमार्थिक सत्य से रहित और पारमार्थिकसत्य प्रपञ्चशून्य है। दूसरी समाधि को अनिमित्ता समाधि कहते हैं, यहाँ व्यक्ति को अनुभव होता है कि अविद्या के कारण अद्वय पारमार्थिक सत्य ही द्वैत प्रपञ्च के रूप में भास रहा है। तीसरी समाधि को अप्रणिहित समाधि कहा है, जहाँ व्यक्ति सर्वातीत होकर पारमार्थिक सत्य के साथ एकीभूत होता है। ये चारों प्रकार के ध्यान एवं तीनों प्रकार की समाधि का वर्णन शतसाहस्रिक और ललिताविस्तार में विस्तृत रूप से किया गया है। दशभूमिकासूत्र में उक्त बोधिसत्त्वभाव की दस अवस्थायें इस प्रकार हैं- 1. प्रमुदिता-बुद्धि द्वारा सांसारिक वस्तुओं में यथार्थ ग्रहण करने की अक्षमता के बोध के साथ यथार्थ ज्ञान की जिज्ञासा। 2. विमला-दस शील सम्बन्धी आर्यगुणों को प्राप्त करना। 3. प्राभाकरी-द्वैतप्रपञ्च एवं चतुष्कोटिक बुद्धि को असत्य जानना। 4. अर्चिष्मती-बुद्धिगत सर्वसंशय एवं सर्वदु:खों की समाप्ति। 5. सुदुर्जया-सांवृत्तिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों को समझना। 6. अभिमुक्ति-प्रतीत्यसमुत्पाद स्पष्ट होना है और अहंकार का वश में होना। [इन छ: का संकेत पूर्व में है] 7. दूरङ्गमा-शून्यता के रूपों का पृथक् स्पष्टानुभाव होना। 8. अचला-जगत् एवं परमार्थ के सत्यस्वरूप अद्वयभाव की अनुभूति होना। 9. साधुमती-पारमार्थिक सत्य शून्यता में निष्ठा बढ़ना, और अन्त में 10–धर्ममेघा-अद्वयस्वरूप शून्यता में प्रतिष्ठित होना है।

उस अद्वयशून्यता के बारे में नागार्जुन जी कहते हैं-

'अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पं अनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम् ॥'

(मा.का. 28.9)

[जिससे बढ़कर और कोई प्रत्यय नहीं (अपरप्रत्यय) एवं जो निष्क्रिय (शान्त) प्रपञ्चों से (विषयों से) असम्बद्ध, निर्विकल्प और नानार्थरहित है, वह तत्त्व है, यही तत्त्व का लक्षण है।]

इसलिये विग्रहव्यावर्त्तनी कारिका में नागार्जुन कहते हैं कि यदि कोई कहता है-उक्तशून्यता का लक्षण प्रमाणादि द्वारा किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि सब कुछ असत्य है, शून्य है; तो ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि

'यदि हि वयं ब्रूमः 'इदं वचनं अशून्यं, शेषाः सर्वभावाः शून्या' इति ततो वै सामिकत्वं स्यात्, न चैतदेवम्।'

(विव्या. पृ. 12)

[यदि हम कहते–यह वचन (सर्वं शून्यं) शून्य नहीं है अपितु इस वचनरूपी भावपदार्थ से भिन्न सकल भाव पदार्थ शून्य हैं तो हम पूर्वपक्षी के समान (समसिद्धांत) सिद्धान्तवाले होते। लेकिन हमने ऐसा नहीं कहा है।]

पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्षादि-प्रमाणों द्वारा पूर्वपक्ष के आरोपों को दूर करते हैं; न कि हम कोई प्रमाण स्वीकार करते हैं, क्योंकि प्रमाणों की प्रामाण्यता सिद्ध करना असम्भव है–

'न वयं स्वतन्त्रमनुमानं प्रयुञ्ज्महे, परप्रतिज्ञानिषेधफलत्वादस्मदनुमानं।'

(मा.वृ. पृ. 34)

[हम अपने मत को सिद्ध करने के लिए अपना कोई स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नहीं करते हैं, किन्तु हमारा अनुमान दूसरों की प्रतिज्ञा (अनुमान) का निषेध करने में पर्यवसन्न है।]

यह माध्यमिकवृत्तिकार चन्द्रकीर्ति की उक्ति प्रमाण है। अतः कहा है कि-

'सर्वोपालम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः ।
न क्वचित्कस्यचित्कश्चिद्धर्मो बुद्धेन देशितः ॥'

(मा.का. 25:24)

[सब प्रकार के ज्ञान (विषय ज्ञान) रहित, प्रपञ्चरहित, कल्याणरूप–ऐसे किसी तत्त्व को, कहीं भी, किसी प्रकार का भी, उपदेश बुद्ध ने नहीं किया।]

आर्यदेव भी अपने चतुःदशक के अन्त में लिखते हैं-

'सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते ॥'

(चतुः श्लो. 400)

[जिस वस्तु का सत्, असत् अथवा सदसद्–किसी पक्ष की व्याख्या नहीं हो सकती, उस वस्तु का किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण करना असंभव है।]

इस तरह माध्यमिक सिद्धान्त में शून्यता से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है–पारमार्थिक दृष्टि से, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः बौद्ध के सामान्यदर्शन में कहे गए पदार्थ तथा प्रक्रिया स्वीकृत है। अतः आत्मा की विशिष्टविज्ञानरूपता का उच्छेद (नाश) होना ही मोक्ष है क्योंकि अष्टसाहस्त्रिकप्रज्ञापारमिता में कहा है-

'निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपमं'

(अष्ट. पृ. 40)

[निर्वाण भी स्वप्न के समान है, माया के समान है।]

योगाचार :-तत्त्वानुभूति के लिये योगाभ्यास पर जोर देने से इन्हें योगाचार एवं समस्त भ्रान्तियों का आधार विज्ञान को मानने से विज्ञानवादी भी कहा जाता है। इस दर्शन की विरचना मैत्रेयनाथजी के शिष्य असङ्ग जी ने किया। यद्यपि ये विचार लङ्कावतारसूत्र एवं अश्वघोष के महायान सूत्रों में उल्लिखित हैं तथापि इसे पृथक् दर्शन के रूप में असङ्ग एवं उनके छोटे भाई (जिसे दूसरा बुद्ध मानते हैं) वसुबन्धु द्वारा स्वतन्त्र ग्रन्थरचना द्वारा स्थापित किया गया।

महायानाभिधर्मसङ्गितिशास्त्र में महायान मार्ग की 7 विशेषताओं को असङ्ग ने गिनाया है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं -1. महायान विस्तृत एवं समझने योग्य है 2. समस्त जीवों के प्रति विश्वप्रेम दर्शाया है 3. द्रष्टृ-दृश्य भाव को भ्रान्ति रूप से दर्शाकर पुनः उसका निषेधकर विज्ञानात्मक चेतन को स्वीकारता है 4. समस्तजीवों के कल्याण के लिये कार्यरत बोधिसत्त्व ही आदर्श है 5. बुद्ध ने अपने उपायकौशल्य से शरणागत अधिकारियों के अनुसार उपदेश दिया 6. बोधिसत्त्व भाव की दस अवस्थाओं से गुजरकर बुद्ध बनना ही जीवन का लक्ष्य है और 7. जीवों की आध्यात्मिक प्यास को बुद्ध ही बुझा सकते हैं। इसी तरह महायानसम्परिग्रहशास्त्र में असङ्ग ने योगाचार की दस विशेषताओं का वर्णन किया है। जो कि संक्षेप में ऐसे हैं-1. आलयविज्ञान सभी जीवों के भीतर व्याप्त है। 2. तीन प्रकार का ज्ञान होता है-भ्रान्ति, सापेक्ष और निरपेक्ष। 3. द्रष्टृ-दृश्यभेद आलयविज्ञान की ही विभिन्न अभिव्यक्ति है। 4. छः प्रकार के प्रत्यक्ष हैं 5. बोधि सत्त्वभाव की दस अवस्थायें हैं, 6. महायान श्रेष्ठ है क्योंकि यह स्वार्थिक नहीं है। 7. बोधि द्वारा बुद्ध के धर्मकाय के साथ ऐक्यप्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। 8. द्वैतभाव से उठकर अद्वयभाव की प्राप्ति निर्वाण है 9. संसार एवं निर्वाण परमार्थदृष्टि से अभिन्न हैं। ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति नानात्व के परित्यागपूर्वक समत्वभाव द्वारा होती है। 10. बुद्ध का धर्मकाय ही यथार्थ सत्य है, चैतन्य है और विज्ञान है। वही संसारदृष्टि से निर्माणकाय एवं निर्वाणदृष्टि से सम्भोगकाय (आनन्दमयशरीर) बनता है।

लङ्कावतार सूत्रों में स्पष्ट कहा है कि-विज्ञान से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यद्यपि आलयविज्ञान को क्षणिकधारा माना जाता है तथापि लङ्कावतारसूत्र में विज्ञान को-ग्राह्यग्राहकविसंयुक्त, उत्पादस्थितिभंगवर्ज्य, विकल्पप्रपञ्चरहित, निराभासप्रज्ञगोचर आदि विशेषणों से कहा है। अनादिकालप्रपञ्चदौस्थुल्यवासना ही अज्ञान है जिससे प्रेरित होकर आलयविज्ञान वैयक्तिक प्रवृत्तिविज्ञान के रूप में

भासता है। प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान के अत्यन्त सदृश भी नहीं एवं अत्यन्त भिन्न भी नहीं, किन्तु तरङ्ग एवं समुद्र जैसे हैं।

असङ्ग ने अपने महायानसूत्रालङ्कार नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अतिरिक्त प्रमाणों का खण्डन कर समस्त दृष्टिगोचर पदार्थ को क्षणिक सिद्ध किया है। सर्वत्र प्रवृत्तिविज्ञान को क्षणिक कहा है। जबकि आलयविज्ञान को स्वप्रकाशादि शब्दों से कहा है।

'मतञ्च चित्तं प्रकृतिप्रभास्वरम् सदा तदागन्तुकदोषदूषितम् ।'

(महा.सू. 13.9)

[सिद्धान्त यह है कि चित्त (आत्मा) स्वभाव से सदा स्वप्रकाश है। वह आगन्तुक दोषों से दूषित जैसे प्रतीत होता है।]

इसलिये मोक्ष भ्रमनिवारण मात्र है। उसी में-

'ततश्च मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः ।'

(महा.सू. 6.2)

[इसलिये केवल भ्रम के संक्षय को मोक्ष कहते हैं।]

वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोश में एवं विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की टीका विंशतिका और त्रिंशिका में विज्ञान को चेतनपूर्ण कहा है। इसका अनुभव अन्तिम ध्यानप्रक्रिया से होता है, उस शुद्ध पवित्रज्ञान को श्रामण्य और ब्राह्मण्य शब्दों से कहा है।

'श्रामण्यममलो मार्गः, ब्राह्मण्यमेव तत् ।'

(अभि.को. 6.51, 54)

[यह विशुद्ध मार्ग = अन्तिम ध्यान से उत्पन्न ज्ञान को श्रामण्य कहते हैं और उसी को ब्राह्मण्य भी कहते हैं।]

नाम, रूप एवं अरूपात्मक जगत्त्रय, विचार, मन, अहंकारादि केवल संज्ञा मात्र हैं—वास्तविक नहीं। त्रिंशिका में एकान्तवाद की स्थापना, क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण रूपी अविद्याद्वयनाशपूर्वक पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य स्वरूप विज्ञान को सिद्ध किया है। कहा है कि आलयविज्ञान भी विज्ञाप्तिमात्र की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। अतः नागार्जुन द्वारा सिद्ध किया गया बोधि अथवा प्रज्ञा, आर्यदेव के चित्त एवं शान्तिदेव के बोधिचित्त, ये सब विज्ञप्तिमात्र के विभिन्न रूप हैं। मुख्यतः विज्ञप्ति तीनरूप से अभिव्यक्त होती है। सर्वप्रथम आलयविज्ञान (समस्त प्रक्रिया का आधार), दूसरा क्लिष्टमनोविज्ञान (द्रष्टृभाव) तथा तीसरा विषयविज्ञप्ति (दृश्य जगत्)। यहाँ ध्यान रखें कि लङ्कावतार सूत्र का आलयविज्ञान और

वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रा एक ही हैं।

'आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा ।
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च ।'

(त्रिंशिका. का. 1, 2)

[आत्मा में स्थित शक्ति के कारण जो विविध परिणाम है, वह इस शुद्ध विज्ञप्तिमात्रा में है। वह आत्मा (विज्ञान = विज्ञप्तिमात्रा) तीन रूप से परिणत होता है। 1. विपाक = आलयविज्ञान (समष्टि) 2. मननं = क्लिष्ट मनोविज्ञान (व्यष्टि अहंकार अथवा जीवभाव) और 3. विषयविज्ञप्तिः = मन की विभिन्न अवस्थायें और बाह्य जगत्।]

इन्हीं तीनों को परिनिष्पन्न, परतन्त्र एवं परिकल्पिता भी कहा है। इनके स्वरूप क्रमशः अविकल्पज्ञानगोचर, लौकिकगोचर और अत्यन्तशून्य हैं। यहाँ भी शून्य का अर्थ लौकिकशून्यता नहीं लेना चाहिए, अपितु अध्यारोपित का अपने आधार में निषेध करना है। अतः अध्यारोपित वस्तु मिथ्या है एवं आधार सत्य है। इसे स्पष्ट करने के लिए योगाचारदर्शन में **'अभूतपरिकल्पा'** को माना है। तीन व्युत्पत्तियों द्वारा पूर्वोक्त विज्ञप्ति के तीनों भेदों से सम्बन्ध व्यक्त करते हैं क्रम से-**अभूतस्य परिकल्पो यस्मिन्, अभूतस्य परिकल्पो यस्मात्** और **अभूतश्चासौ परिकल्पितः।** समस्त द्रष्टृदृश्यभाव परिकल्पना की आधारभूत विज्ञप्ति भी शाश्वत सत्य नहीं है अपितु क्षणिक है, क्योंकि कहा है-

'विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः'

(त्रिशिंका 27)

[यह समस्त जगत् विज्ञप्तिमात्र (शुद्धविज्ञान) ही है-यह कथन भी उपलब्धि के कारण है।]

यह कथन **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा. 3.14.1) इस छान्दोग्योपनिषद् के कथन के समान है।

यद्यपि इससे लगता है कि विज्ञान को कूटस्थनित्य न मानकर आपेक्षिक नित्य मानते हैं, तथापि बुद्धि द्वारा अग्राह्यता को लेकर कहते हैं, क्योंकि आगे तीसवीं कारिका में कहते हैं-

'स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्मकायोऽयं महामुनेः'

(त्रिंशिका. 30)

[वह यह-विज्ञप्तिमात्रा–अबाध्य अस्तित्ववाला, बुद्धि का अविषय, कल्याणरूप, नित्य, आनन्दरूप, नित्यमुक्त धातु-तत्त्व है और महामुनि का विशुद्ध सत्त्व शरीर है।]

स्थिरमति कृत इसके भाष्य में कहा है-

ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षयतया, सुखो नित्यत्वादेव ।

यदनित्यं तद्दुःखं अयञ्च नित्यं इत्यस्मात्सुखम् ॥

[ध्रुव शब्द का अर्थ है नित्य क्योंकि उस विज्ञान का क्षय नहीं होता। नित्य होने से वह सुख-अर्थात् आनन्दरूप है। जो अनित्य है वह दुःख रूप होता है। अतः यह नित्य होने से सुखरूप है अर्थात् आनन्दरूप है।]

अतएव वसुबन्धु के सिद्धान्तानुसार विज्ञप्तिमात्रा को अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म, आलयविज्ञान को ईश्वर, क्लिष्टमनोविज्ञान को जीव, विषयविज्ञप्ति को जगत् एवं परिणाम को विवर्त के साथ तुलना की जा सकती है। शेष बौद्ध एवं वेदान्त की सामान्यता एवं विषमता पर विचार अन्त में करेंगे। जैसा कि पूर्व में संकेत किया गया– योग की 17-भूमियों को माना है इसलिये इन्हें योगाचार कहते हैं। उन भूमियों का संक्षिप्त परिचय- 1. विवेकज्ञान से वैराग्य प्राप्त होना विज्ञानभूमि। 2. मनन द्वारा विवेकविज्ञान एवं वैराग्य दृढ होना मनोभूमि। 3. स्थूल और सूक्ष्म दोनों तत्त्वों में मन की स्थिरता सवितर्का सविचारा भूमि है। 4. सूक्ष्मतत्त्वों के ध्यान में बुद्धि की नैपुण्यता अवितर्का सविचारा भूमि है। 5. स्थूल सूक्ष्मतत्त्वों का आलम्बन त्यागकर केवल चैतन्य का ध्यान अवितर्काऽविचाराभूमि है। 6. बुद्धि जब यत्नपूर्वक एकाग्रता से युक्त होती है तो समाहितभूमि है। 7. विना यत्न की एकाग्रता हो तो असमाहितभूमि है। 8. स्वविषयक ज्ञान से युक्त समाधि सचित्ताभूमि है। 9. स्वविषयक ज्ञानरहित समाधि अचित्ता भूमि है। 10. संसारमृषात्व की दृढ़ता के लिये बुद्धोपदेश श्रवण करता है तो श्रुतमयीभूमि है। 11. श्रुत का युक्तियों से निश्चय करने को चिन्तामयीभूमि कहते हैं। 12. श्रवणमनन के साथ समाधि अभ्यास को भावनामयीभूमि कहते हैं। 13. निर्वाण मार्ग पर आरूढ होना श्रावकभूमि। 14. वस्तुओं का अर्थात् अर्थों का स्वतः स्फुरण होना प्रत्येकबुद्धभूमि। 15. परार्थ भाव एवं परकल्याणार्थ तत्परता और प्रावीण्यता आदि विशिष्ट बुद्धि को बोधिसत्त्वभूमि। 16. जिसमें कृपापूर्वक सभी के उद्धार के लिये चित्त का लगा रहना सोपाधिकबुद्धभूमि एवं 17. निरुपाधिकबुद्धभूमि परम उपशमात्मक निर्विकल्प निर्वाण को कहते हैं।

योगाचार दर्शन में 100 पदार्थ माने गये हैं। वे हैं-1. असंस्कृत छः (6) (अक्षणिक-आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, संज्ञावेदनानिरोध और तथता); 2. प्रवृत्तिविज्ञान चित्त आठ (8) (चाक्षुषादि पांच, मानससामान्य,

क्लिष्टमानस और आलयविज्ञान) 3. चैतसिक इक्यावन (51) [(चित्तमहाभूमिक-10, कुशलमहाभूमिक-10, अकुशलमहाभूमिक-2, क्लेशमहाभूमिक-6, परोत्तक्लेश-भूमिक-10, अनियतभूमिक-8, (कौकृत्य, सिद्ध, सवितर्क, निर्वितर्क, विचार, निर्विचार, द्वेष एवं राग) और नियतभूमिक–5,] 4. चित्तविप्रयुक्त-24 (प्राप्ति, अप्राप्ति, निकायसभाग, आसंज्ञिक, असंज्ञी समापत्ति, निरोधसमापत्ति, जीवितेन्द्रिय, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यत्व, नामकाय, पदकाय, रूपकाय, व्यजननकाय, प्रवृत्ति, प्रत्यनुबन्ध, जवन्य, अनुक्रम, देश, काल, गणना सामग्री, परस्परसमवाय एवं भेद)। 5. रूप 11 (चक्षु:श्रोत्रादि पाञ्च, रूपशब्दरसादि पाञ्च और अविज्ञप्ति)। अत: इसे शतपदार्थी कहा है। इसलिये श्रान्त्यादि धर्म विशिष्ट आत्मा की निवृत्ति हो जाने पर विशुद्ध आलयविज्ञानरूपी क्षणिक तत्त्व की स्थिति ही मोक्ष है।

सौत्रान्तिक:–त्रिपिटकों में से सुत्तपिटक से सूत्रान्तों (सूत्रों) को ज्यादा महत्त्व देने के कारण इन्हें सौत्रान्तिक कहते हैं। इन्हें स्वतन्त्रविज्ञानवादी और स्वतन्त्रयोगाचार भी कहते हैं। ये बाह्यार्थानुमेयवादी हैं। इनके विचारों को देखते हुए इन्हें बौद्धिकन्यायदर्शन कहते हैं क्योंकि इन्होंने विभिन्न स्वतन्त्र युक्तियों एवं तर्कों द्वारा विज्ञान को पारमार्थिक सत्य सिद्ध किया है, जिसके लिये सुत्तपिटक में कथित तर्कपूर्ण एवं प्रामाणिक तथा चार कटुसत्य को अपनाया है। पूर्वोक्त वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग ने इसकी आधार शिला रखी। प्राचीन न्याय के जन्मदाता गौतम महर्षि एवं नव्यन्याय के जन्मदाता गंगेशोपाध्याय के समान दिन्नाग को मध्यकालीनन्याय का जन्मदाता मानते हैं। दिङ्नाग कृत कारिकाओं के आधार पर धर्मकीर्ति ने इसका विस्तार किया, शान्तरक्षित ने पूर्णता प्रदान की। इस दर्शन के अन्तिम दार्शनिक महान् बौद्धगुरु कमलशील को मानते हैं।

यह सौत्रान्तिक मत तर्कपूर्ण है क्योंकि स्वार्थानुमान, परार्थानुमान एवं अपोह को स्वीकार करता है; प्रामाणिक है क्योंकि प्रमाण, प्रमेय, प्रमा एवं प्रामाण्यता पर विचार किया है एवं आध्यात्मिक है क्योंकि विज्ञान को सर्वप्रमाणातीत एवं तर्कातीत मानते हैं। यद्यपि शून्यवादी नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्त्तनी नामक न्यायपरक ग्रन्थ लिखे एवं वसुबन्धु ने वादविधि एवं वादविधान नामक दो ग्रन्थ न्यायप्रधान लिखे तथापि दिङ्नाग ने पूर्वोक्त कृत्यों की त्रुटियों को सुधारकर सर्वाङ्गीण विकास किया। इसलिये सौत्रान्तिक दर्शन को बौद्धों का न्यायदर्शन माना गया है। दिङ्नाग का न्यायबिन्दु एवं प्रमाणसमुच्चय, धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक, शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह, कमलशील की पञ्जिका इस दर्शन के प्रमुखग्रन्थ हैं। कुमारलाट भी इस मत के समर्थक हैं।

सौत्रान्तिक बाह्य जगत् के अस्तित्व को विज्ञान से अतिरिक्त एवं विज्ञान के समान सत्य मानते हैं। संवेदना और उसके विषयों के एक साथ अनुभव होने मात्र से उन्हें अभिन्न मानना उचित नहीं, किन्तु भिन्न हैं, क्योंकि ज्ञान आत्मनिष्ठ है जब कि विषय बाह्य हैं। भिन्नता का कारण यह भी है कि ज्ञान के रहते हुए भी विषय का अभाव रहता है। यदि वस्तु और ज्ञान अभिन्न हों तो वस्तु की अनुभूति अहम् के रूप में होती अर्थात् 'मैं घट हूँ', किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु अत्यन्त असद् होती तो घटज्ञान और पटज्ञान आदि एक ही होते, क्योंकि ज्ञान एक धारा है और विषय उससे अभिन्न हैं; लेकिन ऐसा नहीं होता अपितु प्रत्येक ज्ञान भिन्न है-ऐसी अनुभूति होती है। यद्यपि बाह्य वस्तुयें हैं तथापि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु उनके प्रतिरूप का ही ज्ञान होता है, जिससे अनुमान करके विषयों को जान लिया जाता है। इस पद्धति को परोक्ष यथार्थवाद कहा जाता है। अत: मन से अतिरिक्त वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने से वस्तुवाद को स्वीकार किया है। चार कारणों के परस्पर संयोजन से ज्ञान उत्पन्न होता है, वे हैं-1. घटपटादि विषय-आलम्बन कारण, जिससे आकार का निर्माण होता है। 2. चेतन मन तथा पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था को समनन्तर कारण कहते हैं। 3. इन्द्रियाँ-इन्हें अधिपति कारण कहा है और 4. सहकारीप्रत्यय अर्थात् आकार, आवश्यक दूरी, प्रकाश इत्यादि।

बाह्य जगत् में निरवयव, स्वतन्त्र, परस्पर असंयुक्त परमाणुओं का निवास मानते हैं। परमाणुपुञ्ज को अवयवी मानते हैं। सामान्य की सत्ता नहीं मानते हैं। केवल दो प्रमाण -प्रत्यक्ष और अनुमान स्वीकृत हैं। अनुमान भी दो मानते हैं-स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने ज्ञान के लिये और परार्थानुमान दूसरे के संशय को दूर करने के लिये प्रयोग किया जाता है। बौद्धसामान्यदर्शन में उक्त चार आर्यसत्य मार्ग ही सत्य हैं। वे ही अनास्रव धर्म हैं। पूर्वोक्त पञ्चस्कन्ध-रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान तथा संस्कार को सौत्रान्तिक मत में भी माना है। ये स्कन्ध प्रज्ञप्ति मात्र हैं। यदि सभी स्कन्ध प्रज्ञप्ति मात्र हैं एवं प्रज्ञप्ति क्षणिक है तो बाह्यार्थ का अनुमान कैसे होगा, ऐसी शंका नहीं करना, क्योंकि प्रथम प्रज्ञप्ति में आकार ग्रहण होता है। तदुत्तरक्षण में समानाकार बाह्यार्थ अनुमिति रूप होता है। इसका कारण यह है कि चैतन्यसंतति रूपी बुद्धि निराकार है। अत: संसार का मूल अविद्यासन्तति और वासनासन्तति मानते हैं। कर्मों के कारण जब ये दोनों उद्भूत होती हैं तब नामस्कन्ध और रूपस्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इनसे 6 आयतनों से युक्त शरीर का जन्म होता है, जिसमें इन्द्रियधातुषट्क, उनसे उत्पन्न

विज्ञानधातुषट्क और विषयात्मक आलम्बनधातुषट्क उत्पन्न होते हैं। ये ही प्रसिद्ध अष्टादशधातु हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों को कुशल एवं अकुशल भेद से दो माना गया एवं प्रवृत्तियां भी बाह्य एवं अन्तः भेद से दो हैं। लेकिन सब कुछ क्षणिक है। भूत तथा भावी शून्य है जबकि वर्तमान सत् है जो क्षणिक है। असत् से उत्पन्न हुआ है और असत् में लीन होगा, केवल वर्तमान् में सत् प्रतीत होता है। अतः आत्मा असत् है एवं असद्रूपता की प्राप्ति ही निर्वाण है। इसलिये धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु में लिखते हैं-

'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणम् स्वलक्षणम् परमार्थसत् ।'

(न्या.बि 1.15)

[प्रयोजनसिद्धि एवं क्रियाशीलता के सामर्थ्य से विशिष्ट स्वप्रकाश वस्तु परमार्थसत् है।]

दीपक के समान क्षणिक विज्ञान न तो धारा है न तो कोई स्थिर वस्तु, केवल भ्रान्ति है। कार्यकारणभाव के लिये प्रतीत्यसमुत्पाद-सिद्धान्त को स्वीकार किया है। क्षणिक होने के कारण इनके नाश के लिये प्रयत्न की जरूरत नहीं अपितु समस्त साधनाओं द्वारा साधनीय है-क्लेशों की अनुत्पत्ति, यही पुरुषार्थ है। विनाश दो प्रकार का है क्षणस्थितिधर्मरूप विनाश और ध्वंसरूप विनाश; इनमें प्रथम सर्वातिशय अनित्यत्व एवं दूसरा व्यावहारिक वैयक्तिकनाश है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में कहा है-

'यो हि भावः क्षणस्थायी विनाश इति गीयते ।'

(तत्त्व.का.375)

[जो वस्तु क्षणपर्यन्त स्थिर रहती है, उसका विनाश होता है।]

अतः नाश का कारण अतिरिक्त कुछ नहीं अपितु स्वयं है। पूर्व का नाश ही समनन्तर उत्पन्न सदृशवस्तु के प्रति कारण है न कि वस्त्वन्तरभावित्व के प्रति, क्योंकि कहा है-

'चलभावस्वरूपस्य भावेनैव सहोदयात् ।'

(तत्त्व.का.375)

[पूर्व परिणामरूप भाव पदार्थ के नाश के साथ निरन्तर परिवर्तनशील (परिणामी) भाव पदार्थ का उदय होता है।]

'क्षण' काल का प्रभेदवाचक नहीं है किन्तु

'उत्पादान्तरस्थायी स्वरूपं यच्च वस्तुनः ।
तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम् ॥'

(तत्त्व.का. 388–389)

[एक वस्तु से दूसरी वस्तु के उत्पन्न होने तक की स्थिरता के स्वरूप को क्षण कहते हैं। उस प्रकार का क्षण जिस वस्तु का स्वरूप है, उसे क्षणिक कहते हैं।]

कार्यकारण एक क्षण में हो नहीं सकते, अतः ये दो क्षणों में माने गये हैं-

'तस्मादनष्टात् तद्धेतोः प्रथमक्षणभाविनः ।
कार्यमुत्पद्यते शक्ताद् द्वितीयक्षण एव तु ॥'

(तत्त्व.का. 512)

[अतः क्षणिक होने के कारण–नष्ट न हुए, समर्थ, प्रथमक्षणभावी वस्तु से द्वितीयक्षण में कार्य उत्पन्न होते हैं।]

वास्तव में न कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता, न कोई ग्रहिता न स्मर्ता, केवल विज्ञान के विभिन्न स्वरूप हैं। इसलिये कहा है-

'कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मतः ।
बन्धास्तद् विगमादिष्टा मुक्तिर्निर्मलता धियः ॥'

(तत्त्व.का. 544)

[कार्यकारणभावात्मक अविद्यादि वस्तुयें ही बन्ध (बन्धन) हैं। उनके नष्ट होने पर प्रज्ञप्तिमात्ररूप विशुद्ध क्षणिकविज्ञानभाव की प्राप्ति ही मोक्ष है।]

क्षणिकविज्ञान को इस प्रकार दृढ़तापूर्वक सिद्धकर वसुबन्धु द्वारा चर्चित परिनिष्पन्न, आलयविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञान आदि व्यवस्था को अस्वीकारते हुए, आध्यात्मिक विषयभूत परमात्मा, आत्मा, प्रकृति आदि का भी खण्डन कर दिया गया है।

दिङ्नाग की एक और विशेष देन है -

अपोह सिद्धान्त

उनका कहना है कि सभी शब्द, नाम और विचार अवश्य ही सापेक्ष एवं शून्य हैं। अतः शब्द की व्याख्या नकारात्मक ही हो सकती है। शब्द विपरीत अर्थों का निषेधकर अपने अर्थ को प्रकट करता है। जैसे-गो शब्द का अर्थ है जो 'अगो नहीं'। इसी प्रकार नाम एवं विचार भी मिथ्या तथा नकारात्मक हैं। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में कहा है-

'नाभिधानविकल्पानाम् वृत्तिरस्ति स्वलक्षणे ।
सर्वं वाग्गोचरातीत मुक्तिर्येन स्वलक्षणम् ॥'

(तत्त्व.का. 734)

[(अभिधान) नाम और (विकल्प) रूप के द्वारा स्वलक्षण में वृत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् वृत्ति द्वारा स्वलक्षण को घटादि के समान विषयरूपेण ग्रहण नहीं

किया जा सकता क्योंकि सभी स्वलक्षण वाणी एवं बुद्धि के अविषयभूत (वस्तु) तत्त्व हैं।]

अभाव का कथन दो प्रकार से होता है- 1. पर्युदास और 2. प्रतिषेध। पर्युदास के भी पुनः दो भेद हैं- 1. बुद्ध्यात्मा और २. अर्थात्मा। कुछ रूढ़शब्द स्वगत सुनिश्चित नित्यशक्ति द्वारा सादृश्य ग्राही होते हैं, जिससे प्रमाणों द्वारा वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिसको भ्रान्ति से वस्तु के रूप में व्यक्ति ग्रहण करता है। उस प्रतिबिम्ब को ही अपोहसिद्धान्त का आधार मानते हैं, क्योंकि जब प्रतिबिम्ब का ज्ञान होता है तब तद्भिन्न का व्यावर्तन शब्दसामर्थ्य से होता है जिसे अपोह कहते हैं। अतः शब्द अपोह का उपलक्षक है। शब्द वस्तु के लक्षक हैं ज्ञापक नहीं अर्थात् जब शब्दबोध्य वस्तु अन्य का व्यावर्तन करती है तब उसे अपोह कहेंगे। इससे वस्तु का निषेध अथवा अपोह की भावरूपता सिद्ध नहीं होती है। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोण से सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवादी हैं तथापि पारमार्थिक दृष्टिकोण से योगाचार के साथ मतैक्य है। इस पर अब विचार करें– कौन क्या कहता है। दिन्नाग अपने आलम्बनपरीक्षा नामक ग्रन्थ में लिखते हैं-

'यदन्तर्ज्ञेयरूपम् हि बहिर्वदवभासते'

(आल.प. 6) इत्यादि,

[मन में ज्ञान का जो विषयत्वेन भान हो रहा है वही बाह्यवस्तु के रूप में प्रतीत होता है।]

विज्ञान स्वयं ग्राह्य-ग्राहक रूप में प्रतीत होता है। इन्द्रियाँ विज्ञान को वस्तुरूप में प्रकट होने के लिये केवल सहकारी कारण हैं। जब कि इन्द्रियाँ भी स्वयं विज्ञान की ही शक्तिविशेष हैं। अतएव धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में कहते हैं-

'तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम् ।
केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते ॥'

(प्रमा.वा. 219)

[हाथी के समान अन्तिम सत्य की अनदेखी करके दार्शनिक केवल लौकिक बुद्धि से बाह्य वस्तुओं को ग्रहण एवं व्यवहार करते हैं।]

वस्तुतः बाह्य अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं । अज्ञान के वजह से समस्तभेददर्शन मानते हैं। पारमार्थिक सत्य के विषय में सौत्रान्तिक, वसुबन्धु का ही अनुसरण करते हैं। अतएव पारमार्थिक सत् की दृष्टि से योगाचार एवं सौत्रान्तिक एकमत हैं। अतः शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रह में कहते हैं-

'एतदेव हि तज्ज्ञानम् यद्विशुद्धात्मदर्शनम् ।
आगन्तुकमलापेतचित्तमात्रत्ववेदनात् ॥'

(तत्त्व.का. 3535)

[जो विशुद्ध आत्मदर्शन है वही वास्तविक ज्ञान है क्योंकि उस दर्शन में आगन्तुक सकल मल रहित चित्तमात्र (आत्मा) का ही अनुभव होता है।]

यद्यपि बुद्ध के स्वरूप में इन सब के परस्पर वैचारिक भेद हैं तथापि उन्हें सभी एक ज्ञानी गुरु मानते हैं। उन्हें सर्वज्ञ, सर्वव्यापि मानना कठिन है क्योंकि आत्मज्ञानी ही अपनी आत्मा को जान सकता है-ऐसा शान्तरक्षित मानते हैं और उन्होंने कहा है-

'स्वयमेवात्मनात्मानमात्मज्योतिः स पश्यति ।'

(तत्त्व.का. 3290)

[वह आत्मज्योति - स्वलक्षण आत्मज्ञानी स्वयं ही निर्मल बुद्धि से अपने आत्मस्वरूप - स्वलक्षणरूपता को, पश्यति - अनुभव करता है।]

इसका कारण है कि स्वयं बुद्ध ने कहा है कि-

'तापाच्छेदनाच्च निकसात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यम् मद् वचो नतु गौरवात् ॥'

(तत्त्व.का. 3588)

[जैसे सोने को ताप, छेदन और कसौटी पर जाँचकर स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार मेरे वचनों को तर्क की कसौटी एवं अनुभवकर स्वीकार करना, न कि सन्तवाणी मानकर।]

यह सौत्रान्तिकमत का संक्षिप्त विचार था।

वैभाषिकः –अभिधम्म पिटक पर आधारित कात्यायनीपुत्रकृत अभिधर्मज्ञानप्रस्थान नामक ग्रन्थ की व्याख्यायें 'विभाषा' और 'महाविभाषा' को मुख्य आधार मानकर स्थापित मत होने से इसे वैभाषिक कहते हैं। इनकी मान्यता है कि बाह्यार्थ क्षणिक होने पर भी यथार्थ हैं तथा उनका प्रत्यक्ष होता है।

धारयति सकलानिति धर्मः

[जो सकल तत्त्वोत्पादकशक्ति को धारण करे उसे धर्म कहते हैं]

इस व्युत्पत्ति के आधार पर धर्म एक स्वतन्त्रशक्ति है, जिससे आत्मा एवं पृथिवी आदि समस्त भूतों की उत्पत्ति मानते हैं, लेकिन वह धर्म भी क्षणिक है। धर्मों के परस्पर अभिगमन से जगत् की उत्पत्ति होती है- इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। जबतक अविद्या है तब तक चैतसिक धर्मों से धर्मान्तर उत्पन्न होते रहते

हैं और आत्मा का प्रतीत्यसमुत्पाद होता रहेगा। इस तरह वह संसारी बना रहेगा। जब प्रज्ञा अविद्या को नष्ट करती है तब पूर्वोक्त विज्ञानसंतति समाप्त होने से शून्यरूपी निर्वाण प्राप्त होता है। वैभाषिक भी अन्यों के समान प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाण मानते हैं (मानमनोहर पृ. 7)। वैभाषिक पृथिवी, जल, तेज एवं वायु के परमाणुओं को मानते हैं, प्रतीत्यसमुत्पाद से ये ही बाहर जगत् रूप में प्रकट होते हैं। लेकिन ये परमाणु भी क्षणिक हैं। चार आर्यसत्य, अष्टांगिकमार्ग, पञ्चस्कन्ध आदि पूर्वोक्त सामान्य विचारों को वैभाषिक भी मानते हैं। इनकी संख्या एवं स्वरूपगत वैचारिक भेद-मात्र को यहाँ प्रकट किया जायेगा। जैसे कि इन्द्रियाँ सभी के मत में छः हैं किन्तु वैभाषिक 22 गिनते हैं। वे हैं पूर्वोक्त छः से अतिरिक्त पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, भविष्यदाज्ञानेन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय, आज्ञातावीन्द्रिय, समाधीन्द्रिय और प्रज्ञेन्द्रिय। क्योंकि इन्द्रिय शब्द का अर्थ है उनके अपने विषयों पर आधिपत्य। करण के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त द्रव्य को अवयवी नहीं मानते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द पाञ्च गुण हैं। कर्म को अविज्ञप्ति कहते हैं। वह दो प्रकार का है-मानस को चेतनाऽविज्ञप्ति एवं वाचिक तथा शारीरिक को चेतनजाऽविज्ञप्ति कहते हैं। मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त, क्षणिक-ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि एक ही वस्तु के विभिन्न अवस्थाओं के नाम हैं।

चैतसिक धर्म 46 हैं, जिन्हें छः भागों में विभक्त किया गया है। वे-10 चित्तमहाभूमिक, 10 कुशलमहाभूमिक, 2 अकुशलमहाभूमिक, 6 क्लेशमहाभूमिक, 10 परीत्तक्लेशभूमिक और 8 अनियतभूमिक हैं। कुछ ऐसे विलक्षण धर्म भी माने गये हैं जो कि न चित्त से होते हैं न भूतों से, वे चित्तविप्रयुक्त कहे जाते हैं। वे कुल 14 होते हैं यथा- प्राप्ति, अप्राप्ति, निकायसभाग, आसंज्ञिक, असंज्ञी समापत्ति, निरोध समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यत्व, नामकाय, पदकाय और व्यञ्जनकाय। पूर्वोक्त समस्त धर्म संस्कृतधर्म (सम्यक् कृत) हैं। स्थविरवादी एक मात्र निर्वाण को असंस्कृतधर्म [ये हेतु जनित नहीं होते, प्रत्ययजनित भी नहीं, अतः नित्य एवं बन्धरहित होते हैं।]मानता है जबकि सर्वास्तिवादी वैभाषिक-आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध नाम से तीन प्रकार के असंस्कृतधर्म मानते हैं। **आकाश** को आवरणाभाव, स्वयं अनावृत्त, परावृत्तिसामर्थ्यशून्य-अतः निरूपाख्य मानते हैं। कुछ लोग आकाश को दो प्रकार का मानते हैं-सास्रव और निरास्रव। प्रथम शब्द-प्रवाहरूपी क्षणिक एवं संस्कृत,

जबकि दूसरा दिक्स्वरूप असंस्कृत है। संख्या-ज्ञान को कहते हैं; सत् को असत् बनाऊँगा अथवा विपरीत में असत् को सत् बनाऊँगा-इस प्रकार के ज्ञान को प्रतिसंख्या; इससे पृथक्-पृथक् अर्थ का निरोध होना ही **प्रतिसंख्यानिरोध** है। समाधि आदि से जो सम्यक् प्रज्ञा उत्पन्न होती है उससे मूल अविद्या नष्ट होती है, तब प्रतिसंख्यानिरोध के बिना एक साथ सर्वनिरोध होता है; उसको **अप्रतिसंख्यानिरोध** कहते हैं।

यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान दो को ही प्रमाण माना गया और उनके द्वारा प्रमेय पदार्थों की चर्चा की गई तथापि बुद्ध, कात्यायनीपुत्र आदि आप्तपुरुषों के वचनों को भी प्रामाणिक माना गया है। पूर्वोक्त आकाशादि तीन को छोड़कर समस्त जगत् क्षणभंगुर है। सभी क्षणिक हैं, दु:खरूप हैं, स्वलक्षण हैं और शून्य हैं-ऐसी भावना साधक को करनी चाहिये। वैभाषिक मत में प्रत्यक्ष ४ प्रकार के हैं-इन्द्रियविज्ञान, मनोविज्ञान, योगिविज्ञान और आत्मसंवेदन।

वैभाषिकमत को अपरोक्ष यथार्थवाद और सौत्रान्तिक को परोक्ष यथार्थवाद की संज्ञायें दी गई हैं; क्योंकि एक बाह्यार्थप्रत्यक्ष मानता है और दूसरा बाह्यार्थानुमेय मानता है।

इस प्रकार बौद्धों के चारों मतों पर संक्षिप्त विचार समाप्त होता है।

卐

8. जैनदर्शन

जैनमत बौद्धमत से बहुत अधिक प्राचीन है। 'जिन' शब्द का अर्थ है विजय प्राप्ति करने वाला। किस पर विजय प्राप्त किया?–इन्द्रियों पर, रागद्वेषादि भावनाओं पर तथा कामनाओं पर। ऐसे 'जिन' लोगों के उपदेश को जैनमत तथा अनुयायियों को भी जैन कहा जाता है। तीर्थ कहते हैं इस संसार रूपी बेड़ा के पार अर्थात् मोक्ष को, उसके प्रचार, प्रसार एवं प्रवर्तन करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं। जैन मत में 24 तीर्थंकर माने गये हैं। क्रम से वे हैं- 1. ऋषभनाथ 2. अजितनाथ 3. संभवनाथ 4. अभिनन्दननाथ 5. सुमितनाथ 6. पद्मनाथ 7. सुपार्श्वनाथ 8. चन्द्रप्रभ 9. पुष्पदन्त 10. शीतलनाथ 11. श्रेयांसनाथ 12.. वासुपूज्य 13. विमलनाथ 14. अनन्तनाथ 15. धर्मनाथ 16. शान्तिनाथ 17. कुन्थुनाथ 18. अरहनाथ 19. मल्लिकनाथ 20. मुनिसुव्रत 21. नमिनाथ 22. नैमिनाथ 23. पार्श्वनाथ 24. महावीर।

जैनमत मुख्यरूप से महावीर के उपदेशों पर निर्भर है। यद्यपि बुद्ध के समान महावीर ने भी किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की है। बाद में बौद्ध शिष्यों के समान महावीर के गणधरों ने अर्थात् शिष्यों ने उनके उपदेशों को संग्रह किया। अधिकतर ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं, कुछ संस्कृत भाषा में भी हैं। जैनधर्म में दो सम्प्रदाय हैं– श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों के धार्मिक ग्रन्थ अलग-अलग हैं। श्वेताम्बर 46 धर्मग्रन्थ मानते हैं-12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छेद, 4 मूलसूत्र एवं 2

स्वतंत्र ग्रन्थ। जबकि दिगम्बर षट्खण्डागम को मुख्य एवं सैद्धान्तिकग्रन्थ 16 मानते हैं। दोनों सम्प्रदायों में पुराणग्रन्थ विपुलमात्रा में उपलब्ध हैं जिनमें से जिनसेनकृत आदिपुराण, रविषेण का पद्मपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण और जिनसेन द्वितीय का अरिष्टनेमिपुराण अधिक प्रसिद्ध हैं। जैन आचार्यों ने ज्योतिष, छन्द:शास्त्र, अलंकार, काव्य, आयुर्वेद, दर्शन, व्याकरण, नीति, आचार, चरित्र, गणित आदि विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ निर्माण किया है। कुछ प्रसिद्ध आचार्य हैं-कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, उमास्वामी, समन्तभद्र, हरिभद्र, वीरसेन, हेमचन्द्र, वसुनन्दी आदि। उमास्वामी द्वारा संस्कृतभाषा में विरचित **'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र'** अत्यन्त प्रसिद्ध है।

जैनदर्शन में सात तत्त्वों को माना गया है-

'जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि'

(त.सू 1.4)

[जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्षतत्त्व हैं।]

इन तत्त्वों का बोध नानाविध प्रमाण तथा नयों से होता है। लेकिन प्रमाण एवं नय से परोक्ष बोध होता है जब कि आत्मजन्य ज्ञान ही अपरोक्ष होता है। परोक्षज्ञान दो प्रकार के हैं-मति और श्रुत तथा अपरोक्षज्ञान तीन प्रकार के-मन:पर्याय, केवल और अवधि। इन सभी पांचों प्रकार की अनुभूति को 'दर्शन' शब्द से कहते हैं क्योंकि निराकार निर्विकल्पक अनुभूति को 'ज्ञान' शब्द से कहा गया है। अत: प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अनुभूत ज्ञान साकार सविकल्प है। परोक्षज्ञान का प्रभेद 'मति' भी पुन: चार प्रकार की है यथा– संमुग्ध को अवग्रह, आलोचनात्मक को ईहा, सम्यग्ग्रहण को अवाय और अवधारणात्मक को धारणा कहते हैं। 'मति' इन्द्रिय एवं मन से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्षज्ञान है। ज्ञानोत्पत्ति के साधन प्रमाण 5 प्रकार के हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, और अर्थापत्ति। छ: इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण़ हैं और उनसे जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। अनुमान दो प्रकार के हैं-स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अपने लिये कृत अनुमान स्वार्थानुमान और पञ्चावयव अथवा दशावयव वाक्यप्रयोग को परार्थानुमान कहते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगम-ये पञ्चावयव हैं। कुछ लोग इस प्रकार दशावयव भी मानते हैं-प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविवरण, हेतु, हेतुविवरण, विपक्ष, निषेध, दृष्टान्त, तत्राशंका, आशंकाप्रतिषेध और निगमन। इस प्रकार अनुमानों से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है।

तीन हेत्वाभास-असिद्धि, विरूद्ध और अनैकान्तिक को स्वीकार करते हैं। सादृश्यज्ञान से प्राप्त होता है उपमितिज्ञान-अत: जैन मत में उपमान प्रमाण मानते

हैं। आप्तवाक्य को शब्दप्रमाण कहा है। शास्त्रीय नाम से एक ही है। इससे शाब्दज्ञान उत्पन्न होता है। परस्पर सापेक्ष दो पदार्थों में से एक के रहने पर अन्य का ज्ञान कर लेना अर्थापत्ति है। प्रसङ्गवशाद् अनुमानादि प्रमाणों की चर्चा की गई, अब प्रकृत परोक्षज्ञान के दूसरे भेद पर विचार करें। श्रुतज्ञान–वह मतिपूर्वक ही होता है। शब्दप्रविष्ट होने से इसे श्रुत कहा गया है। यह दो प्रकार का है–अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। तीर्थंकरों के वाक्य से प्राप्त ज्ञान को अङ्गप्रविष्ट अथवा अङ्गनिविष्ट कहते हैं और वर्तमान किसी शब्द अथवा वाक्य से जन्य ज्ञान को अङ्गबाह्य कहा है। पूर्वोक्त अपरोक्ष ज्ञान ज्ञानावरणात्मक घातीयकर्म के नाश से होता है। नाश के अपकर्ष से विकलज्ञान और उत्कर्ष से सकलज्ञान होता है। अवधिज्ञान और मनःपर्याय प्रथम हैं और केवलज्ञान दूसरा । ज्ञानावरण के नाश के कारण स्वात्मशक्तिजन्य सुदूर स्थित मूर्त एवं स्थूल पदार्थों के ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। यह दो प्रकार का है– भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। प्रथम तीर्थंकरादियों का है और दूसरा साधना द्वारा यहीं प्राप्त होता है। मनःपर्याय भी दो प्रकार के हैं–ऋजुमति तथा विमलमति। प्रथम वह है जिसमें सूक्ष्म सकल पर्याय हो और दूसरा वह है जिसमें सूक्ष्मतर सकल पयार्य हो। स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सर्वपर्यायों का जो ज्ञान ग्रहण करे वह सर्वोत्तम केवलज्ञान है। यह तीर्थंकरादियों में होता है। बहुपर्याय जिसके विषय हों वे मति और श्रुतप्रमाण हैं, तथा एक या अल्प विषय हो तो उसे नय कहते हैं। नय पूरी वस्तु को न समझकर उसके अंश को समझना है। वस्तु को समझने के दृष्टिकोण को भी नय कहा है। नय पाँच हैं:–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। कुछ लोग सात नय भी मानते हैं, पूर्वोक्त पाँच से अतिरिक्त समाभिरूढ और एवम्भूत। अपने शास्त्र से और स्वसिद्धान्ताविरूद्ध परशास्त्र से जो ज्ञान हो वह नैगमनय है अथवा किसी प्रयोजन से सम्बन्धित अनेक क्रियाओं को एक क्रिया में अन्तर्भूत करके जानने को नैगमनय कहते हैं। सामान्य द्वारा जो अनेक बातें ज्ञात होती हैं उसे संग्रहनय कहते हैं। व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित दृष्टिकोण को व्यवहारनय कहा है। वस्तु की वर्तमान प्रकृति पर विचार करना ऋजुसूत्रनय मानते हैं। प्रत्येक शब्द में विद्यमान शक्यार्थ, लक्ष्यार्थ और गौणार्थ भेद से शब्दनय तीनप्रकार के हैं। एक शब्द से जब अनेकार्थ बोध होने लगे तब उसे संकुचितकर एकार्थ में रूढ़ करना समाभिरूढ़नय है। समाभिरूढ़नय को भी और संकुचित कर किसी एक विशिष्ट वस्तु के लिये सीमित करना एवम्भूतनय है।

प्रमाण नाम से प्रसिद्ध परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान द्वारा विषय का ऐकान्तिकज्ञान

होता है। किन्तु नय से अनेकान्तज्ञान होता है। अतः नय अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को जन्म देता है।

प्रमाणों से एकान्तज्ञान होता है किन्तु नय से अनेकान्त ज्ञान क्योंकि जैनमत में पदार्थ अर्थात् पुद्गल और जीव दोनों भिन्न, स्वतन्त्र एवं अनन्तधर्म से युक्त अनन्तसंख्यक मानते हैं। कहा है 'अन्ययोग' नामक ग्रन्थ में-

'अनन्तधर्मकम् वस्तु, अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम् ।'

(अ.यो.पृ. 22)

[अनन्तधर्मवाली वस्तु है। अनन्तधर्मवाला तत्त्व है।]

सभी परमार्थतः सत्य भी हैं। सत्य के नानात्वसिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहते हैं। साधारण मनुष्यों का ज्ञान अपूर्ण एवं आंशिक होता है। वह कुछ वस्तुओं के कुछ धर्मों को ही जान पाता है। अतः सापेक्षसत्य की प्राप्ति होती है निरपेक्ष सत्य की नहीं। कहा है-

'एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥'

(अ.यो.पृ. 48)

[जो एक वस्तु के सकल धर्मों को जानता है, वह सभी वस्तुओं के सभी धर्मों को भी जानता है और जो सभी वस्तुओं के सभी धर्मों को जानता है, वह एक वस्तु के सभी धर्मों को भी जानता है।]

यह सर्वथादर्शन केवल तीर्थंकरों में माना गया है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। पारमार्थिक दृष्टि से सत्य को अनन्तधर्मक मानना अनेकान्तवाद है तथा नीति एवं नय की दृष्टि से मनुष्य कुछ धर्मों का ही ज्ञाता है, अतः मनुष्य के ज्ञान एवं निर्णय को सापेक्ष मानना स्याद्वाद है। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र में कहा-

'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।'

(त.स. 5.37)

[गुण एवं पर्याय (प्रकार) वाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं।]

द्रव्य में विद्यमान नित्य एवं अवश्यम्भावी धर्मों को गुण और आगुन्तक परिवर्तनशील धर्मों को पर्याय कहते हैं। गुण दृष्ट्या द्रव्य नित्य, सत्य एवं एक है किन्तु पर्यायदृष्ट्या अनित्य, असत्य एवं अनन्त हैं। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं-

'उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तम् सत्'

(त.स. 5.21)

[उत्पत्ति, विनाश और स्थायित्व विशिष्ट वस्तु सत् अर्थात् द्रव्य है।]

वस्तु का निर्णय एक दृष्टिकोण से न करके समस्त दृष्टिकोण से विचार करने से जैनियों को अनेकान्तवादी कहा है। नय एवं अनेकान्तवाद से निष्पन्न सप्तभङ्गीन्याय को स्याद्वाद कहते हैं। 'स्याद्' शब्द क्रियादिवाचक नहीं अपितु विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। ज्ञान की सापेक्षता को 'स्याद्' शब्द से कहा है जैन दर्शन में। जैन मानते हैं कि ज्ञान स्थान, काल और दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये जैन हाथी और छः अन्धों का दृष्टान्त देते हैं। किसी विषय का ज्ञान दुर्नीति, नय एवं प्रमाण द्वारा होता है। कहा है-

'सदेव, सत्, स्यात्सदिति
त्रिधाऽर्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।'

(अ.यो.-28)

[सदेव= सत् ही है = आंशिक सत्यभूत वस्तु को पूर्णतया सत् मानना, इसे दुनीर्ति द्वारा; सत् = सत् है = किसी को केवल सत् कहना, उसकी सापेक्षता अथवा निरपेक्षता का उल्लेख न करना, इसे नय द्वारा; और स्यात् सत् = सत् हो = आंशिक सत्यभूत वस्तु को विभिन्न दृष्टि से संभावित करना, इसे प्रमाण द्वारा {अतः उक्त तीन (दुर्नीति, नय और प्रमाण) साधनों से} विषय का ज्ञान होता है।]

आप्तमीमांसा में स्यात् को सत्य का प्रतीक भी माना है-

'स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः'

(अप्त. 10.112)

['स्यात्'-यह सत्य का परिचायक चिह्न है।]

तथा यह भी कहा है कि

'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावी च यज्ज्ञानं स्याद्वादमयसंस्कृतम्'

(अप्त. 10.101)

[आप्तमीमांसा में केवल ज्ञान ही प्रामाणिक तत्त्वज्ञान है, क्योंकि वह स्वतः सकलपदार्थों को एकसाथ प्रकाशित करता है। जबकि स्याद्वाद के सात नयों के संस्कार द्वारा क्रमशः उत्पन्न ज्ञान आंशिकसत्य है।]

संक्षेप में वह क्रम ऐसा है-1. स्यादस्ति 2. स्यान्नास्ति 3. स्यादस्ति च नास्ति च 4. स्यादवक्तव्यञ्च 5. स्यादस्ति च अवक्तव्यञ्च 6. स्यान्नास्तिचावक्तव्यञ्च 7. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यञ्च। यह संदेहवाद नहीं है क्योंकि ज्ञान की सम्भावना की सत्यता में विश्वास करता है। यह सापेक्षवाद वस्तुवादी है क्योंकि

वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता एवं वास्तविकता में विश्वास करता है।

प्रासंगिक विचारों को प्रस्तुत किया गया। अब पूर्वोक्त द्रव्य के विभाजन पर विचार करें। द्रव्य दो प्रकार के हैं-अस्तिकाय और अनस्तिकाय। काल को अनस्तिकाय कहा है क्योंकि उसका विस्तार नहीं। अस्तिकाय पुनः जीव और अजीव भेद से दो है। अजीव पुनः चार प्रकार के हैं-धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश।

अन्य दर्शनों में ब्रह्म, आत्मा, विज्ञान, आदि शब्दों से कहे गये तत्त्व को ही जैन जीव कहते हैं। चैतन्य विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते हैं किन्तु चैतन्य आगमापायी गुण नहीं अपितु स्वभाव है। जीव नित्य है, आकारशून्य है, सङ्कोच विकासशाली है और कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व वाला भी मानते हैं। अनुभूति सर्वदा रहने के कारण जीव स्वप्रकाश है अर्थात् अपने आप को प्रकाशित करते हुए अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। जीव स्वभावतः अनन्त हैं और उनमें चार पूर्णतायें हैं- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख। जीव को अस्तिकाय के अन्तर्गत इसलिये रखा गया है क्योंकि आकारहीन अमूर्त होने पर भी शरीर के अनुरूप होता है अर्थात् छोटे शरीर में छोटा, बड़े शरीर में बड़ा, मोटे शरीर में मोटा इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जीव मध्यमपरिमाण का है, अणु भी नहीं, महत् भी नहीं। कुछ जैन तो जीव को सावयव भी मानते हैं। एक शरीर में अनेक आत्मा का समावेश होना स्वीकार किया है। कर्मास्रवानुसार दोषों का भावरूप से तथा शरीरादि द्रव्यरूप से क्रमशः योग होने से जीवों का वास्तविक निर्मल स्वरूप ढ़क जाता है। बन्धन महसूस होता है। बन्धन के कारणीभूत ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि के नाश से पाँच भावात्मक ज्ञानादि का आविर्भाव होता है। वे पाँच भाव हैं- पारिणामिक, औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जीव अर्थात् आत्मा में पूर्वोक्त पाँच प्रकार के ज्ञान से अतिरिक्त कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि नामक तीन विपर्यास भी होते हैं। जीव दो प्रकार के हैं-बद्ध एवं मुक्त। बद्ध भी पुनः दो प्रकार के हैं-स्थावर और त्रस। स्थावर एकेन्द्रिय हैं। द्वीन्द्रिय, त्रयेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय एवं अनेकेन्द्रिय जो जीव हैं उन्हें त्रस कहा जाता है, जैसे मनुष्य, पशु आदि। जीव पाँच प्रकार के शरीरों को प्राप्त करता है, वे हैं-औदरिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण।

अजीव तत्त्वों पर विचार करें। यद्यपि साधारणतः धर्म और अधर्म, पुण्य एवं पाप के लिये प्रयुक्त शब्द हैं तथापि जैनियों ने इन्हें विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। गति आदि के सहायक वस्तु को 'धर्म कहा है, जैसे मछली के तैरने आदि के प्रति जल सहायक है। स्थिरता आदि के सहायक वस्तु को अधर्म कहते हैं,

जैसे थके हुए पुरूष के विश्राम में सहायक वृक्षछाया इत्यादि। भूत एवं भौतिक द्रव्यों को जैन पुद्गल कहते हैं–

'पूरयन्ति गलन्ति चेति पुद्गलः ।'

[जो संघटित होने व विघटित होने की क्षमतावाली वस्तु है, उसे पुद्गल कहते हैं।]

पुद्गल दो प्रकार के हैं-अणु एवं स्कन्ध अर्थात् मूलकारण है अणु एवं समस्त कार्यकारणस्वभाव जगत् को स्कन्ध कहते हैं। आकाश एक अदृश्य अस्तिकाय है जिसमें अन्य अस्तिकाय (धर्म, अधर्म, जीव एवं पुद्गल) रहते हैं। आकाश भी दो प्रकार का है। लोकाकाश जिसमें यह ब्रह्माण्ड है, जगत्बाह्यआकाश को अलोकाकाश कहा है। द्रव्यों के परिणाम एवं क्रियाशीलता की व्याख्या काल से होती है। काल स्थान को घेरता नहीं इसलिये इसे अनस्तिकाय कहा है। यह भी अजीव है, सूक्ष्म एवं अदृश्य। काल के दो भेद मानते हैं-पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक नित्य, एक एवं अमूर्त है। व्यावहारिक काल क्षणादि उपाधिवाला है।

जीव के बन्धन का कारण आस्रव है। शरीर, वाणी और मन से होने वाले कर्मों का जो प्रभाव आत्मा में होता है उसे आस्रव कहते हैं। पुण्यकर्मों से शुभास्रव और पापकर्मों से अशुभास्रव होते हैं। कर्मजन्य प्रभावात्मक आस्रव को भावास्रव कहते हैं। उनसे धर्माधर्म, रूपीद्रव्य एवं शरीरेन्द्रियादि पुद्गलों का जो आत्मा में प्रवेश है–वह द्रव्यास्रव है। इनके सम्बन्ध से ही भवबन्धन होता है। मुख्य १७ आस्रव हैं। वे हैं- शरीर, वाणी, मन, [ये तीन], चक्षुरादि पांच इन्द्रियाँ [ये पांच], क्रोध, मान, लोभ, माया [ये चार वासनायें] तथा हिंसा, अब्रह्मचर्य, असत्य, चौर्य और परिग्रह [ये पांच]। यद्यपि मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया आदि भेद 25 हैं तथापि उन सबों को यहाँ शरीर, वाणी एवं मन में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है। संरम्भ (हिसांद्यर्थ प्रयत्न), समारम्भ (हिंसाद्यर्थ सामग्री जुटाना), आरम्भ (हिंसादि करना), स्वयंकृत, पर से कारित (दूसरों से कराया गया), करने के लिये अनुमोदित, तीव्र, मन्द, जानकर, अनजान में इत्यादि प्रभेद से कर्म अनन्त हैं तो आस्रव भी अनन्त हैं। कार्यरूपी फल को देखकर कर्मों के अनेक भेद जैन मानते हैं। जैसे-आयुनिर्धारक को आयुःकर्म, ज्ञानबाधक को ज्ञानावरणीय, विश्वासनाशक को दर्शनावरणीय, आत्मा के स्वाभाविक शक्ति के अवरोधक को अन्तराय, उच्च-नीचादि कुल में जन्म के निश्चायक को गोत्रकर्म, इत्यादि........। कर्मवशात् पुद्गलकणों से शरीरादि का निर्माण होता है। इसके साथ संयोग की

कामना जीव करता है। अतः यह संयोग ही बन्धन है। अज्ञान से आत्मा का स्वरूप अभिभूत होने के कारण जीव में वासनायें निवास करने लगती हैं। इन वासनाओं के वशीभूत होकर जीव अपनी ओर पुद्गल को आकृष्ट करता है और शरीरादि प्राप्त कर लेता है। अतः इन वासनाओं को कषाय अथवा कुप्रवृत्ति भी कहते हैं। बन्धन भी दो प्रकार के हैं– भावबन्धन और द्रव्यबन्धन। वासनाओं का जीव में निवास भावबन्धन है जबकि जीव-पुद्गल संयोग द्रव्यबन्धन है। संक्षेप में मिथ्या दर्शन, अविरति, पुण्यपापादिप्रवृत्तिरूपीयोग, कषाय और प्रमाद को बन्धन का निमित्त कारण माना है। बन्धन काल में पुद्गल प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश नाम से चार स्वरूप को प्राप्त करता है। इनसे जीव अनेक प्रकार के सुख दुःख को प्राप्त करता है।

जीव का पुद्गल से वियोग ही मोक्ष है, अर्थात् जीव की ओर नये पुद्गल-कणों के प्रवाह को समाप्त करना। इस प्रकार रोकने को संवर कहते हैं। पूर्व से सम्बद्ध पुद्गलों के नाश को निर्जर कहा है। बन्धन के मूलकारण अज्ञान को ज्ञान से नाश किया जा सकता है। उमास्वामी कहते हैं कि-

'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः'

(1/1)

[सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र-ये तीन मोक्ष के साधन हैं।]

इन्हें 'त्रिरत्न' नाम से कहा जाता है। सत्य के प्रति श्रद्धा सम्यक्दर्शन है। जीव और अजीव के यथार्थस्वरूपबोध को सम्यक्ज्ञान माना है। सम्यक्चरित्र-हितकर कार्यों का आचरण एवं अहितकर कार्यों के त्याग को कहा है। इनका सम्पादन -साधक को समिति, गुप्ति, धर्म, परीषह, पञ्चव्रत एवं अनुप्रेक्षा के पालन से करना चाहिये। सावधानी अथवा समाधान को समिति कहते है-ये पाँच प्रकार के हैं। ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और उत्सर्गसमिति। कर्मों के संयम को गुप्ति कहते हैं, वे तीन प्रकार के हैं-कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति। दस धर्मों का पालन अत्यावश्यक है। वे हैं-सत्य, क्षमा, शौच, तप. संयम, त्याग, विरक्ति, मार्दव, सरलता और ब्रह्मचर्य। सर्दी-गरमी आदि बाईस द्वन्द्वरूपी दुःखों को सहन करना परीषह है। पंचव्रत पालन जैनियों के प्राण हैं जो बौद्धधर्म में उक्त पंचशील के सदृश हैं। वे व्रत हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

पञ्चव्रतों को दो प्रकार का मानते हैं-1. अणुव्रत-देशकालादि से सीमित गृहस्थों के लिये हैं और 2. महाव्रत-देशकालादि से असीमित संपूर्णजीवन धारण

करना, श्रमणों के लिये है। पांचो व्रतों के पांच-पांच अतिचार वर्जनीय हैं। जैसे कि अहिंसा के अतिचार हैं-बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार आरोपण और अन्नपाननिरोध। इसी तरह सत्य के अतिचार हैं–मिथ्योपदेश, रहस्याख्यान, व्याख्या, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और मन्त्रभेद इत्यादि। योगसूत्र में उक्त–

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'

(योसू. 1/33)

[सुखी के साथ मैत्री, दुःखी पर करुणा, पुण्यशील के साथ प्रसन्नता और पापी की उपेक्षा, इस प्रकार के भावनापूर्वक व्यवहार से चित्तशुद्धि होती है।]

चार भावनाओं को साधना में स्वीकार किया है। इनके साथ बारह मननात्मक अनुप्रेक्षाओं को मानस साधनाओं के रूप में स्वीकार किया है, वे हैं-अनित्यता, संसार, एकत्व, अशुचित्व, अन्यत्व, आस्रव, संवर, निर्जर, लोक, बोधिदौर्लभ्यत्व और धर्मस्वाख्याततत्व। चरित्र भी पांच प्रकार का है-सामयिक, छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। ये सब संवर के अन्तर्गत हैं। अब निर्जर पर विचार करें- नये कर्मपुद्गलों का उत्पत्ति को रोकनारूपी संवर साधना के बाद पुराने कर्मपुद्गलों का टूटना रूपी निर्जरसाधना आरम्भ होती है। प्रारब्धकर्मपुद्गल भोग से समाप्त होगा। अविपाककर्मपुद्गलों का निर्जरण तप से होता है। तप बाह्य और आन्तरभेद से दो हैं। उपवास, अल्पभोजन, आवश्यकता घटाना, नीरसभोजन, एकान्तवास और कायक्लेशानुभव के सहन-ये छः बाह्यतप हैं। आलोचन, प्रतिक्रमणादि नौ **प्रायश्चित**; ज्ञान, दर्शन, चरित्र और उपचार-ये चार **विनय**; आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी आदि दस-दस के दस प्रकार **सेवा**; वाचन, पच्छन आदि पांच **स्वाध्याय**; अहंता ममता का त्यागरूपी **व्युत्सर्ग**; चार प्रकार के **ध्यान**–ये छः आन्तर तप हैं। ध्यान के चार भेद ऐसे हैं-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान। इनमें अन्तिम शुक्लध्यान के पुनः चारभेद हैं-पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती एवं व्युपरतक्रियावृत्ति। इन साधनाओं को अपनाकर संवर.-निर्जरद्वारा व्यक्ति अपना निजस्वरूप अनन्तताचतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति, अनन्तदर्शन और अनन्त आनन्द) रूपी मोक्ष को प्राप्त करता है। वह मोक्ष दो प्रकार का है-भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। जीवनमुक्ति भावमोक्ष है और विदेहमुक्ति द्रव्यमोक्ष है। पूर्व में संकेतित ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायात्मक चार प्रकार के घातीय कर्मों के नाश होने पर सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता से युक्त भावमोक्षरूपी जीवनमुक्ति होती है। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय-इन चार अघातीय कर्मों का नाश होने पर द्रव्य मोक्षरूपी विदेहमुक्ति होती है। वह

विदेहमुक्त जीव ऊर्ध्वगामी होकर अलोकाकाश पहुँचता है और अनन्तकालपर्यन्त रहता है। अब पुनर्जन्म दु:खादि उसे नहीं होंगे।

इस तरह संक्षेप में जैनदर्शन के सात तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्ष) पर विचार हुआ। अब जैनमत सम्बन्धी कुछ प्रासङ्गिक विचार करें।

बौद्ध एवं वेदान्ती स्याद्वाद को वदतोव्याघात दोषयुक्त मानते हैं। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक में स्याद्वाद को पागलों का बकवास कहा है। [1/182-185]। शारीरकभाष्य में आचार्यशंकर ने कहा है-परस्पर विरोधी धर्मों का एककाल में एकवस्तु में एकसाथ होना असम्भव है (2/2/33)। लेकिन जैनमत में ऐसा नहीं कहा है क्योंकि जैन दृष्टिकोण में भेद मानते हैं। अत: एककाल में एकवस्तु में एक ही दृष्टि सम्भव होने पर एकबार एक ही धर्म ग्रहण होगा न कि परस्पर विरोधी अनेकधर्म, हेमचन्द्र ने वीतरागस्तुति की टीका स्याद्वादमञ्जरी में लिखा है-

'स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावै: सत्त्वं,
पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्,
तदा क्व विरोधावकाश: ॥'

(स्याम.पृ. 176)

[वस्तु स्वगत द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र के द्वारा सत् मानी जाती है। उसी वस्तु को असत् कहते हैं दूसरे के द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्रात्मक दृष्टि से। अत: विरोध कहाँ और कैसे?]

तब वेदान्ती कहते हैं–केवल सम्भववाद पर कोई सिद्धान्त नहीं टिक सकता और स्वयं स्याद्वाद में सप्तभङ्गी नय लगायेंगे तो स्व सिद्धान्तहानि होगी, इत्यादि। इस दोषारोपण के जवाब में जैन कहते हैं–स्याद्वाद-संदेहवाद भी नहीं, सम्भववाद भी नहीं है, अपितु एक ही वस्तु के विभिन्न दृष्टिकोण से जन्य परस्पर सम्बन्धी ज्ञान है। अन्तत: वेदान्ती कहते हैं कि यदि सभी ज्ञान वस्तु का आंशिक बोध ही कराता है तो स्याद्वाद भी आंशिक सत्य होगा और कोई पूर्ण सत्य नित्यज्ञान होगा ही नहीं। इसलिये एक कूटस्थ नित्य पूर्ण सत्यज्ञान मानकर उसमें अन्य सब वादों को कल्पित मात्र माना जा सकता है। यह **'स्याद्वाद'** जैन दार्शनिक कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय एवं प्रवचन सार में प्रथम बार उक्त हुआ है। जिसका आधार भगवतीसूत्र की उक्ति

'आया सिय नाने सिय अन्नाने'

[आत्मा ज्ञान है, आत्मा अज्ञान है।]

यह स्याद्वाद से ही संभव है। और मल्लवादी कृत नयचक्र की उक्ति

'सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वम् आया'

[आत्मा है, आत्मा नहीं है, आत्मा अनिर्वचनीय है]

यह भी स्याद्वाद से संभव है। ये उक्तियाँ बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय एवं मज्झिमनिकाय में सामन्नफलसुत्त एवं ब्रह्मजालसुत्त द्वारा प्रकट चतु:कोटि के सदृश हैं जिनकी चर्चा हम पूर्व में बौद्धदर्शन में कर चुके हैं तथा आचार्य शंकरोक्त चतु:कोटि के सदृश होने से लगता है स्याद्वाद की अन्तिम तीन कोटि जो पूर्व की चारकोटियों के सम्मिश्रण हैं, वे तीन कोटियाँ उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों द्वारा की गई व्यर्थ एवं अधिक अतिशय परिकल्पनायें हैं। यद्यपि जैन का स्याद्वाद बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद के सदृश है एवं वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत व्यावहारिक सत्ता से मिलता है तथापि वेदान्त कूटस्थ शाश्वत नित्यसत्ता को अतिरिक्त पारमार्थिक सत्य के रूप में स्वीकार करता है एवं बौद्ध क्षणिक शाश्वतनित्यसत्ता को परिनिष्पन्न नाम से मानते हैं, लेकिन जैन ऐसी कोई अतिरिक्त सत्ता नहीं मानते। एक और कमी है कि मान लिया जाय–स्याद्वाद परस्पर सम्बन्धीज्ञान है तथापि एक निष्कर्ष उत्पन्न नहीं करता है। यशोविजय अपने अध्यात्मसार में कहते हैं–बौद्धादि दर्शन विकलादेश हैं जबकि उन सब का सम्मिश्रणरूपी जैनमत सकलादेश है।

'सर्वैर्नयैर्गुम्फित' [सभी के सिद्धान्तों का मिश्रण] जैनमत के ग्रन्थ अध्यात्मसार के पृ. 1 पर उल्लिखित है। यह अत्यन्त हास्यास्पद है क्योंकि निष्कर्षाभाव में सब का संकलन व्यर्थ है। अनेकान्तवाद को परम सत्य मानकर जैन ने अपने पैरों पर कुठाराघात किया है। क्योंकि हेमचन्द्र ने अन्ययोग नामक ग्रन्थ में कहा है-

'न वीतरागात्परमस्तिदैवतम् न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः'

(अ.यो. 2.8)

[वीतराग से बढ़कर कोई भगवान नहीं है, अनेकान्तवाद से बढ़कर कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता है]

ऐसा कहकर पूर्वोक्त सर्ववादीसिद्धान्तसम्मिश्रण का अनुमोदन करने के अनन्तर अन्य दार्शनिकों का खण्डन भी किया है। इसी तरह अकलङ्क, विद्यानन्द, सिद्धसेन, समन्तभद्र, हरिभद्र, वादिदेव, मल्लिसेन आदि सभी वदतोव्याघात दोष का शिकार बने हैं। केवलज्ञान को पारमार्थिक, परमसत्य एवं सर्वोत्कृष्ट शुद्ध, पूर्ण, अपरोक्ष, आत्मा की अनन्तताचतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त सुख) का प्रकाशक, अव्यावहारिक, सर्वातीत आदि मानकर स्वयं स्याद्वाद

का खण्डन किया है। यदि नहीं तो केवलज्ञान जिससे मोक्ष मानते हैं वह परस्परसम्बन्धी, सापेक्ष तथा आंशिकत्व से ग्रस्त है क्या? यद्यपि समन्तभद्र आप्तमीमांसा में कहते हैं-

'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमम् भवेत्'

(आप्त. 10.105)

[स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सकल वस्तुओं के प्रकाशक हैं। लेकिन भेद केवल इतना ही है कि–स्याद्वाद असाक्षात् और सापेक्षता से जबकि केवलज्ञान साक्षात् और निरपेक्षता से होता है।]

इस तरह केवलज्ञान को साक्षात् एवं युगपत्सर्वावभासक और स्याद्वाद को असाक्षात् एवं क्रमभावी मानकर भेद दर्शाया है तथापि सिद्धसेन ने औपनिषदिक दृष्टान्त को स्वीकार कर एक परमार्थ सत्य को स्वीकार किया है और अद्वैत को मान लिया है।

'उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।'

(रघु. 10.2)

[जैसे समुद्र में सभी नदियाँ लीन होती हैं ठीक उसी प्रकार हे नाथ! सभी दृष्टियाँ आप में लीन होती हैं।]

जैसे समुद्र सभी नदियों में अप्रत्यक्षभाव से है, किन्तु नदियां प्रत्यक्ष ही समुद्र में लीन होती हैं, ठीक उसी प्रकार आप आत्मा सभी दृष्टियों में अप्रत्यक्षभाव से हैं, किन्तु दृष्टियां प्रत्यक्ष ही आप में लीन होती हैं। इसी प्रकार की उक्ति प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार है-

'स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः
समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छान्ति..................एवमेव'

(प्रश्नो 6.5)

[वह जैसे नदियाँ समुद्र की ओर अभिमुख होकर बहती हुई समुद्र को प्राप्त कर शान्त होती हैं।]

और मुण्डकोपनिषद् 2/8, गीता 11/28, रघुवंश 10/2, शिवमहिम्नः स्तोत्र, महाभारत आदि ग्रन्थों में भी उल्लिखित है। समयसार में कुन्दकुन्द ने स्पष्टरूप से केवलाद्वैत को स्वीकार किया है और कहा है- बन्ध, मोक्ष, साधना, ज्ञान आदि सब व्यवहार मात्र हैं– पारमार्थिक नहीं। इस तरह उत्तरवर्ति जैन अद्वैत को स्वीकार करते हुए भी कुछ धार्मिक कट्टरता एवं अन्धविश्वास के कारण व्यावहारिक धरातल

पर मतभेद रखते हैं–जैसे कि ईश्वर के सम्बन्ध में। जैनदर्शन में ईश्वरवाद का खण्डन है। ईश्वर को मानने वालों के समस्त तर्कों का खण्डन करते हैं। अधिकतर दर्शनों में बद्धजीवों को उनके कर्मफल प्रदान करने तथा सृष्टि के निर्माण के लिये ईश्वर माना है। इस सम्बन्ध में जैनमत है कि संसार सावयव होने पर भी कार्य नहीं क्योंकि अनादि अनन्तधारा है। यदि सादि सान्त माने तो भी सावयव ईश्वर को कर्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि कुम्भकारादि सावयव हैं, निरवयव नहीं। लेकिन ईश्वर संसार का निर्माण करने में स्वतन्त्र नहीं अपितु बद्धजीवों के कर्माधीन है, अतः परतन्त्र ईश्वर को मानने की जरूरत नहीं। यदि कहें–कर्म जड़ होने से संसार उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः मुनीम के समान कर्मफल देने हेतु ईश्वर मानना चाहिए तो ठीक नहीं, क्योंकि निष्प्रयोजन प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। यदि कहें ईश्वर नित्य है एवं उसकी इच्छा, प्रवृत्ति आदि नित्य हैं तो फिर संसार भी नित्य होगा। इस प्रकार जैन अनीश्वरवादी हैं सैद्धान्तिकरूप से, फिर भी व्यावहारिकता में वे तीर्थंकरों को ईश्वर तथा देवियों की पूजादि भी मानते हैं जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। जैन धर्मावलम्बियों को तीनभागों में विभक्त करते हैं–साधु, श्रमण और भक्त। पूर्वकथनानुसार दो सम्प्रदाय हैं–श्वेताम्बर और दिगम्बर। इनमें दिगम्बर स्त्रियों के लिए मोक्षप्राप्ति एवं अध्यात्मसाधना स्वीकार नहीं करता, जबकि श्वेताम्बर उन्हें श्रमण बनने का अधिकार मानते हैं। लगभग 300 वर्ष पहले श्वेताम्बरों से एक शाखा निकली जो स्थानकवासी नाम से प्रसिद्ध है। ये तीसरे वर्ग के लोग मूर्तिपूजा नहीं करते। यद्यपि तेरहपंथी, बीसपंथी, तारपपंथी, यापनीय आदि अनेक उपशाखायें हैं तथापि आचार पूजापद्धति आदि विशेषभेद न होने से उन्हें संप्रदाय के रूप में नहीं माना गया। पूर्व में जैसे कहा है तदनुसार यद्यपि जैन अनीश्वरवादी हैं तथापि पंचपरमेष्ठी को माना है। वे हैं–अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुजैन। अर्हत् का स्वरूप हेमचन्द्रसूरि ने 'आप्तनिश्चयालंकार' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार कहा है–

'सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्मितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः ॥'

(आ.नि.)

[जो सर्वज्ञ, रागादि दोष को जीत लिया, तीनों लोकों के जीवों से पूजित, अस्मिता आदि के यथार्थ को करने के स्वभाववाला, परमेश्वर, देव है वही अर्हत है।]

तीर्थंकरों की मूर्तिपूजा एवं साधुपूजा को श्रेष्ठ मानते हैं। समस्त बद्धजीव उपासक हैं एवं मुक्तजीव उपास्य हैं। इसलिये पूजा, प्रार्थना, श्रद्धा, भक्ति, ध्यान

एवं उपासना मानते हैं। बौद्ध संप्रदायों के समान मातृशक्ति का माहात्म्य एवं देवीपूजा का विधान भी है। श्रीभद्रबाहुस्वामी विरचित 'उवक्षगहर स्तोत्र', सुकुमार सेन कृत 'भैरवपद्मावती कल्प' इत्यादि कृतियाँ प्रमाण हैं। जैनमत में चक्रेश्वरी, सरस्वती, अप्रतिचक्रेश्वरी, महालक्ष्मी, महाकाली, गौरी, बहुरूपिणी, अम्बिका, पद्मावती, सिद्धायनी, कुरुकुल्ला इत्यादि अनेकों देवियां हैं। इन देवियों की कृपा प्राप्त करने हेतु मंत्रजप, स्तोत्रपाठ, हवन आदि भी प्रचलित हैं। 'भद्रबाहुसंहिता' में ब्राह्मणों को दान देना एवं पिण्डदान आदि का भी उल्लेख है। दशलक्षणपर्व, श्रुतपंचमी, दीपावली, रक्षाबन्धन, गुरुपूर्णिमा, आदि त्यौहारों को भी बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। 'षट्खण्डागम' में कहे गये पंच नमस्कार को महामंत्र माना गया है, वे हैं-

'णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरिआणं, णमो उवज्झमाणं और **णमो लोए सव्व साहूणं।'**

सर्वसाधनसंपन्न होकर आवरण को भङ्ग करके मुक्ति होती है। यह जैनदर्शन का संक्षिप्त परिचय था।

卐

9. सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन के रचयिता हैं महामुनि कपिल। यद्यपि कपिल कौन हैं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है क्योंकि महाभारत में शान्तिपर्व के 340 वें अध्याय में दो व्याख्यायें हैं। एक के अनुसार वे ब्रह्माजी के पुत्र और दूसरे के अनुसार अग्नि के अवतार थे।

'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥
सप्तैते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ।'

[सनक, सनन्द, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु: और पञ्चशिख-ये सात ब्रह्माजी के पुत्र हैं। इन्हें सप्त (7) महर्षि कहते हैं।]

और

'कपिलं परमर्षि च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ।'

[जिन्हें यतिगण सदा परम ऋषि कपिल कहते हैं वे सांख्ययोग के प्रवर्तक कपिल साक्षात् अग्नि देवता ही हैं।]

श्रीमद्‌भागवत में विष्णु के पञ्चम अवतार के रूप में माना है-

'पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।

प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयन् ॥'

(भा.ग. 1.3.10)

[काल से परे, सिद्धों के ईश, कपिलावतार विष्णु के पांचवें अवतार हैं। उन्होंने आसुरि मुनि के लिये 25 तत्त्वों के समुदाय का निर्णय (सिद्धान्त) देते हुए सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया।]

गीता में भी श्री कृष्ण कहते हैं–

'सिद्धानां कपिलो मुनिः'

(गीता 10.26)

[सिद्धों में कपिलमुनि मेरी विशेष विभूति उपासना के योग्य हैं।]

इसी तरह सांख्यप्रवर्तक के रूप में पद्मपुराण में उल्लेख है और आचार्य शंकर ने भी अपने शारीरकभाष्य में यही स्वीकार किया है। वेदों के अन्तिमभाग उपनिषदों में से श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है–

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति ज्ञायमानं च पश्येत्'

(श्वे 35.2)

[जो परमात्मा आदि काल में सकल ज्ञान रूप से धारित था वही कपिल महर्षि के रूप में उदय होते हुए ज्ञान को देखो।]

इत्यादि अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी कथन हैं, तथापि ऐसे कथनों को परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिये क्योंकि व्यासजी स्कन्दपुराण में कहते हैं-

''क्वचित्क्वचित्पुराणेषु विरोधो यदि दृश्यते ।
कल्पभेदादिभिस्तत्र व्यवस्था सद्भिरिष्यते ॥'

(स्कन्द)

[कुछ-कुछ पुराणों में यदि एक विषय के सम्बन्ध में परस्पर विरोध हो तो विद्वान् लोगों को कल्पभेद से विरोध की व्यवस्था कर लेनी चाहिये।]

अतः विरोधाभासों को स्वयं विवेक से दूरकर लेना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कल्पभेद में सांख्य के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा के पुत्र, विष्णु के अवतार अथवा अग्नि के अवतार हैं, फिर भी नाम सदा कपिल ही है। इसलिये–

'संखेन प्रोक्तं सांख्यं'

(संख नामक ऋषि के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र को सांख्य कहते हैं।) इत्यादि व्युत्पत्ति के आधार पर कोई संख नाम के महर्षि की कल्पना करना अत्यन्त

अप्रामाणिक है। महर्षि कपिल ने **'सांख्यसूत्रों'** को छः अध्यायों में विभक्तकर 526 सूत्र लिखे और **'तत्त्वसमास'** नामक २२ सूत्री ग्रन्थ की भी रचना की। कुछ लोगों के अनुसार २५ सूत्री है। सांख्यसूत्रों पर वृत्ति अनिरूद्ध आदि ने लिखी है और भाष्य विज्ञानभिक्षु आदि द्वारा लिखा गया है।

कपिलमुनि के प्रमुखशिष्य थे आसुरि, उन्होंने पञ्चशिखाचार्य को उपदेश दिया। आसुरिजी कृत कोई ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं है तथापि पञ्चशिख कृत **षष्ठीतन्त्र** नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है परन्तु कालक्रमेण वह नष्टप्राय है। लेकिन परम्परा बनी रही, अतः ईश्वरकृष्ण ने मुमुक्षुजनों के हित के लिए सांख्यदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को **सांख्यकारिका** नामक ग्रन्थ में निहित किया। जिसे लोग सांख्यसप्तति, कनकसप्तति, सुवर्णसप्तति, हिरण्यसप्तति आदि नाम से जानते हैं। यह अत्यन्त प्रचलित है।

सांख्य शब्द का अर्थ क्या है इसे -महाभारत के अनुसार-

'दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः ।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ।।'

(सां. का. भूमिका पृ. 24)

[प्रमाणों के द्वारा तत्त्व के गुणदोष विवेचन द्वारा कैवल्यप्राप्त्यनुकूल ज्ञान को संख्या कहा।]

गणना अर्थ को स्वीकार करके भी महाभारत में ही कहा है-

'संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत्तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ।।'

(महा. 12/306/43)

[समस्तपदार्थों को 25 तत्त्वों में विभक्त कर विवेचन करने से सांख्य कहते हैं।]

दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति भी संभव है-**'सम्यक्प्रकारेण ख्यायन्ते तत्त्वानि गणयन्ते येन तत् सांख्यम्'** और **'सम्यक् ख्यानं ज्ञानं संख्या, संख्यैव सांख्यं प्रकृतिपुरुषविवेकात्मकं विशिष्टज्ञानं'**। आचार्य शंकर ने भी विष्णु सहस्रनाम के भाष्य में-आत्मज्ञान को सांख्य कहा है।

'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।'

जैसे सुखदुःख, भूखप्यास, सरदी गरमी आदि द्वन्द्व अनुभव हैं, इसी प्रकार संसार और मोक्ष को वेदों में एक द्वन्द्व कहा है। इस द्वन्द्व का आधार कर्म है जो कि तत्त्वों के अविवेक के कारण हो रहा है। यह सब भोक्ता पुरूष एवं कर्त्री प्रकृति रूपी द्वैत से हो रहा है। अतः दो वस्तुओं को परम स्वतन्त्र पारमार्थिक मानने

से सांख्य को द्वैत दर्शन कहा गया है। पुरुष को मोक्षप्रदान करने के लिए प्रकृति कर्मनिवृत्ति हेतु सुख दुःखादि का निर्माण करती है। अनादि परम्परा से चला आया कर्म एवं उसकी वासना ही संसार है। सुखदुःख के निर्माण द्वारा प्रकृति समस्त कर्मों को निवृत्त नहीं कर सकती एवं त्रिविध ताप को कोई भोगकर निवृत्त नहीं करना चाहता है। अतः ऋषियों ने कर्म के कारण 7 भूत अविवेक को विवेकज्ञान द्वारा निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त किया, जिसे उन्होंने सांख्यदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः यद्यपि पुरुष को संसार और मोक्ष अर्थात् भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिये प्रकृत्ति नित्य प्रवृत्त रहती है, तथापि अपवर्ग ही मुख्य लक्ष्य है। अपवर्ग के लिये तत्त्व का विवेकज्ञान आवश्यक है। वे तत्त्व कुल 25 हैं। पुरुष, प्रकृति, प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियां एवं पंच तन्मात्राओं से भूत भौतिक जगत्। **पुरुष** निर्गुण, निराकार, विशुद्ध, स्वच्छ, स्वयंप्रकाश स्वरूप, असंहत, कूटस्थ, भोक्ता, द्रष्टा, व्यापक, प्रतिशरीरभिन्न, अनन्त, चिति शक्ति है। इसके लिए सांख्यशास्त्र में आत्मा, पुमान्, जीव, क्षेत्रज्ञ, पुद्गलजन्तु आदि शब्दों का प्रयोग किया है, वह अनादिवासनावश प्रकृतितादात्म्यापन्न रहता है। **मूलप्रकृति** त्रिगुणात्मिका, सत्त्वरजःतमः की साम्यावस्था, अकार्यावस्था है। जब यह प्राणिकर्मानुसार संसार की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करती है तब इसे प्रकृति कहते हैं। अतः सांख्यसूत्र के अनिरूद्ध वृत्ति में कहा है-

'तत्त्वान्तरोपादनत्वं प्रकृतित्वं'

(सांख्य 1.61)

[वस्त्वन्तर की उत्पत्ति के प्रति जो उपादानकारण हो उसे प्रकृति कहते हैं।] प्रकृति में कर्तृत्वादि हैं, किन्तु पूर्वोक्त प्रकृतिपुरुषतादात्म्यता की वजह से पुरुष में भासते हैं एवं पुरुष के चैतन्यादि धर्म बुद्धि आदि में भासते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रकृति द्वारा भोगमोक्ष के लिये आरब्ध है यह सृष्टि तथापि पुरुष में भोगमोक्ष का अध्यास होने से आरोपित मात्र है। इस प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। उसे बुद्धि, महान्, चित्त आदि शब्दों से कहा गया है। यद्यपि बुद्धि प्रत्येक पुरूष की भिन्न-भिन्न है तथापि पहले समष्टिरूप से उत्पन्न होती है। महत्तत्त्व से अहंकार होता है, जिसे अस्मिता भी कहते हैं। यह भी पहले समष्टिरूप से उत्पन्न होकर, तदनन्तर प्रतिशरीर भिन्न होती है। समष्टि अहंकार से पंच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं और व्यष्टि अहंकार से प्रतिपुरूष भिन्न-भिन्न एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों की उत्पत्ति में दो मत हैं। प्रथम मत यह है कि व्यष्टि अहंकार के सत्त्वांश से मन, शरीर एवं व्यष्टि ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोऽंश से कर्मेन्द्रियाँ और तमोऽंश से

व्यष्टिशरीरोत्पादिका तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। दूसरा मत है कि शरीरोत्पत्ति की कारणीभूत तन्मात्रायें वही हैं जो भूतभौतिक जगत् के कारणीभूत समष्टि अहंकार से उत्पन्न तन्मात्रायें हैं। अत: व्यष्टि अहंकार के सत्त्वप्रधान रजोऽंश से मन एवं ज्ञानेन्द्रियाँ तथा तम:प्रधानरजोऽंश से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध तन्मात्राओं से क्रमश: शब्द, शब्दस्पर्श, शब्दस्र्पशरूप, शब्दस्पर्शरूपरस, तथा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धनामक गुणों से युक्त आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्चमहाभूत क्रमश: उत्पन्न होते हैं। इन पञ्चभूतों से चौदह लोकों वाला यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। भूलोक में जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज– ऐसे चार प्रकार के भोग्य शरीर होते हैं। प्रत्येक प्रकार का शरीर सूक्ष्म एवं स्थूल नामक दो शरीर से निर्मित है। स्थूल शरीर पुन: योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का है। स्थूल शरीर सभी के प्रत्यक्ष का विषय है जब कि सूक्ष्मशरीर अतीन्द्रिय है। पंचतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ, अहंकार और महत्तत्त्व– इन 18 तत्त्वों के संघात को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। सूक्ष्मशरीर में तन्मात्रायें आश्रय हैं और शेष उनमें आश्रित हैं। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर में व्याप्त होकर उसी के आकार को प्राप्त होता है, अपना कोई निश्चित आकार उसका नहीं है। परापरलोकों को स्वीकार करने से उन लोकों में जीवों के गमनागमन के लिये ही सूक्ष्मशरीर को सांख्यादि सभी आस्तिक दर्शनों में स्वीकार किया गया है। अत: स्थूलशरीर भोग का आश्रय तथा भोग्य है जबकि सूक्ष्मशरीर कर्तृकरणसंघातरूप है एवं पुरूष भोक्ता है। सुख अथवा दु:ख की अनुभूति ही भोग है। **'सुखदु:खान्यतरसाक्षात्कारत्वं भोग:।'** भोगप्राप्ति का क्रम इस प्रकार है-

सर्वप्रथम इन्द्रियाँ विषयों को लेकर मन को समर्पित करती हैं। इन्द्रियों से निर्विकल्प आलोचनात्मक ज्ञान होता है जिससे मन सविकल्प विशिष्टज्ञान उत्पन्न कर लेता है। वह ज्ञान संकल्प-विकल्पात्मक होता है। मन विषयों सहित अपने ज्ञान को अहंकार को समर्पित करता है, जिससे मैं-मेरापन होता है। मैं–मेरापन से विशिष्ट ज्ञान के सहित विषयों को अहंकार बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व को समर्पित करता है, जिसे बुद्धि पुरुष के सामने सुख अथवा दु:ख के रूप में प्रस्तुत करती है। तब पुरुष निर्गुण-निराकार एवं निष्क्रिय होने पर भी अनादि वासना एवं कर्मवशात् वे सुखदु:खादि पुरूष में पड़ते हैं– यही भोग है अथवा अध्यास से बुद्धिगत सुखादि का पुरुष में प्रतीत होना ही भोग है। इस भोगात्मक संसार से उत्पन्न त्रिविधताप की निवृत्तिपूर्वक मोक्षप्राप्ति तत्त्वज्ञान से होती है। अत: अब संक्षेप में उल्लिखित तत्त्वों पर विचार करें।

<u>प्रकृति:</u>-पचीस तत्त्वों में से प्रकृति और पुरूष ये ही दो प्रमुख तत्त्व हैं।

इनमें से प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीनगुणों की साम्यावस्थारूपिणी है एवं नित्य है। सत्त्वगुण शुक्ल एवं सुखरूप है। ज्ञान, शान्ति, लघुता, प्रकाश, दान, त्याग, वैराग्य, ऊर्ध्वगति आदि उसकी वृत्तियां हैं। रजो गुण लाल एवं दु:खरूप है। कर्म करना, लोभ, राग, तृष्णा, अशान्ति, चञ्चलता, मध्यलोकों में गति, द्वेष, एवं दु:खादि इसकी वृत्तियां है। तमोगुण काला एवं मोह रूप है। उसकी वृत्तियाँ हैं-निद्रा, आलस्य, प्रमाद, आवरण, अध:पतन, गुरुत्व, अप्रवृत्ति एवं अप्रकाशादि। ये तीनों गुण परस्पर अभिभव और उद्भव से जुड़ते हैं, आश्रित होते हैं और परस्पर वृत्ति द्वारा जगत् को धारण करते हैं। अत: समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। इसलिये सांख्य को सत्कार्यवादी कहते हैं। अत: मूलप्रकृति ही मूलकारण है। इसका सर्वप्रथम परिणाम है—महत्तत्त्व, जिसे बुद्धि आदि शब्दों से कहते हैं।

बुद्धि:-बुद्धितत्त्व सत्त्वप्रधान है। इसमें आठ विशेषशक्तियां मानी गई हैं। वे हैं-धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। धर्म पुन: दो प्रकार का है-यागादि जन्य अभ्युदयकारी धर्म और योगादि जन्य नि:श्रेयसकारी धर्म। ज्ञान भी दो प्रकार का है-परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष सत्ज्ञान ऊर्ध्वलोकदायी है और अपरोक्ष सत्त्व पुरुष का विवेकज्ञान मोक्षदायी है। बुद्धिवृत्ति में चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही ज्ञानरूपी फल है। इसी को बोध, स्फुरणादि भी कहते हैं। बुद्धिवृत्ति ५ प्रकार की है। तीन प्रमाणवृत्ति-प्रत्यक्ष, अनुमति और शाब्दी। एक विपर्ययवृत्ति और एक स्मृतिवृत्ति। वैराग्य दो प्रकार का है-पर और अपर। अपरवैराग्य पुन: चार प्रकार का है-यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार - संज्ञा। ऐश्वर्य, अणिमादि क्रमश: आठ हैं— अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। इस प्रकार बुद्धि के चार शक्ति विशेषों के स्वरूप एवं फलभेद का कथन हुआ। ठीक इसके विपरीत शेष चार शक्तियों को समझें। इस बुद्धितत्त्व से **अहंकार** उत्पन्न होता है जो अभिमानरूप है और अहंता एवं ममता का कारण है। ये बुद्धितत्त्व एवं अहंकारतत्त्व दोनों पहले समष्टि रूप से उत्पन्न होते हैं फिर शरीरोत्पत्ति के बाद व्यष्टि रूप से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि की समष्टि एवं व्यष्टिसृष्टि समान है। लेकिन अहंकार की समष्टिसृष्टि पंच—तन्मात्रा है और व्यष्टिसृष्टि 11 इन्द्रियाँ हैं। बुद्धि एवं अहंकार का शरीर में दो प्रकार से प्रवेश है— सूक्ष्मशरीर के घटक रूप से और तन्मात्रा द्वारा स्थूलशरीर के उपादान कारण रूप से है। पंचतन्मात्राओं से 5 भूत एवं भौतिक सृष्टि होती है। प्राणापानादि पाँच वायु की विशेषवृत्तियों को तत्त्व रूप से गणना नहीं किया है क्योंकि इन्हें त्रयोदश करणों की वृत्तिविशेष कुछ लोग मानते हैं। अन्य लोग इन्हें स्पर्श तन्मात्रा

का कार्यभूतवायु महाभूत का व्यष्टिगत कार्यविशेष मानते हैं। यह नित्य-जड़ात्मक एवं कर्तृशक्ति विशिष्ट प्रकृतितत्त्व और उससे उत्पन्न अनित्य कार्यभूततत्त्वों का विचार हुआ। इसे **तन्मात्रा सर्ग** कहते हैं। अब **प्रत्ययसर्ग** पर विचार करें। धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य-इन चार शक्तियों से विशिष्ट बुद्धि दो प्रकार की है– भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। विदेह एवं प्रकृतिलीन पुरूषों का भवप्रत्यय तथा मुमुक्षुओं का उपायप्रत्यय होता है।

संसारी जीवों में बुद्धि की आठों शक्तियाँ न्यूनाधिकभाव से क्रियाशील रहती हैं। बुद्धि के इन आठ भावों में पचास भाव अन्तर्निहित हैं। उनमें से प्रमुख हैं पांच **विपर्यय** और 28 **अशक्ति**। तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र, अन्धतामिस्त्र-ये 5 विपर्यय हैं। 11 इन्द्रिय अशक्तियां हैं, तथा (9 तुष्टि और 8 सिद्धियाँ मिलाकर) 17 बुद्ध्यशक्तियां हैं, अतः ये कुल 28 अशक्तियाँ हुई। संक्षेप में इनका परिचय ऐसा है- अव्यक्तादि आठ में आत्मबुद्धि होना 8 प्रकार का तम है, पूर्वोक्त अणिमादि 8 ऐश्वर्यों में अभिमान होना 8 प्रकार का मोह है, दिव्यादिव्य भेद से शब्दस्पर्शादि दस में राग होना दस प्रकार का महामोह है, उक्त शब्दादि दस तथा अणिमादि आठ में द्वेष होना 18 प्रकार का तामिस्त्र है, उन्हीं 18 में नाश का भय होना 18 प्रकार का अन्धतामिस्त्र है। 11 इन्द्रियों के नाश को एकादशेन्द्रियाशक्ति कहते हैं। प्रकृति स्वयं मोक्षादि करेगी, संन्यासादिग्रहण से ही होगा, समय पर सब कुछ होगा, भाग्य से होता है-ये चार और पाँच विषयों से उपराम होने को नौ तुष्टि कहते हैं। अशक्तियों में कही गई 8 सिद्धियाँ पूर्वोक्त अणिमादि से भिन्न हैं। 1. अध्ययन, 2. शास्त्रप्राप्ति, 3. मनन, 4. सब्रह्मचारी आदि 5. विचारक, 6. सुहृत् की प्राप्ति, 7. विद्यादान एवं 8. दुःखत्रय का नाश-ये 8 सिद्धियाँ हैं। ये सब प्रत्ययसर्ग हैं। प्रत्ययसर्ग और तन्मात्रा सर्ग परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं। इन दोनों का मिश्रण ही संसार है। प्रकृति से अतिरिक्त सब कुछ अनित्य है। अब सांख्य दर्शन के दूसरे नित्यतत्त्व पुरूष पर विचार करें।

पुरूष :- पुरूष चैतन्य स्वरूप है, न प्रकृति है, न विकृति है और न त्रिगुणात्मक है। सुखदुःखादि के अनुभव में भेद होने से पुरूष को अनन्त मानते हैं। यदि कहें सुखदुःखादि तो बुद्धि के धर्म हैं, अतः अन्य के धर्म के भेद को लेकर पुरूष में भेद कैसे हो सकता है तो उत्तर है कि यद्यपि पुरूष में भेद बुद्धिगत धर्मों के अध्यास से है, अतः पुरूषार्थ में भेद है तथापि पुरूष को एक मानने पर बन्धमोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती और एक के मुक्त होने पर सभी की मुक्ति की आपत्ति होती है एवं कपिलादि में अमुक्तता सिद्ध होगी जिससे दर्शन

में अनास्था होगी। अध्यास अनादि होने से पुरूषभेद सिद्ध होता है। इस अध्यास को विवेकख्याति द्वारा निवृत्ति करना ही **मोक्ष** है। क्योंकि अध्यास ही त्रिविध दुःख का कारण है। अतः मोक्ष के अनन्तर पुरूष के प्रति प्रकृति पुनः सृष्टिकर भोग नहीं देती। इस तरह अध्यासनाश पूर्वक दुःखत्रय के नाश को ही मोक्ष अथवा अपवर्ग माना है सांख्य दर्शन में।

सत्कार्यवादः-सांख्यदर्शन के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं। सत्कार्यवाद का अर्थ है-उत्पत्ति के पूर्व उपादानकारण में अव्यक्तरूप से कार्य का विद्यमान रहना, अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता को स्वीकार करना। अतः कारण-अव्यक्तकार्य है एवं कार्य-अभिव्यक्तकारण है। इसलिये सांख्य में उत्पत्ति का अर्थ अव्यक्त का व्यक्त होना है और नाश का अर्थ व्यक्त का अव्यक्त हो जाना। इन्हें आविर्भाव एवं तिरोभाव शब्द से भी कहा गया है। इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए सांख्यकारिका में पाँच युक्तियाँ दी गई हैं। वे हैं-

'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भावाभावात् ।
शक्तस्ब शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यं ॥'

(सा.का. 9)

[असदकरणात् का अर्थ है कि यदि कार्य की सत्ता कारण में असद् माना जाय तो फिर कारण से कार्य का निर्माण असम्भव है क्योंकि असद् अकाशकुसुम आदि से कोई सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती है। उपादानग्रहणात् का तात्पर्य है कि किसी भी कार्यविशेष की उत्पत्ति के लिये कारणविशेष को ग्रहण किया जाता है, जैसे मिट्टी का घड़ा बनाने के लिये मिट्टी को ग्रहण करते है न कि पत्थरादि को ग्रहण करते हैं। सर्वसम्भवाभावात् का मतलब है कि सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते, जैसे–मिट्टी में कपड़ा, इसलिये जिसमें जो सद्रूप से सम्बद्ध है वही उससे उत्पन्न होता है, जैसे कि तिल से तेल उत्पन्न होता है बालू से नहीं। शक्तस्य शक्यकरणात् का अर्थ है–जिस कारण में जो कार्य उत्पन्न करने की शक्ति है उससे वही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे–मिट्टी से घड़ा; लेकिन एक घड़े से दूसरा घड़ा उत्पन्न नहीं होता। कारणभावाच्च का तात्पर्य है कि कार्य सदा कारणात्मक होता है। इसलिए गेहूँ से गेहूँ उत्पन्न होता है धान नहीं।]

इस सत्कार्यवाद का समर्थन भगवद्गीता में भी है -

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'

(गीता-2/16)

[असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् से असत् की भी उत्पत्ति नहीं

हो सकती।]

कार्य और कारण दोनों यदि तत्त्वत: भिन्न होते तो नदी और वृक्ष के समान वे पृथक् होते और उनका परस्पर संयोग होता, लेकिन धागा और कपड़ा न तो पृथक् हैं और न उनका संयोग है। सत्कार्यवाद के अन्तर्गत सांख्य प्रकृतिपरिणामवादी है, रामानुज के समान ब्रह्मपरिणामवादी अथवा शंकर के समान ब्रह्मविवर्तवादी नहीं है। अत: कार्य और कारण एक ही द्रव्य की दो अवस्थायें हैं- जिन्हें व्यक्त और अव्यक्त शब्द से कहते हैं। प्रकृति समस्त पदार्थों का मूलकारण है। अत: इसे अकारण कहते हैं। यह प्रधान, ब्रह्म, अव्यक्त, अनुमान, जड़, माया, अविद्या, शक्ति, अदृश्य, अचेतन आदि शब्दों से व्यवहृत है। प्रकृति का विरूप परिणाम सृष्टि है एवं सरूप परिणाम प्रलय ।

सांख्यदर्शन ने तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। ज्ञान बुद्धि प्राप्त करती है पुरूष नहीं। यद्यपि बुद्धि जड़ है तथापि पुरूष का प्रकाश अर्थात् चैतन्य प्रतिबिम्बित होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। सांख्य विषय रहित ज्ञान नहीं मानता। प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय एवं विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है - निर्विकल्प और सविकल्प। निर्विकल्पज्ञान वस्तुओं की सामान्य प्रतीतिभाव है और सविकल्पज्ञान वस्तुओं की विशिष्टप्रतीति है। अनुमान दो प्रकार का मानते हैं -वीत और अवीत। पूर्णव्यापी भावात्मकवाक्य पर अवलम्बित को वीत और पूर्णव्यापी निषेधात्मक वाक्य पर अवलम्बित को अवीत कहते हैं। वीतानुमान पुन: दो प्रकार का है-पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। व्याप्ति पर आधारित को पूर्ववत् और व्याप्ति निरपेक्ष को सामान्यतोदृष्ट कहा है। उक्त विभाजन से अतिरिक्त अनुमान को स्वार्थ और परार्थ भेद से दो माना है। परार्थानुमान को प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन (निष्कर्ष) नामक पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग को कहा जाता है। आप्तपुरूष के वाक्य को शब्दप्रमाण मानते हैं। वह लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार का है। वेद को सांख्य अपौरूषेय मानता है और स्वत:प्रामाणिकता को स्वीकार करता है।

इन प्रमाणों द्वारा सांख्य २४ तत्त्वात्मक इस संसार को दु:खमय सिद्ध करता है। सांसारिक दु:खों को तीन भागों में विभक्त किया गया है। वे हैं-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। मानसिक एवं शारीरिक दु:खों को आध्यात्मिक, बाह्य भूत एवं भौतिक पदार्थों से प्राप्त दु:ख को आधिभौतिक एवं बाह्य अलौकिक कारणों जैसे–भूतप्रेत, विज्ञान, ग्रहनक्षत्र आदि से उत्पन्न दु:खों को आधिदैविक दु:ख कहते हैं। लौकिक एवं पारलौकिक सुख भी दु:ख ही हैं क्योंकि वे अस्थायी

हैं। अत: यह त्रिविध दु:खात्मक संसार ही बन्धन है और इनका आत्यन्तिक विनाश मोक्ष है जो कि प्रकृति-पुरूष के विवेक-विज्ञान से होता है। यह विवेक-विज्ञान अष्टांगयोगसाधना के साथ पुरूष के यथार्थस्वरूप के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से उत्पन्न होता है, जिससे अज्ञान सहित संसार का आत्यन्तिक नाश होता है और पुरूष मुक्त हो जाता है। दो प्रकार की मुक्ति मानते हैं- जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। सृष्टि रचना [अर्थात् दर्शन एवं भोग] से भले निवृत्त होवे फिर भी आरब्ध जो शरीर है, जब तक प्रारब्ध है तब तक मुक्त पुरुष का भी वह शरीर वैसा ही रहता है। जैसे चक्र घुमाकर छोड़ देने पर जब तक वेग है तब तक घूमता रहता है, मुक्त के शरीर में रहना भी चक्र के वेग के समान है , इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।

प्रारब्ध समाप्त होने पर संस्कार भी लीन होता है जैसे वेग लीन होता है। तब ऐकान्तिक आत्यन्तिक कैवल्य को मुक्त पुरुष प्राप्त करता है। इसे विदेहमुक्ति कहते हैं।

वास्तव में पुरूष नित्यमुक्त है, केवल प्रातीतिक बन्धनगत वास्तविकता का नाश ही मुक्ति है। अत: बन्धन और मोक्ष दोनों भ्रान्ति हैं, प्रातीतिक हैं, वास्तविक नहीं।

卐

10. योगदर्शन

योगदर्शन के सूत्रों के रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। महर्षिजी ने चार पादों में विभक्त १६६ सूत्रों द्वारा कैवल्यप्राप्ति के लिये **अष्टांगयोगादिमार्ग** का प्रतिपादन किया है, जो कि केवल ज्ञानपरक ही नहीं अपितु अत्यन्त व्यावहारिक एवं सक्रियात्मक हैं। योगदर्शन के चार पादों में से प्रथम पाद में योग के लक्षण एवं लक्ष्य समाधि पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। दूसरे पाद में क्रियायोग एवं अष्टांगयोग के पाँच अंगों पर विचार किया । तीसरे पाद में अष्टांगयोग के शेष तीन अंगों एवं उनके गौणफल विभूतियों का वर्णन है। चौथे पाद में कुछ गौणफलों को बताकर मुख्यफल परमलक्ष्य कैवल्य का वर्णन किया है। योगदर्शन यद्यपि सांख्य द्वारा कथित समस्त तत्त्वों को प्राय: यथावत् स्वीकार करता है तथापि विकास पद्धति में अन्तर किया है तथा ईश्वरतत्त्व को अधिक माना है। तत्त्वविवेचन पद्धति पर जोर न देकर तत्त्वानुभूति की पद्धति पर जोर दिया है। अत: चित्त की भूमियों के कथन द्वारा दर्शन को आरम्भ किया है व्यासभाष्य में । चित्त की ५ भूमियाँ हैं– क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। प्रथम तीन भूमिवाले को योग के अयोग्य माना गया । अन्तिम दो भूमिवाले अष्टांगयोगसाधना द्वारा समाधि के अभ्यास से कैवल्य को प्राप्त करते हैं। जब सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता से अनुगत चित्त एकाग्र होता है तब संप्रज्ञातसमाधि को प्राप्त करता है,

क्लेश क्षीण होते हैं, कर्म शिथिल होता है और इससे सत्य प्रकट होता है। अत: असम्प्रज्ञात समाधि की ओर अभिमुख करता है। जिसे द्वितीयसूत्र से कहा है-

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।'

(योग.सू.1.2)

[चित्त कि वृत्तियों का संसार की ओर दौड़ने से रोकने को योग कहते हैं।]

इसके अभ्यास से जब सभी संस्कारों का निरोध हो, तो उसे निर्बीजसमाधि कहते हैं। यहाँ तक की स्थिति को चार अवस्थाओं में स्वीकार किया है, वे हैं- मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और संस्कारशेषा। प्रथम अवस्था सवितर्क एवं सविचार में, द्वितीय सानन्द में, तृतीय सास्मिता में और चौथी असम्प्रज्ञात में। निर्बीज समाधिस्थ पुरुष ही कैवल्य का सर्वोत्तम अधिकारी है, क्योंकि इसके अभ्यास से वह धर्ममेघसमाधि को प्राप्त करता है, जो कि कैवल्य है। कैवल्य के लिये योगाभ्यास करते समय सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं, जो कि योग के गौणफल हैं। अत: योग कैवल्यार्थ हो अथवा सिद्ध्यर्थ हो, दोनों के लिये पदार्थज्ञान होना आवश्यक है। मुख्यतया ईश्वर, प्रकृति और जीव नाम से तीन तत्त्व मानते हैं, इसलिये योग दर्शन को त्रैतवादी कहा गया है। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से तीनों कालों में असम्बद्ध पुरुषविशेष को **ईश्वर** कहते हैं। ईश्वर को निरतिशय सर्वज्ञ, चैतन्यैकरूप, नित्यानन्दपरितृप्त, भक्तानुग्रही, अवतारी, संसार की सृष्टि-स्थिति एवं लय कर्ता, सर्वशक्तिमान्, मुक्तिप्रदायक आदि रूप से मानते हैं। ईश्वर का प्रियनाम **प्रणव** है। सांख्य के समान प्रकृति त्रिगुणात्मक है किन्तु सांख्य के समान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कर्त्री नहीं अपितु ईश्वराधीन है। सांख्य ने प्रकृति को सत् माना है किन्तु योग उसे सद्, असद्, तुच्छता से विलक्षण मानता है। सांख्य महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से तन्मात्रा की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु योग में प्रकृति से महत्तत्त्व जिसे लिङ्ग, अव्यक्त आदि शब्दों से कहते हैं-वह उत्पन्न होता है। इस महत्तत्त्व से ही तन्मात्रा एवं अहंकार दोनों उत्पन्न होते हैं। पश्चात् तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत एवं अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पुरुष अर्थात् जीव एवं सत्त्व अर्थात् बुद्धि के अनादि संयोग के कारण सुखदु:खानुभूति भोग है एवं विविक्त पुरुष के ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप में स्थिति मोक्ष है-

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।'

(योग.सू.103)

[उस समाधिकाल में द्रष्टा के स्वरूप में वृत्तियों की स्थिति रहती है।]

बुद्धि में समस्त वृत्तिज्ञान उत्पन्न होते हैं किन्तु पुरुष में मिथ्या आरोपित हैं।

योग में भूतों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं मानते किन्तु **धर्मपरिणाम** [जैसे मृत्तिका धर्मी है, वह पिण्डाकार धर्म से भिन्न धर्म को प्राप्तकर 'घटाकार' धर्म में परिणत होती है।], **अवस्थापरिणाम** [जैसे घटाकार अनागतलक्षण त्यागकर वर्तमान लक्षण को प्राप्त करता है।] एवं **लक्षणपरिणाम** [जैसे घर प्रतिक्षण नवत्व तथा पुराणत्व का अनुभव करता हुआ अवस्था परिणाम को प्राप्त करता है।] मानते हैं। परिणाम भी दो प्रकार से स्वीकार किया है-युतसिद्ध [जैसे धागों से कपड़ा बना, वापस कपड़े का कारण संयोग नष्ट करके धागों को अलग किया जा सकता है।] और अयुतसिद्ध [जैसे दूध से दही बना, लेकिन यहाँ वापस दही से दूध प्राप्त नहीं कर सकते]। परिणामात्मक जगत् में कर्म, विपाक एवं आशय से युक्त क्लेशाधीन भोक्ता को बद्धजीव और इनसे रहित पुरुष को मुक्तजीव कहते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-इन पांच को क्लेश कहते हैं। अतत् में तत् बुद्धि होना अविद्या है, इसे 'तम' कहते हैं। भोक्तृ-भोग्य का संयोग अस्मिता है, जिसे 'मोह' कहते हैं। सुखानुशय राग है जिसे 'महामोह' कहते हैं। दु:खानुशय द्वेष है, जिसे 'तामिस्र' एवं मृत्युभय को अभिनिवेश जिसे 'अन्धतामिस्त्र' कहते हैं। उक्त क्लेशों की वजह से जीव अपने पुण्य, पाप एवं मिश्रकर्मों के फलस्वरूप जन्म, आयु एवं भोग को प्राप्तकर बन्धन में रहता है। इसे सूत्र में कहा है-

'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

(यो.सू. 1.4)

[वह पुरुष समाधि से भिन्न अवस्था में सविषयिणी वृत्ति के साथ तादात्म्य होता है।]

ये वृत्तियाँ पाँच है-प्रमिति, भ्रान्ति, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति।

इन वृत्तियों को निरोधकर विवेकख्याति द्वारा धर्ममेघसमाधिरूप कैवल्य की प्राप्ति ही मोक्ष है। चित्त की वृत्तिरूपी नदी कल्याणकारी और अकल्याणकारी दोनों तरह के विषयों की ओर प्रवाहित होती है। इसका निरोध अष्टांग योग के अभ्यास एवं वैराग्य से होता है। वे अष्टांग हैं:-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। वैराग्य की भी चार अवस्थायें हैं-यतमान, व्यतिरेक, ऐकेन्द्रिय और वशीकार। वशीकारसंज्ञा वैराग्य भी दो प्रकार का है–अपर और पर। समाधि को लक्षित कर अष्टांगयोग के अभ्यासकाल में विभूतियों की प्राप्ति होती है जो कि साधक को अपने मार्ग से च्युत कर देती हैं, इसलिये परिदृश्यमान और श्रुत्यादि से ज्ञात अपरिदृश्यमान समस्त पदार्थ तथा विभूतियों से भी परिपक्व वैराग्य के बिना मोक्ष प्राप्ति असंभव है। इसी कारण महर्षिपतञ्जलि

ने योगसूत्र का निर्माण क्रमशः समाधि, साधना, विभूति एवं कैवल्य से किया है। साधना और कैवल्य के बीच विभूतिपाद की संरचना का यह क्रम साधकों को विभूतियों से सतर्क रहने के लिये ही किया है क्योंकि विभूतियाँ कैवल्य में बाधक हैं। योग के अष्टांगों का संक्षिप्त स्वरूप ऐसा है- पाँच यम हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपिरग्रह। पाँच नियम हैं-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। जिस प्रकार से बैठने आदि द्वारा शरीर स्थिर एवं सुख प्राप्त करे उसे आसन कहते हैं, हठयोगप्रदीपिका-आदि ग्रन्थों में ८4 (चौरासी) आसनों का वर्णन किया है। श्वास एवं प्रश्वास का गतिविच्छेद करना प्राणायाम है अर्थात् पूरक एवं रेचक दोनों के अनन्तर कुम्भक का अभ्यास करना प्राणायाम है। यह भी अनेक प्रकार का है जैसे-नाड़ी शोधनप्राणायाम, भस्त्रिका, कपालभाति, स्तम्भवृत्ति इत्यादि। अपने विषयों से असंयुक्त होकर जब इन्द्रियाँ चित्त स्वरूप-मात्र का अनुकरण करने लगें तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। चित्त को किसी एक देशविशेष में बांधने का नाम धारणा है। एक ही वृत्तिज्ञान का नदीप्रवाह के समान निरन्तर आवृत्तिपूर्वक चलते रहने को ध्यान कहते हैं। जब ध्यान अपना स्वरूपस्फुरण छोड़कर अर्थमात्र को प्रकाशित करते रहे तो उसे समाधि कहते हैं। यह योगदर्शन का संक्षिप्त विचार है।

卐

11. वैशेषिकदर्शन

इस दर्शन के रचियता हैं महर्षि उलूक कश्यप। अत: इसे औलूक्य दर्शन अथवा काश्यप दर्शन भी कहते हैं। खेती से धान्य के कणों को चुनकर जीवनयापन करने से इनको लोग ('कणं अत्ति' इति) कणाद नाम से पुकारने लगे, इसलिये इस दर्शन को काणाद दर्शन भी कहते हैं। 'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ की परिकल्पना के कारण इसे वैशेषिक दर्शन भी कहते हैं। वैशेषिकदर्शन 10 अध्यायों में व्याप्त है। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। कुल 376 सूत्रों में षट् (6) पदार्थों के विवेचन द्वारा मोक्ष प्राप्ति की पद्धति को प्रकट किया है। प्रथम अध्याय में समस्त पदार्थों का संक्षेप में कथन कर आह्निकद्वय में जातिमत् एवं जातिविशेषों का निरूपण किया है। द्वितीय अध्याय के आह्निकद्वय में क्रम से पञ्चमहाभूतों एवं दिक्काल का वर्णन किया है। तृतीय अध्याय के दो आह्निकों में आत्मा एवं मन के लक्षणादि का समावेश किया है। चतुर्थ में शरीरोपयोगी विवेचन और शरीरसिद्धि है। पाँचवें अध्याय में शरीरिक कर्म और मानसकर्म का निरूपण किया है। छठवें में श्रौतधर्मों का निरूपण करते हुए क्रम से दान प्रतिग्रहादि धर्म एवं आश्रमचतुष्टय के धर्मों का वर्णन किया है। सातवें में बुद्धिनिरपेक्ष गुण एवं बुद्धिसापेक्ष गुण और समवाय का निरूपण किया है। आठवें में प्रत्यक्षप्रमाण, नवें अध्याय में बुद्धिविशेष का प्रतिपादन और दसवें में अनुमान

प्रमाण का विवेचन किया है। इस प्रकार दस अध्यायों में पदार्थ विवेचन का आरम्भ

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'

(का.सू. 1/1/1)

[मुमुक्षु के लिए धर्म का व्याख्यान आरम्भ करता हूँ।]

इस प्रथम सूत्र द्वारा धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा किया है और दूसरे सूत्र से धर्म का लक्षण।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

(का.सू. 1/1/2)

[जिससे अभ्युदय-इस लोक एवं परलोक के सकल सुख और निःश्रेयस -मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है।]

वह धर्म दो प्रकार का है-अनुष्ठेय और ज्ञेय। इनसे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है। अनुष्ठेय धर्मविशेष से उत्पन्न ज्ञेय धर्मविशेष के साधर्म्य वैधर्म्य के ज्ञान से मोक्ष होता है। इस सम्बन्ध में सूत्र है-

'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमावायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

(का.सू. 1/1/4)

[धर्मविशेष से उत्पन्न द्रव्यगुणादि सात पदार्थों के साधर्म्य-वैघर्म्यों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है।]

अनुष्ठेय धर्म का ज्ञान वेदों से होता है इसलिये दर्शनशास्त्र में केवल ज्ञेयधर्मों पर विचार किया है जो कि शास्त्राभ्यास से प्राप्त होता है। शास्त्रों में हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय पर विचार किया जाता है। यहाँ हेय है संसार, हेयहेतु=बन्धन, हान=मोक्ष और हानोपाय है तत्त्वज्ञान । यह तत्त्वज्ञान पदार्थों के पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्णय द्वारा विवेक से आत्मस्वरूपानुभूति में फलित होता है। यह पदार्थों के धर्मज्ञान से हो सकता है। अतः वैशेषिक दर्शन में संसार के समस्त पदार्थों को 6 भागों में संग्रह किया है। वे हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। कुछ आचार्य अभाव को सप्तम पदार्थ मानते हैं जो कि सूत्र 1/1/4 में स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। द्रव्य नौ हैं-पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन (1/1/5)। गुण 24 हैं-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। यद्यपि सूत्र 1/1/6 में

रूपादि 17 ही गिने हैं तथापि भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सूत्रस्थ चकार के द्वारा अन्य गुरुत्वादि सात गुणों को भी संग्रह किया है। कर्म अर्थात् क्रिया को पांच भागों में विभक्त किया है-उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन (1/1/7)। सामान्य दो प्रकार का है-पर और अपर। विशेष तो अनन्त हैं। समवाय एक ही है और अभाव 4 हैं।

१. द्रव्यः-

'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्'

(का.सू. 1/1/15)

[गुण और क्रिया के आश्रय अथवा समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं।]

इस सूत्र के अनुसार जो गुण एवं क्रिया का आश्रय हो तथा अपने कार्यों का समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। नौ प्रकार के द्रव्य मानते हैं। वे हैं-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। गन्धनामक गुण के समवायिकारण द्रव्य को **पृथिवी**, इसीप्रकार रस के कारण द्रव्य को **जल**, रूप के कारण द्रव्य को **अग्नि** तथा स्पर्श के कारण द्रव्य को **वायु** कहते हैं। इन चारों द्रव्यों को नित्य और अनित्य भेद से प्रत्येक को दो प्रकार का मानते हैं। समस्त जगत् के मूलकारण परमाणुओं को नित्य एवं कार्यभूत जगत् को अनित्य कहा है। अनित्य जगत् को पुनः तीन प्रकारों में विभक्त किया है-शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से। परमाणु नित्य हैं, अतीन्द्रिय हैं अर्थात् दृष्टिगोचर नहीं, निरवयव हैं तथा अनुमान प्रमाण से ज्ञात होते हैं। ईश्वरीय इच्छा के अनुसार दो-दो परमाणुओं के परस्पर संयुक्त होने से एक द्वयणुक और तीन-तीन द्वयणुकों के परस्पर संयुक्त होने से एक त्रसरेणु, इस क्रम से चार महाभूतों की स्थूल सृष्टि होती है। शेष समस्त द्रव्य नित्य ही होते हैं, उनके कार्य नहीं होते। पञ्चम महाभूत है **आकाश**, यद्यपि इसका अन्यभूतों के समान प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि शब्द के आश्रय के रूप में अनुमान से ज्ञात है। आकाश निरवयव है, एक है और व्यापक है। उक्त पाँचों भौतिक द्रव्य दिक् और काल में रहते हैं। दिक् और काल अदृश्य होने से अनुमेय हैं, दोनों ही व्यापक और एक-एक हैं। उपाधि भेद से अनेकत्व का व्यवहार होता है। पूर्वादि व्यवहार का कारणीभूत द्रव्य **दिक्** है एवं वर्तमानादि व्यवहार का कारणीभूत द्रव्य **काल** है। ज्ञान के आधारभूत समवायिकारण को **आत्मा** कहा है। वह दो प्रकार का है-जीवात्मा और परमात्मा। वैशषिक दर्शन में जीवात्मा को अनेक, अनादि और अनन्त, एवं सगुण माना है। अतः ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावनाख्य संस्कार को जीवात्मा का विशेषगुण माना

है। जीवात्मा को व्यापक, नित्य एवं प्रतिशरीर भिन्न माना है। समस्त गुण जीवात्मा में अनित्य हैं। ज्ञान अर्थात् चेतनता आत्मा का स्वरूप नहीं अपितु आगन्तुक गुण है। वह आत्ममनः संयोग से आत्मा में उत्पन्न होता है। मन सहित इन्द्रियों एवं शरीर का अधिष्ठाता है जीवात्मा। ईश्वर को परमात्मा शब्द से कहा है। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीन ईश्वर के गुण हैं और तीनों नित्य हैं। वह पूर्ण है, सृष्टिकर्ता, दयावान्, वेद का रचयिता, जीवों के कर्मफलदाता, इत्यादि रूपों में ईश्वर को स्वीकार किया है। **मन** अन्तरिन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियों के समान अतीन्द्रिय है, अतः अनुमेय है। बाह्येन्द्रियों के साथ जुटकर कुछ द्रव्य एवं उनके गुणों का ज्ञान तथा आत्मा में विषयों के अनुरूप सुखादि का ज्ञान और आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति मन से होती है। मन का परिमाण वैशेषिकों ने, परमाणु माना है अतः वह निरवयव है। वह नित्य है किन्तु क्रियावान् है। इसलिये आत्मा और मन दोनों नित्य होने पर भी ज्ञान नित्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि व्यापक एवं अणु तथा सक्रिय एवं निष्क्रिय दो वस्तुओं का सम्बन्ध अनित्य होता है। यह नौ द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय हुआ।

२. गुण :- गुण का लक्षण किया है सूत्र में-

'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्'

(का.सू. 1/1/16)

[द्रव्याश्रित, निर्गुण, संयोग विभाग के अकारणभूत तथा अन्यापेक्षारहित वस्तु को गुण कहते हैं।]

अर्थात् द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से आश्रित, गुण से शून्य (अर्थात् गुण में गुण नहीं रहता), कर्म से शून्य, संयोग और विभाग का साक्षात् कारण नहीं अपितु अपने कार्य के असमवायिकारण को गुण कहते हैं। पूर्व कथनानुसार 24 गुण हैं। चक्षुमात्रग्राह्य गुण को **रूप** कहते हैं। वह पृथिवी, जल और तेज में होता है। पृथिवी में 7 प्रकार के रूप, जल में चमक रहित श्वेत एवं चमक युक्त श्वेत रूप तेज में माना है। श्वेत, नील, रक्त, पीत, हरित, काला और चित्र ये सात रूप हैं। रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण **रस** है। यह पृथिवी और जल में होता है। पृथिवी में 6 प्रकार के रस, जब कि जल में केवल मधुर रस है। वे छः हैं-मधुर, कटु, तीता, कषाय, नमकीन और खट्टा। त्वगिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण **स्पर्श** है। वह तीन प्रकार का है-शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत। शीत जल में, उष्ण अग्नि में और अनुष्णाशीत पृथिवी तथा वायु में रहता है। घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण को **गन्ध** कहते हैं। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध नाम से दो प्रकार का है जो केवल पृथिवी में रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण **शब्द** है। वह दो प्रकार का है- ध्वन्यात्मक

और वर्णात्मक। प्रथम ढ़ोलादि से उत्पन्न और दूसरा मनुष्य द्वारा प्रयुक्त भाषात्मक है। शब्द केवल आकाश में रहता है। द्रव्यों के परस्पर अनित्य सम्बन्ध के कारण उत्पन्न और 'ये दोनों संयुक्त है' - इस ज्ञान के कारणीभूत गुण को **संयोग** कहते हैं। वह तीन प्रकार का है। अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। प्रथम-एक स्थिरवस्तु के साथ अस्थिर वस्तु से उत्पन्न संयोग, जैसे पर्वतपक्षिसंयोग। दूसरा-दो अस्थिर वस्तुओं का संयोग- जैसे बैलों के परस्पर लड़ने से उत्पन्न संयोग। तीसरा एक संयोग से उत्पन्न दूसरा संयोग, जैसे हस्तपुस्तक के संयोग से शरीर पुस्तक का संयोग। दो संयुक्त द्रव्यों के अलग होने के प्रति कारणीभूत गुण को **विभाग** कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं अन्यतरविभागज, उभयविभागज और विभागज। दृष्टान्त पूर्वोक्त संयोग के विपरीत ग्रहण करें। देशसम्बन्ध तथा कालसम्बन्ध के वजह से दो वस्तुओं के पूर्वापर बोध के कारणीभूत गुण को **परत्व** और **अपरत्व** कहते हैं। जैसे दिक्कृत-ऋषिकेश से हरिद्वार निकट है और दिल्ली दूर है; कालकृत-यह कनिष्ठ है, जैसे लक्ष्मण; वह ज्येष्ठ है, जैसे राम इत्यादि। दो द्रव्यों के अलगाव के कारण उत्पन्न 'ये दोनों अलग है' इस ज्ञान के कारणीभूत गुण को **पृथक्त्व** कहते हैं। एक पृथक्त्व और अनेक पृथक्त्व नाम से यह दो प्रकार का है। प्रथम नित्यद्रव्यों में हो तो नित्य और अनित्यद्रव्यों में अनित्य, जब कि दूसरा सदैव अनित्य होता है। यही भेद है विशेष नामक पदार्थ से। एकादि गणना के कारणीभूत गुण को **संख्या** कहते है। ये अनन्त हैं। नित्यपदार्थस्थ एक संख्या नित्य एवं अनित्यपदार्थस्थ एकादि समस्त संख्यायें अनित्य होती हैं। नापतौल के कारणीभूत गुण को **परिमाण** मानते हैं। यह 4 प्रकार का है-अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ एवं प्रत्येक के पुनः दो-दो भेद हैं-परम और मध्यम रूप से। समस्त व्यवहार के कारणीभूत गुण को **ज्ञान** अथवा बुद्धि अथवा चेतना कहते हैं। ईश्वर के ज्ञान को नित्य एवं जीव के ज्ञान को अनित्य कहा है। **'सर्वेषां अनुकूलवेदनीयम् सुखम्।** सभी के अनुकूल वेदना के विषयभूत गुण को **सुख** कहते हैं। एवं **सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयम् दुःखम्।'** सभी के प्रतिकूल वेदना के विषयभूत गुण को **दुःख** कहते हैं। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की कामना के कारणीभूत गुण को **इच्छा** कहते हैं। शरीरादि में होनेवाली समस्त क्रियाओं के अनुरूप आत्मा में जो चेष्टा हो उसे **प्रयत्न** कहते हैं। वह तीन प्रकार का है-प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि भेद से। इस शरीर में जो श्वासप्रश्वास निरन्तर चल रहा है, उसका कारणीभूत प्रयत्नविशेष का नाम जीवन-योनि है। (जीवन = श्वासप्रश्वास का चलना, योनि = कारण।) किसी वस्तु के प्रति असहिष्णुता के कारणीभूत क्रोधरूपी गुण को **द्वेष** कहते हैं।

सामान्य गुण और आत्मविशेष गुण, इन दोनों में विद्यमान गुणत्वव्याप्यजातिवाले गुण को **संस्कार** कहते हैं। वह तीन प्रकार का है - वेग, भावना और स्थितिस्थापक। द्वितीयपतनादि क्रियाओं के असमवायिकारण गुण को ***वेग*** कहते हैं, जो पृथिवी जल, अग्नि, वायु और मन में रहता है। अनुभव से जन्य स्मृति के कारणीभूत गुण को ***भावना*** कहते हैं, जो कि आत्मा में रहती है। दूसरी अवस्था को प्राप्त वस्तु को पुनः अपनी प्रथमावस्था में वापस लौटने के कारणीभूत गुण को ***स्थितिस्थापक*** कहते हैं जो कि पृथिवी मात्र में रहता है। वेदविहित कर्मानुष्ठान से जन्य आत्मवृत्ति गुणविशेष को **धर्म** मानते हैं, जो कि सुख का कारण है। वेदनिषिद्ध कर्मानुष्ठान से जन्य आत्मवृत्ति गुणविशेष को **अधर्म** कहा है, जो दुःख का कारण है। पूर्ण द्रव्यों के चूर्णीभूत कणों का परस्पर संश्लिष्ट होकर पिण्डभाव को प्राप्त करने के लिए कारणीभूत, जलमात्र में रहने वाले गुण को **स्नेह** कहते हैं। यह दो प्रकार का है-दाहानुकूल को घनीभूतस्नेह एवं दाहप्रतिकूल को अघनीभूतस्नेह माना गया है। किसी भी वस्तु का नीचे की ओर गिरने के प्रति जो असमवायिकारण है वह **गुरुत्व** है। यह पृथिवी और जल में रहता है। किसी भी वस्तु का ढलान की ओर बहने के प्रति जो असमवायिकारण है उसे **द्रवत्व** मानते हैं। यह दो प्रकार का है-स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक द्रवत्व जल, दूध आदि में पाया जाता है, जब कि नैमित्तिक द्रवत्व घी, पृथिवी तथा चाँदी आदि तेज पदार्थों में पाया जाता है।

इस प्रकार चौबीस गुणों के लक्षण एवं उनके भेद का संक्षिप्त विचार हुआ। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग को सामान्य गुण तथा शेष गुणों को विशेष गुण कहा जाता है।

३. कर्म :-

'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणं कर्मलक्षणम्'

(का.सू. 1.1.17)

इस सूत्र के अनुसार द्रव्य में समवेत, गुण रहित, संयोग एवं विभाग का साक्षात् कारण कर्म है। यह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और मन-इन 5 मूर्त द्रव्यों में होता है। कर्म द्रव्य का सक्रियरूप है। जबकि गुण द्रव्य का निष्क्रियरूप है। कर्म परमाणु से भिन्न नित्य पदार्थों में नहीं रहता है। कर्म क्षणिक है जबकि गुण प्रायः द्रव्य के विनाश पर्यन्त स्थायी है। कर्म से कोई निश्चित कार्य उत्पन्न नहीं होता। कर्म के होने में चार सहकारी कारण माने गये हैं। वे हैं-गुरुत्व, द्रवत्व, भावना और संयोग। वैशेषिकों ने समस्त कर्मों को 5 भागों में विभक्त किया है।

वे हैं-उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। क्रम से इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-ऊर्ध्वगति, अधोगति, अपनी ओर सिकोड़ना, फैलाना और उक्त चारों से भिन्न समस्त क्रिया।

४. सामान्य :-

'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्'

(त.सं.पृ. 104)

सरूप अथवा विरूप अनेक वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान, नित्य, एक वर्गीकरण के कारणीभूत पदार्थ को सामान्य कहते हैं, जैसे अनेक घटों में घटत्व और राम, श्याम, देवदत्तादि अनेक मुनष्यों में मनुष्यत्व तथा पृथिवी, जल, तेज, आदि में द्रव्यत्व इत्यादि। सामान्य दो प्रकार का है-पर और अपर। जैसे सत्ता- द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहने से पर, जबकि द्रव्यत्व केवल द्रव्य में रहने से अपर। यह विभाजन सापेक्ष है, क्योंकि वही द्रव्यत्व घटत्व की दृष्टि से पर है। सामान्य अनादि और अनन्त है। अतएव नित्य है, जैसे मनुष्य जन्म लेता है और मरता है किन्तु मनुष्यत्व नहीं। दूसरा लाभ है कि प्रत्येक व्यक्ति में शब्दार्थसम्बन्धरूपी शक्ति ग्रहण कराने की जरूरत नहीं। एक गोपिण्ड में 'यह गौ है'-ऐसा ज्ञान कराने से संसार के सभी गौवों का ज्ञान होता है, इसका कारण गोत्व है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भेद हीन एक व्यक्ति (इकाई) में सामान्य नहीं होता जैसे-आकाश में आकाशत्व। अतः आकाशत्व जाति नहीं अपितु अखण्डोपाधि है। द्रव्य, गुण और कर्म में ही सामान्य होता है शेष पदार्थों में नहीं होता, अनवस्था आदि दोषों के कारण। जाति के ग्रहण में बाधकों का संग्रह इस श्लोक में है-

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥'

(किरण.पृ. 33)

व्यक्तेरभेदः = एक व्यक्ति अर्थात् कार्यादिभेद न होने पर उस वस्तु (व्यक्ति) में जाति नहीं मानी जाती है। जैसे-आकाश में आकाशत्व जाति नहीं। व्यक्तेस्तुल्यत्वं = वस्तु समान हो अर्थात् एक हो किन्तु नाम अनेक हों तो ऐसे वस्तु में लघुधर्म को जाति माना जाता है गुरूधर्म को नहीं। जैसे-घट में घटत्व जाति है, किन्तु कलशत्व नहीं। संकरः = अन्यत्र-अन्यत्र प्रसिद्व धर्म एक में हो तो उसे जाति नहीं मानते हैं। जैसे - मनुष्यादि के शरीर में पृथिवीत्व और शरीरत्व हैं, जलीय शरीर में शरीरत्व है पृथिवीत्व नहीं। घटादि में पृथिवीत्व है शरीरत्व नहीं। अतः शरीरत्व

जाति नहीं। अनवस्थिति: = अनवस्था दोष के कारण जाति नहीं मानी जाती। जैसे जाति में जाति नहीं- घटत्व में घटत्वत्व, घटत्वत्वत्व आदि धारा चलेगी, जिसका अन्त नहीं। रूपहानि:- वस्तु का स्वरूप ही व्यर्थ हो जाये तो उस वस्तु में जाति नहीं मानते। जैसे विशेष में विशेषत्व, विशेष स्वयं ही इतरव्यावर्तक है तो विशेषत्व जाति भी इतरव्यावर्तकरूप ही होगी, क्योंकि जाति को इतरव्यावर्तन के लिये ही माना गया है। अत: यदि विशेष में जाति मानी जाय तो विशेष के स्वरूप की हानि होगी। असम्बन्ध:=जैसे घट में घटत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है। समवाय सम्बन्ध भी एक स्वतन्त्र पदार्थ होने से, यदि उसमें जाति मानते हैं तो वह समवायत्वजाति समवायसम्बन्ध में किस सम्बन्ध से रहेगी। कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। अत: समवायत्व जाति नहीं मानी जाती। अतएव निर्णय शरीरकृत, सम्बन्धकृत और उपस्थितिकृत लाघव-गौरव से किया जाता है। इस पदार्थ के विषय में भारतीय दर्शन में तीन विचार धारायें है-नामवाद, प्रत्ययवाद और वस्तुवाद। बौद्धों के नामवाद के अनुसार व्यक्ति से भिन्न एवं स्वतन्त्र सामान्य की सत्ता नहीं है। इसलिये वस्तु के व्यवहार के लिये प्रयुक्त नाम से अतिरिक्त सामान्य मानना अप्रामाणिक है। लेकिन इस मत के विरूद्ध जैन एवं अद्वैतवेदान्त में व्यावहारिक ज्ञान की उत्पत्ति व्यक्तियों के सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म पर निर्भर है। अत: व्यक्ति और सामान्य अभिन्न हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के दो स्वरूप-आन्तरिक और बाह्य हैं। बाह्य स्वरूप को ज्ञानेन्द्रियों से जबकि आन्तरिक स्वरूप को बुद्धि से ग्रहण करते हैं। अत: सामान्य प्रत्यय मात्र है। ठीक इसके विपरीत वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता मानी है। यह एक यथार्थ वस्तु है, जिसे पूर्वोक्त प्रकार से लक्षण एवं प्रमाण से सिद्ध किया गया है।

५. विशेष:-

'व्यावर्तका विशेषा:'

(तर्क.पृ. 105)

[परमाणुओं को एवं नित्यपदार्थों को परस्पर पृथक् करनेवाला पदार्थ विशेष है।]

इसके अनुसार निरवयव द्रव्यों को एक दूसरे से अलग करने के लिए अपनाए गए पदार्थ को विशेष कहते है। ये 'विशेष' परिच्छिन्न निरवयव नित्यद्रव्य परमाणुओं तथा अपरिच्छिन्न निरवयव नित्यद्रव्य देश, काल, दिक्, मन एवं आत्मा में रहते हैं। अत: ये स्वयं भी नित्य एवं अनन्त हैं। 'विशेष' को अतीन्द्रिय माना है, इसलिये अनुमेय है। विशेषों के परस्पर भेद को स्वत: सिद्ध माना है अन्यथा

अनवस्था दोष होगा। 'सामान्य' वस्तुओं का वर्गीकरण करता है जबकि 'विशेष' पृथक् करता है। विशेष को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने से इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा ।

अन्य दार्शनिक परस्पर परमाणुओं में ही भेद को स्वत: सिद्ध मानकर विशेष नामक पदार्थ को व्यर्थ, अधिक कल्पना कहकर त्याग देते हैं।

६. समवायः :-

'नित्यसम्बन्धःसमवाय'

(तर्क.पृ. 107)

अयुतसिद्ध वस्तुओं के बीच ही यह समवाय सम्बन्ध रहता है। अयुतसिद्ध उन दो वस्तुओं को कहा जाता है जिनमें आश्रय एवं आश्रित का एक दूसरे के बिना पृथक् अस्तित्व न हो, एवं आश्रय के विनाश पर्यन्त आश्रित का स्थिति हो। कहा है-

'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यद् अवस्थमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।'

(तर्क.पृ. 107)

जैसे-गुण और द्रव्य, कर्म और द्रव्य, अवयव और अवयवी, सामान्य और व्यक्ति, विशेष और नित्यद्रव्य। समवाय आकाशादि के समान एक है किन्तु निरूप्य-निरूपक के भेद से अनेकत्व का भ्रम होता है। समवाय अदृश्य पदार्थ है, अत: इसका ज्ञान अनुमान से होता है। संयोग सम्बन्ध के विवेचन द्वारा समवाय को समझा जा सकता है। संयोग गुण है, अनित्य है, आकस्मिक, कर्मजन्य, पारस्परिक, बाह्यसम्बन्ध है जबकि समवाय ठीक इसके विपरीत स्वतन्त्रपदार्थ, नित्य, आवश्यक, कर्माजन्य, एकतरपाति तथा आन्तरिकसम्बन्ध है।

७. अभावः :-

छः भावपदार्थों के संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर अन्तिम पदार्थ अभाव का विचार करें। भावपदार्थ निरपेक्ष हैं जबकि अभावपदार्थ सापेक्ष । किसी विशेष स्थान और समय में किसी वस्तुविशेष की अनुपस्थिति का कथन करना अभाव है। अत: अभाव का अर्थ शून्य नहीं। यद्यपि वैशेषिक सूत्र में केवल छः भावपदार्थों की ही गणना है तथापि अभाव का उल्लेख सूत्रों में है, जैसे -

'कारणाभावात् कार्याभावः'

(का.सू. 1.2.1)

'वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात्'

(का.सू. 2.1.15)

इत्यादि। [कारण के अभाव होने से कार्य का अभाव होता है। वायु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष का अभाव होता है, क्योंकि वायु अनुमेय द्रव्य है।] प्रशस्तपाद भाष्य में विस्तृतविचार भी किया है। अतः उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे सप्तम पदार्थ मान लिया है।

'पदेन अर्थ्यते बोध्यते यं स पदार्थः'

[पद के द्वारा जिनका बोध हो उन्हें पदार्थ कहते हैं।]

इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'पदार्थ' अन्वर्थसंज्ञा है; तदनुसार अभाव को पदार्थ कहना गलत नहीं। अभाव का प्रत्यक्ष भी होता है। वस्तुओं को अनित्य सिद्ध करने के लिये भी अभाव को मानना जरूरी है। अभाव को पदार्थ माने बिना वैशेषिक दर्शन का मोक्षस्वरूप भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दुःखों के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष कहा है। यह अभाव 2 प्रकार का है-संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव। संसर्गाभाव पुनः तीन प्रकार का है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। इनके लक्षण क्रम से ऐसे हैं-

'अनादिः सान्तःकार्योत्पत्तिपूर्वभावी प्रागभावः,
सादिरनन्तः कार्योत्पत्त्यनन्तरभावी प्रध्वंसाभावः,
त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो अत्यन्ताभावः,
तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो अन्योन्याभावः ।'

(तर्क पृ. 108-110)

[अनादि काल से कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण में रहनेवाले एवं कार्योत्पत्ति के साथ-साथ नष्ट होनेवाले अभाव को प्रागभाव कहते हैं। जैसे कपाल में घटप्रागभाव। कार्योत्पत्ति के अनन्तर कारण में कार्यनाश के साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले, किन्तु उत्पन्न होने के पश्चात् अनन्तकाल तक रहनेवाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे विनष्टकपाल के टुकड़ों में घटप्रध्वंसाभाव। तीनों कालों में रहनेवाले, संसर्ग से परिच्छिन्न प्रतियोगितावाले अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे वायु में रूपाभाव। तादात्म्यसम्बन्ध से परिच्छिन्न प्रतियोगितावाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घटः पटो न ।] **'घटोभविष्यति'** इस ज्ञान से अनुभूत कार्य का अपने कारण में जो अभाव अनादिकाल से है किन्तु कार्य उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है उसे प्रागभाव कहते हैं। जैसे मृत्तिका में घटाभाव। **'घटो ध्वस्तः'** इस प्रतीति से ज्ञात और **'घटो विनंक्ष्यति'** इस प्रतीति से ज्ञात कार्योत्पत्ति के अनन्तर तथा नाश के बाद जो कार्याभाव है वह उत्पन्न हुआ है। उसे प्रध्वंसाभाव मानते हैं किन्तु उसका नाश नहीं होता। **'वायौ रूपाभावः'** इस प्रकार के ज्ञान का

विषयीभूत तीनों कालों मे दो वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध का अभाव होना, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

'समवायेन भूतले घटाभाव', और

'अस्मिन् भूतले तद्देशावच्छिन्न घटाभावोऽस्मिन् क्षणे'

इत्यादि भी दृष्टान्त हैं। 'घट: पटो न' इस ज्ञान से ज्ञात दो वस्तुओं की भिन्नता अर्थात् भेदबोधक अभाव को अन्योन्याभाव कहा है।

वैशेषिकदर्शन ने सृष्टि एवं प्रलय के सम्बन्ध में आरम्भवाद को स्वीकार किया है। परमाणुओं का परस्पर संयोग ही आरम्भ है जिससे क्रमश: सृष्टि होती है, इनका वियोग ही प्रलय है । ईश्वर की इच्छा से संयोग और वियोग होता है। परमाणुओं के नित्य एवं निरवयव होने से उनकी सृष्टि नहीं होती। रूपादि का परिवर्तन पृथिवी के परमाणुओं में ही तेजविशेषसंयोगात्मक पाक क्रिया से मानते हैं जिसे पीलुपाकवाद कहा जाता है। जल, तेज और वायु के परमाणुओं में पाक नहीं होता किन्तु उनके कार्यभूत द्व्यणुकादि में अनित्य पाक होता है। अत: जगत् के उपादानकारण 4 प्रकार के परमाणु और निमित्तकारण ईश्वर हुए। स्वयं निष्क्रिय अतएव गतिहीन परमाणुओं में जीव के अदृष्ट के अनुरूप कर्मफल प्रदान करने के लिए परमाणु में क्रिया की उत्पत्ति द्वारा द्व्यणुक आदि की उत्पत्ति का प्रेरक ईश्वर है। यह असत्कार्यवाद है।

वैशेषिक ज्ञान को विद्या कहते हैं, जो दो प्रकार की है-अनुभव और स्मृति। अनुभव को ही यथार्थ ज्ञान कहते हैं। अयथार्थ ज्ञान को अविद्या कहते हैं। वह ज्ञान 4 प्रकार का है - संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। यथार्थ भी दो प्रकार का है-प्रत्यक्ष और अनुमिति। कुछ लोगों के मत में शब्दज्ञान भी है। अत: यथार्थ ज्ञान के करण प्रमाण दो हैं - प्रत्यक्ष और अनुमान, किन्तु कुछ आचार्यों के अनुसार शब्द प्रमाण भी है। अत: वास्तव में दो ही प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान को कहा है। यथा **'अयं घट: इति ज्ञानम्।'** उस ज्ञान के करण इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वे करण छ: हैं। यथा - चक्षु, रसन, घ्राण, त्वग्, श्रोत्र और मन। इनके मुख्य विषय भी छ: हैं-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और इच्छा (कामना)। इनके परस्पर सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान भी छ:-चाक्षुष, रासन, घ्राण, त्वाच, श्रावण, एवं मानस हैं। इनकी वजह से कर्म करने पर उत्पन्न अदृष्ट से शरीर प्राप्ति एवं शरीर में सुख-दु:ख की अनुभूति होती रहती है। प्रत्यक्ष से जन्य दो वस्तुओं के साहचर्य बोध को व्याप्तिज्ञान कहते है, इसी को अनुमान प्रमाण माना गया है।

ॐ

इससे उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहा है। अनुमान दो प्रकार के है-दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। कुछ आचार्य

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'

(का.सू. 1.1.3)

[ईश्वर का वचन होने से वेद प्रामाणिक है।]

ईश्वर का वचन होने से वेद के आधार पर ईश्वर को सिद्ध करते हैं तथा ईश्वरोक्त होने से वेद को प्रमाण मानते हैं, अत: वेद को तथा आप्तप्रोक्त स्मृतियों को भी शब्द प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। अत: कर्मसिद्धान्त द्वारा बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था दी है। अज्ञान की वजह से कर्म करने पर तज्जन्य अदृष्ट द्वारा बन्ध, एवं तत्त्वज्ञान से पूर्वोक्त 6 इन्द्रिय, 6 विषय, 6 ज्ञान, सुख, दुःख एवं शरीर-इन 21 तत्त्वों के नाश से आत्यन्तिक दुःखाभाव रूपी मोक्ष प्राप्ति मानते हैं।

卐

12. न्यायदर्शन

न्यायदर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम हैं। इनका दूसरा नाम अक्षपाद भी था। न्यायदर्शन को तर्कशास्त्र, प्रमाण शास्त्र, हेतुविद्या, वादविद्या और आन्वीक्षिकी भी कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन में प्रमेयपदार्थों का विस्तृत चिन्तन किया गया है जबकि न्याय में प्रमाण चिन्तन विशेष है -

'प्रमाणैर्वस्तुपरीक्षणं न्यायः'

(वा.भा. 1.1.1)

[प्रमाणों के द्वारा वस्तु का परीक्षण करने को न्याय कहते हैं।]

इसलिये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं-ऐसी कुछ लोगों की मान्यता है। किन्तु नैयायिकों की दृष्टि में ऐसा नहीं है, प्रमेयविचार में मतभेद है। एक मान्यता यह भी है कि प्राचीन-न्याय तत्त्वशास्त्र पर जोर देता है जबकि नव्यन्याय तर्कशास्त्र पर-यह उचित है। न्यायदर्शन को गौतममहर्षि जी ने पांच अध्यायों में निर्माण किया है। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। कुल 542 सूत्र हैं। प्रथमाध्याय के प्रथमआह्निक में 16 पदार्थों में से प्रमाणादि 9 पदार्थों के लक्षणादि का कथन करके द्वितीयाह्निक में वादादि 7 पदार्थों का वर्णन किया है। द्वितीयाध्याय के प्रथम आह्निक में संशयपरीक्षण और प्रमाणचतुष्टय की सिद्धि करके द्वितीयाह्निक में अन्य प्रमाणों को 4 प्रमाणों में अन्तर्भाव किया है। तृतीयाध्याय में 6 प्रमेयों पर विचार

किये हैं। चतुर्थाध्याय के प्रथमाह्निक में शेष 6 प्रमेयों पर विचार करके द्वितीयाह्निक में दोष के निमित्त एवं अवयवी आदि को सिद्ध किया है। पञ्चमाध्याय में जाति एवं निग्रहस्थान के भेदों का वर्णन है।

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'।

(न्या.सू. 1.1.1)

[प्रमाण प्रमेय-इत्यादि 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।] इस प्रथमसूत्र में 16 पदार्थों की प्रतिज्ञा की गई है, जिनके तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्त होता है। पदार्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. **प्रमाण**- ज्ञान के असाधारण साधन को प्रमाण कहते हैं। न्याय मत में 4 प्रमाण हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनका विस्तृत विचार आगे करेंगे।

2. **प्रमेय**- ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं। वे 12 हैं-आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनः, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग (न्या. सू.1/2/9)।

3. **संशय**-एक धर्मी में विरूद्ध-अनेक कोटि (प्रकारक) ज्ञान उत्पन्न हो तो उसे संशय कहते हैं। वे तीन प्रकार के हैं-समानधर्मदर्शनजन्य, विप्रतिप्रत्तिजन्य और असाधारणधर्मजन्य। क्रम से दृष्टान्त हैं-'स्थाणुर्वापुरुषो वा, शब्दो नित्योऽनित्यो वा' और 'भूः नित्या अनित्या वा'। कुछ आचार्यो के मत में संशय दो प्रकार के है-**'बहिर्विषयकोऽन्तर्विषयकश्च'**। प्रथम पुनः दो प्रकार के हैं - **'दृश्यमानधर्मिकादृश्यमानधर्मिकश्च'**। कुछ अन्य के मत में 5 भेद भी हैं।।

4. **प्रयोजन**- जीव जिसकी इच्छा से कर्म करने के लिए प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है।

5. **दृष्टान्त**- वादी और प्रतिवादी के साध्यसाधन सम्बन्धी निश्चय का जो विषय हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। वह दो प्रकार का है-अन्वयी और व्यतिरेकी। इन्हें साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त नाम से भी कहा जाता है।

6. **सिद्धान्त**- शास्त्र के द्वारा निश्चितरूप से सिद्ध विषय को सिद्धान्त कहते हैं। यह 4 प्रकार का है। सभी शास्त्रकारों के द्वारा स्वीकृत विषय को **सर्वतन्त्रसिद्धान्त** कहते हैं, जैसे घ्राणादि इन्द्रियां हैं। समानशास्त्र द्वारा स्वीकृत किन्तु परशास्त्र द्वारा अमान्य विषय को **प्रतितन्त्रसिद्धान्त** कहते हैं, जैसे मन का इन्द्रियत्व होना। किसी एक प्रमाण द्वारा स्वीकृत विषय के माध्यम से दूसरे विषय

को सिद्ध करना **अधिकरणसिद्धान्त** हैं, जैसे पृथिव्यादियों के सकर्तृकत्व सिद्धि द्वारा ईश्वरसिद्धि करना। किसी विशेषधर्म के विचार के लिये जिस अविचारित विषय को स्वीकार किया गया हो उसे **अभ्युपगमसिद्धान्त** कहते हैं, जैसे-शब्द में नित्यत्वानित्यत्व के विचार करने में गुणत्व को स्वीकार करना जो अन्य द्वारा भी स्वीकृत है।

7. **अवयव**- परार्थानुमान में प्रयुक्त वाक्य के एकदेश को अवयव कहते हैं। वे पाँच हैं-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन (न्या.सू1/1/32)।

8. **तर्कः**- सिद्धव्याप्तिवाले दो वस्तुओं में व्याप्य के आरोप से अनिष्ट व्यापक के आरोप करने को तर्क कहा है। जैसे-यदि पर्वत अग्निवाला न होगा तो वह धूमवाला भी न होगा। ये 5 प्रकार के हैं-आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और तदन्वयबाधितार्थप्रसङ्ग। तर्क पांच अङ्गों से सम्पन्न होता है। वे हैं-

'व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये ।
अनिष्टाननुकूलत्व इति तर्काङ्गपञ्चकम् ।।'

(ता.र.पृ. 187)

[व्याप्ति, तर्क का अविघटन, विपर्यय में अवसान, अनिष्टता एवं अननुकूलत्व -ये पांच तर्क के अङ्ग हैं।]

तर्क के कारण एवं फल ऐसे हैं-

'आपाद्यव्याप्यापादकवत्ताज्ञानमापाद्यव्यतिरेकनिश्चयश्च कारणम् ।
तथाऽऽपादकव्यतिरेकनिश्चयस्तस्य फलम् ।।'

[आपद्यव्याप्यापादकवत्ताज्ञान और आपाद्य का व्यतिरेकज्ञान तर्क के कारण हैं। आपादकव्यतिरेक का निश्चय तर्क का फल है।]

9. **निर्णयः**- तदभावाप्रकारक और तत्प्रकारक अवधारणात्मक ज्ञान को निर्णय कहते हैं जैसे-रजत में रजतत्वाभावाप्रकारक विशिष्ट रजतत्वप्रकारक ज्ञान होना निर्णय है।

10. **वाद**- तत्त्वजिज्ञासुओं की कथा को वाद मानते हैं। यह आठ निग्रहस्थानों के प्रयोग का स्थान है। वे हैं-न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पञ्च हेत्वाभास। परार्थानुमान के पाँच अवयवों में से किसी का प्रयोग न करना न्यूनता है। अधिक हेतु अथवा अधिक उदाहरण प्रयोग करना अधिकता है। अपने सिद्धान्त को छोड़कर दूसरे की कथा करना अपसिद्धान्त है। हेत्वाभासों का वर्णन प्रमाण चिन्ता प्रसङ्ग में करेंगे।

11. **जल्प**- विजय प्राप्त करने के इच्छुक दो व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने पक्ष

की स्थापना करने के लिये प्रयुक्त कथा जल्प है। यह भी आगे कहे जानेवाले समस्त निग्रहस्थानों के प्रयोग का स्थान है।

12. **वितण्डा**- जिस कथा में वादी अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता और केवल प्रतिवादी पक्ष के खण्डन मात्र से अपनी विजय चाहता है-ऐसी कथा को वितण्डा कहते हैं। यह भी समस्त निग्रहस्थानों के प्रयोग का स्थान है।

13. **हेत्वाभास**- सद्धेतु के प्रयोजक पक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, सपक्षसत्त्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व-इन पाञ्च में से किसी भी एक से हीन हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। वे 5 हैं असिद्ध-विरूद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट। इनका विचार प्रमाणचिन्ता में करेगें।

14. **छल**- अन्य अर्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द के अन्य अर्थ की कल्पना करके दोष कथन करना छल है। ये तीन प्रकार के हैं-वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल।

15. **जाति**- दोष देने में असमर्थ अथवा अपने ही सिद्धान्त का घातक उत्तर देना जाति है। ये 24 प्रकार की हैं। उत्कर्षसम, अपकर्षसम, साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, अहेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम और कार्यसम।

16. **निग्रहस्थान**- पराजय के निर्णायक को निग्रहस्थान कहते हैं। वे 22 हैं- न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध, प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, पुनरुक्ति, अननुभाषणाज्ञान, विक्षेप, पर्यनुयोज्य, उपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग और हेत्वाभास।

इस प्रकार पदार्थ परिचय के अनन्तर अब प्रमाण और प्रमेय पर विशेषरूप से विचार करें। पूर्व कथनानुसार बुद्धि को ज्ञान शब्द से कहते हैं, जो कि एक गुण है। वह दो प्रकार का है - स्मृति और अनुभव।

संस्कारमात्रजनकं ज्ञानं स्मृतिः ।

(तर्क. 32)

[अनुभव के द्वारा ज्ञात विषय का भावनाख्य संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है।]

'तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः'

(तर्क. 33)

[स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं।]

वह दो प्रकार का है। यथार्थ अर्थात् प्रमा और अयथार्थ अर्थात् अप्रमा।

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः'

(तर्क. 33)

[एकधर्मी में उसी के धर्म से विशिष्ट अनुभव को यथार्थानुभव कहते हैं।]

जैसे रजतत्वधर्मवाले वस्तु में रजतत्वधर्म से विशिष्ट रजत है-ऐसे ज्ञान होने को यथार्थज्ञान अथवा प्रमा कहते हैं। वह प्रमा चार प्रकार की हैं-प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। इन प्रमाओं की उत्पत्ति के असाधारणकारण=करण भी चार हैं-प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द। इनको ही प्रमाण कहते हैं, क्योंकि प्रमा के करण को प्रमाण माना है-

'प्रमाकरणं प्रमाणम् ।'

[प्रमा के करण (असाधारण कारण) को प्रमाण कहते हैं।]

अतः प्रत्यक्षप्रमा के करण को प्रत्यक्षप्रमाण कहेंगे। गौतम महर्षिजी ने सूत्र में प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण इस प्रकार कहा है-

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यं
अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'

(न्या.सू. 1/1/4)

[इन्द्रिय और विषय के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न एवं भ्रम से भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। वे दो प्रकार के हैं- अव्यपदेश्यं=निर्विकल्पक और व्यवसायात्मकं=सविकल्पक।]

निष्प्रकारकज्ञान को निर्विकल्पक एवं सप्रकारकज्ञान को सविकल्पक कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ छः हैं-श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राण एवं मनः। विषयों के विचार प्रमेयचिन्ता में करेंगे। सन्निकर्ष दो प्रकार के हैं-लौकिक और अलौकिक। लौकिकसन्निकर्ष 6 हैं-संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। अलौकिकसन्निकर्ष 3 हैं-सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। अतः प्रत्यक्ष भी दो प्रकार के हैं-लौकिकप्रत्यक्ष और अलौकिकप्रत्यक्ष। पुनः लौकिकप्रत्यक्ष को दो भागों में विभक्त किया गया है-बाह्यप्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष। प्रत्येक वस्तु का सर्वप्रथम निर्विकल्पक ज्ञान होता है, इसमें वस्तु के अस्तिव का आभास एवं गुण, जाति आदि का पृथक् भान मानते हैं जबकि सविकल्पक ज्ञान में गुण, जाति आदि से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिये निर्विकल्प को संवेदनात्मक एवं सविकल्प को पूर्णप्रत्यक्ष कहा

है। कुछ लोग सविकल्प के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को भी ग्रहण करते हैं।

'तत्तेदन्तावगाहिज्ञानम् प्रत्यभिज्ञा'

[एक ही वस्तु के भूतकाल में किये गए प्रत्यक्ष के संस्कार से उद्भूत वर्तमानकाल में स्मृति के साथ उसी वस्तु का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होना प्रत्यभिज्ञा है।]

जैसे 'सोऽयं देवदत्त:'।

'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च'

(न्या.सू. 1/1/5)

[प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक ही अनुमान होता है। वह अनुमान तीन प्रकार का है। वे हैं-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।]

इस सूत्र द्वारा संकेतित हुआ है कि प्रत्यक्ष पूर्वक ही अनुमान होता है अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत व्याप्ति एवं पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न परामर्शज्ञान के माध्यम से अनुमिति उत्पन्न होती है। प्राचीन नैयायिकों के मत में ज्ञायमानलिङ्ग अर्थात् वर्तमानकालिकज्ञान के विषयीभूत हेतु अथवा परामर्श ही अनुमान है। किन्तु नव्यमत में व्याप्तिज्ञान को अनुमान एवं परामर्श को व्यापार सिद्ध किया है। प्रत्यक्ष स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष होने से स्वयंमूलक है जबकि अनुमान प्रत्यक्षमूलक है, फिर भी अनुमान पृथक् प्रमाण है क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियाधीन होने से वर्तमान तक ही सीमित है, किन्तु अनुमान प्रत्यक्ष से गृहीत व्याप्ति के आधार पर भूत एवं भविष्यत् विषयों का भी ज्ञान कराता है। प्रत्यक्ष ज्ञान संशयरहित, निश्चित एवं साक्षात् होता है जबकि अनुमिति संशयपूर्ण, अनिश्चित एवं परोक्ष है जिसे लम्बी प्रक्रिया द्वारा निश्चित किया जाता है। अत: अनुमान दो प्रकार का माना गया है-स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान में स्वयं व्यक्ति व्याप्ति, पक्षधर्मता एवं परामर्श ज्ञान उत्पन्न करके अनुमिति कर लेता है। परार्थानुमान में पाँच अवयवों वाला वाक्य प्रयोग होता है। वे हैं-**प्रतिज्ञा**-साध्य का पक्ष में सम्बन्ध कथन, जैसे- पर्वतो वह्निमान्। **हेतु**-प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त युक्ति, जैसे-धूमवत्त्वात्। **उदाहरण**-व्याप्ति कथनपूर्वक दृष्टान्त का कथन, जैसे-यत्र यत्र धूम: तत्र तत्र वह्नि: यथा महानसम्। **उपनय**-उदाहरण में प्रस्तुत हेतु और साध्य के सम्बन्ध को पक्ष में दिखाना, जैसे-जिसप्रकार धुआँ होने से रसोई घर में अग्नि है उसी प्रकार धुआँ दीखने से पर्वत पर भी अग्नि है - 'तथा चायम्'। **निगमन**-प्रतिज्ञा का ही सिद्ध स्वरूप है, जैसे पर्वतो वह्निमान्, 'तस्मात् तथा' अर्थात् जिसलिये पर्वत धुआँवाला है इसलिये पर्वत अग्निवाला है। इससे यह स्पष्ट है कि अनुमान का आधार व्याप्ति अर्थात् हेतु एवं साध्य का सम्बन्ध तथा पक्षधर्मता अर्थात् हेतु का पक्ष में सम्बन्ध

प्रतीति है। व्याप्ति दो प्रकार की है-अन्वय और व्यतिरेक। एक वस्तु के भाव से दूसरे वस्तु के भी भाव का कथन करना अन्वय है, जैसे यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः। एक वस्तु के अभाव से दूसरे वस्तु के भी अभाव का कथन करना व्यतिरेक है, जैसे यत्र-यत्र बह्न्यभावः तत्र-तत्र धूमाभावः। गृहीत व्याप्ति को व्यभिचाराभाव, उपाधिनिरास, तर्क एवं सामान्यलक्षणप्रत्यक्ष द्वारा दृढ़ किया जाता है। प्रत्येक हेतु एवं साध्य के सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेकात्मक नहीं होते, इसलिये व्याप्ति के आधार पर अनुमान पुनः तीन प्रकार का होता है-केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। यह नव्य नैयायिकों का मत है, जबकि प्राचीन नैयायिकों का मत सूत्र द्वारा हमने बताया है। ज्ञात कारण द्वारा अज्ञात कार्य का अनुमान करना **पूर्ववत्** है, जैसे आकाश में बादल को देखकर वर्षा का अनुमान। ज्ञातकार्य के आधार पर अज्ञात कारण का अनुमान करना **शेषवत्** है। जैसे अच्छी फसल को देखकर अच्छी वर्षा का अनुमान। सदैव साथ में रहने वाले दो वस्तुओं के ग्रहण के अनन्तर एक के ज्ञान से दूसरे का अनुमान करना **सामान्यतोदृष्ट** है। जैसे-शङ्ख और सफेद रंग। सद्हेतु पाँचरूप से उपपन्न होते हैं, जैसे- पक्ष में वृत्ति, सपक्ष में वृत्ति, विपक्ष में अवृत्ति, सत्प्रतिपक्षरहित और अबाधितत्व। इन पाँचों से युक्त हेतु को अन्वयव्यतिरेकी, सपक्षवृत्ति को छोड़कर शेष से युक्त हेतु को केवलान्वयी और विपक्षावृत्ति को छोड़कर शेष से युक्त को केवलव्यतिरेकी मानते हैं। इन तीन प्रकार से भिन्न हेतुओं को हेत्वाभास कहा जाता है। वे पाँच हैं-सव्यभिचार, विरूद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित। इनमें क्रम से उपरोक्त पाँच रूपों में से विपक्षासत्त्व का अभाव, सपक्षसत्त्व का अभाव, सत्प्रतिपक्षरहितत्त्व का अभाव, पक्षसत्त्व का अभाव और अबाधितत्त्व का अभाव है। इसलिये इन्हें हेत्वाभास, असद्धेतु अथवा दुष्टहेतु कहा जाता है। व्याप्तिगतनियम को भंग करनेवाले हेतु को **सव्यभिचार** अथवा अनैकान्तिक कहते हैं। वे तीन प्रकार के हैं- साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। साध्य के अभाव से निरूपित व्याप्तिवाले हेतु को **विरूद्ध** कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं-विधिसाधन और निषेधसाधन। हेतुत्वेन जिसका निश्चय न हो सके उसे **असिद्ध** कहते हैं। वह तीन प्रकार का है - आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। इनमें से स्वरूपासिद्ध के 4 प्रकार हैं - भाग, शुद्ध, विशेषण और विशेष्य। व्याप्यत्वासिद्ध भी 4 प्रकार के हैं-केवलसाध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक और उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक। किन्तु आचार्य मथुरानाथजी व्याप्यत्वासिद्ध को तीन प्रकार का मानते हैं। वे हैं-साध्यविशेषणासिद्ध, साधनविशेषणासिद्ध और

व्याप्तिविरहरूप। जिस साध्य के हेतु के विपरीत अपने साध्य के अभाव को सिद्धकरने वाला दूसरा हेतु हो उसको **सत्प्रतिपक्ष** कहते हैं। पक्ष में जिस हेतु का साध्याभाव प्रमाणान्तर से गृहीत हो उसे **बाधित** कहते हैं। यह दस प्रकार का है-धर्मिग्राहकमानबाधित-1) प्रत्यक्षेण, 2) अनुमानेन, 3) आगमेन; साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित- 4) प्रत्यक्षेण, 5) अनुमानेन, 6) उपमानेन; साध्यग्राहकमानबाधित- 7) आगमेन; हेतुग्राहकमानबाधित-8) प्रत्यक्षेण, 9) अनुमानेन और 10) आगमेन।

सादृश्यज्ञानरूपी उपमानप्रमाण से उपमितिज्ञान उत्पन्न होता है। संज्ञा का संज्ञी के साथ सम्बन्धबोध होना उपमिति है। अतः किसी न देखे हुए अर्थात् अज्ञातवस्तु का किसी पुरुष द्वारा ज्ञातवस्तु के साथ समानता जानकर (अतिदेश वाक्य), कालान्तर में उस अज्ञात वस्तु को देखते ही सादृश्य बोधक अतिदेश वाक्य के स्मृति द्वारा सादृश्यता के आधार पर उस वस्तु के नाम का बोध उस पिण्ड में कर लेना ही उपमिति है। जैसे गो का सादृश्यज्ञान से गवय (नील गाय) में गवयपद की वाच्यता ग्रहण करना। यह दो प्रकार की है-साधर्म्योपमिति और वैधर्म्योपमिति। प्रथम पुनः दो प्रकार की है-साधारणधर्मविशिष्ट और असाधरणधर्मविशिष्ट।

'आप्तवाक्यं शब्दः'-आप्तवाक्य को शब्दप्रमाण माना गया है। इससे जन्य ज्ञान को शाब्दीप्रमा कहते हैं। वह दो प्रकार की है- वैदिकी और लौकिकी। उसे पुनः दो प्रकार से कहते हैं- दृष्टार्थबोध और अदृष्टार्थबोध। वाक्यार्थबोध आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिरूपी सामग्री से उत्पन्न होता है। प्रत्येक शब्द में विद्यमान अर्थबोधक शक्ति दो प्रकार की है-अभिधा और लक्षणा। लक्षणा पुनः तीन प्रकार की है-जहत्, अजहत् और जहदजहद्। लक्षणा का निर्णय वाक्य की तात्पर्यानुपपत्ति अथवा अन्वयानुपपत्ति से होता है। अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही बोध हो -ऐसी जो ईश्वर अथवा आप्तपुरूष की इच्छा अथवा संकेत को शक्ति कहते हैं। शब्द का अर्थ में शक्तिग्रह 8 प्रकार से होता है-

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

(न्या.सि.मु.पृ. 296)

[वे हैं- व्याकरण, उपमानप्रमाण, शब्दकोश, आप्तवाक्य, वृद्धादि के व्यवहार, वाक्यशेष, विवरणवाक्य और प्रसिद्धपद की सन्निधि।]

इस प्रकार प्रमाणों के संक्षिप्त विचार के अनन्तर अब प्रमेय पदार्थ पर विवेचन

करें। गौतमसूत्र (1/1/9) में कहा है-

'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्॥'

(न्या.सू. 1.1.9)

[आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग- ये 12 प्रमेय हैं।]

चैतन्यविशिष्ट आत्मत्वजातिवाली वस्तु को **आत्मा** कहते हैं। वह एक, नित्य एवं विभु है, किन्तु प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न। अनन्तजीव के कारण आत्मत्वजाति मानी गयी है। जीवों से अतिरिक्त एक परमात्मा है जो सर्वज्ञ, नित्यज्ञान, नित्य इच्छा और नित्यप्रयत्नवाला है। आत्मा परम महत् परिमाणवाला है। ईश्वरसिद्धि के लिये न्यायकुसुमाञ्जलिकार श्री उदयनाचार्य जी ने 9 अनुमानों के लिये 9 हेतुओं का संग्रह किया है-

'कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥'

(न्या.कु. 5.1)

[कार्य,आयोजन, धृति,आदिशब्द से नाश-प्रलय, पद, प्रत्यय, वेद, वाक्य और संख्याविशेष- इन हेतुओं से अनुमान द्वारा विश्व के वेत्ता, अव्यय-ईश्वर को सिद्ध किया गया है।]

भोग के साधनभूत अन्त्यावयवी को **शरीर** कहते हैं अथवा चेष्टा के आश्रयभूत पदार्थ को, वह अनन्तप्रकार का है। शरीर में संयोगसम्बन्ध से विद्यमान ज्ञान के करण अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष का अविषयीभूत) वस्तु को **इन्द्रिय** कहा है। वे छः हैं-चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण, रसन एवं मनः। प्रथम 5 को बाह्य एवं अन्तिम को अन्तःकरण कहते हैं। वे क्रम से तेज, आकाश, वायु, पृथिवी एवं जल द्रव्य के कार्य होने से भौतिक हैं, किन्तु मन एक स्वतन्त्र वस्तु है, अणुपरिमाण, हृदय के भीतर रहनेवाला एवं सुखादि आत्मसमवेत गुणों का प्रकाशक है। ज्ञान के विषय को **अर्थ** कहते हैं। वे छः हैं-रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श एवं सुख। यह सूत्रकार गौतम महर्षि का मत है। किन्तु अन्नंभट्ट ने अपने 'तर्कसंग्रहः' ग्रन्थ में न्याय-वैशषिक का समन्वय करने के लिए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय नामक छः पदार्थों को ग्रहण किया है। इनके स्वरूप एवं भेदादि की चर्चा वैशेषिकदर्शन में पहले ही की जा चुकी है। समस्तव्यवहार के कारणीभूत गुणविशेष को **बुद्धि** अथवा ज्ञानादि शब्दों से कहते हैं। यह दो प्रकार की है-स्मृति और अनुभव। अनुभव पुनः दो प्रकार का है-यथार्थ और अयथार्थ।

यथार्थ के लक्षण एवं भेदादि का विचार पूर्व में कर चुके हैं। अब अयथार्थ के लक्षण एवं भेद पर प्रकाश डालते हैं-अप्रमाण से जन्य अर्थव्यभिचारी को अयथार्थ अनुभव कहते हैं, अर्थात् तदभाववति तत्प्रकारकानुभव को अयथार्थ माना है। वह तीन प्रकार का है- संशय, विपर्यय और तर्क भेद से। संशय एवं तर्क का विचार पदार्थविवेचन में कर चुके हैं। अतस्मिंस्तद्ग्रह को विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान कहते हैं- जैसे शुक्ति में 'इदं रजतम्' ज्ञान होना। स्मृति का लक्षण कर चुके हैं। वह दो प्रकार की है-यथार्थ और अयथार्थ। यह जाग्रतकालीन स्मृति का भेद है, अत: स्वप्नकाल में पूरी अयथार्थ स्मृति ही होती है। **मन**- इस प्रमेयभेद का विचार इन्द्रियप्रभेद विवेचन में कर लिया गया है। धर्म एवं अधर्म को पैदा करनेवाली यागहिंसादि क्रिया को **प्रवृत्ति** माना गया है; जो कि वाणी, बुद्धि (अर्थात् मन) एवं शरीर से उत्पन्न होती है, जिसमें यह गौतमीयसूत्र प्रमाण है- '**प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीराम्भः**। (न्या.सू. 1/1/17)। **प्रवर्तनालक्षणा दोषाः**॥' (न्या. सू. 1/1/18) के अनुसार प्रवृत्ति के कारण को **दोष** कहते हैं। वे तीन प्रकार के हैं- राग, द्वेष और मोह। राग पुन: 7 प्रकार का है-काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया और दम्भ। द्वेष 6 प्रकार के हैं-क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष और अभिमान। मोह भी 7 प्रकार के हैं-विपर्यय, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय और शोक। पुनर्जन्म प्राप्ति **प्रेत्यभाव** है। यह अनादि काल से चल रहा है और मोक्ष पर्यन्त रहेगा। स्वकर्म के परिणामस्वरूप प्राप्त भोग को **फल** कहते हैं। वह दो प्रकार का है-गौण और मुख्य। सुखदु:खादि का अनुभव मुख्यफल और शरीर, इन्द्रिय एवं विषयप्राप्ति गौण फल हैं। स्वप्रतिकूलवेदनीयगुणविशेष को दु:ख अथवा पीड़ा कहते हैं, जो कि 21 प्रकार के हैं। जिनकी चर्चा कर चुके हैं। मोक्ष को **अपवर्ग** कहा है। वह 21 प्रकार के दु:खों की आत्यन्तिकनिवृत्ति से होता है। यह प्रमेयसम्बन्धी विचार है।

असत्कार्यवाद-न्याय एवं वैशेषिकदर्शन सांख्य एवं योग के समान सत्कार्यवाद को नहीं मानते हैं अपितु असत् कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। न्याय के अनुसार कार्यकारणभाव नियम स्वत:सिद्ध है। अन्यथासिद्ध से भिन्न कार्य के नियत पूर्ववर्ती को कारण कहते हैं। कारण सदैव अनौपाधिक तथा कार्य के समकाल एवं समानदेशवर्ती होता है। अत: एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होता है अर्थात् कार्यकारणभावसम्बन्ध अन्वयव्यतिरेकी होता है। कारण तीन प्रकार का माना गया है-उपादानकारण अथवा समवायिकारण, असमवायिकारण, और निमित्तकारण। समवायिकारण सदैव द्रव्य ही होता है और असमवायिकारण सदैव गुण एवं कर्म

होते हैं किन्तु निमित्तकारण कार्योत्पत्ति के समस्त सहकारी वस्तु को कहते हैं। न्यायमत में कार्य की सत्ता को उत्पत्ति के पूर्व कारण में अन्तर्भूत नहीं माना गया है। इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद कहा जाता है। 6 प्रमुख युक्तियों से अपनी बात सिद्ध करते हैं-यदि कार्य कारण में पहले से ही है तो निमित्तकारण व्यर्थ होगा, उत्पत्ति का कथन मिथ्या होगा, कार्य और कारण अभिन्न होंगे, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे, दोनों के द्वारा समान प्रयोजन सिद्ध होने लगेगा जो कि प्रत्यक्षविरूद्ध है एवं अन्ततः दोनों के स्वरूप एक होने चाहिये लेकिन ऐसा नहीं होता, अतः असत्कार्यवाद मानना चाहिये। इस वाद को न्याय-वैशेषिक ही नहीं बल्कि जैन, बौद्ध एवं मीमांसक भी स्वीकार करते हैं।

बन्धन का कारण आत्मा का शरीर, इन्द्रिय एवं मन से पार्थक्यता का अज्ञान है अर्थात् परस्पर तादात्म्यभाव मानकर व्यवहार करना बन्धन है। इसके कारण कुछ गलत धारणायें बनी रहती हैं। वे हैं-अनात्मा को आत्मा, अनित्य को नित्य, दु:ख को सुख, अप्रिय को प्रिय समझना तथा कर्म एवं कर्मफल को न मानना और मोक्षादि में सन्देह। 21 प्रकार के दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष है अर्थात् मोक्ष अभावात्मक है आनन्दात्मक नहीं। तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने सर्वविशेषगुणरहित अचेतनस्वरूप में बना रहता है। मोक्ष प्राप्ति के प्रमुख साधन शास्त्र का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन है। इसके लिये विषयदोष दर्शन द्वारा वैराग्य, निष्कामकर्मयोग द्वारा अन्तःकरणशुद्धि, इष्टदेव के मन्त्र जप ध्यानादि द्वारा वासनाक्षय आवश्यक है। इन योग्यताओं को प्राप्तकर शास्त्राभ्यास करते हुए आत्मसाक्षात्कार कर लेना मोक्ष है। लेकिन नव्यनैयायिकों ने मोक्ष को आनन्दमय स्वरूप माना है। किन्तु आत्मा को चेतनस्वरूप माने बिना यह युक्तिसंगत नहीं लगता है।

卐

13. मीमांसा दर्शन

महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के रचयिता हैं। उन्होंने वैदिक आदि कर्मसम्बन्धी समस्त संशयों के निवारणपूर्वक एक हजार न्यायों (सिद्धान्तों) से युक्त 12 अध्याय वाले कर्ममीमांसा एवं संकर्षकाण्ड नामक 4 अध्यायों में प्रमाणप्रमेय मीमांसा करके आस्तिकों के लिये एक महान उपकार किया है। मीमांसा शब्द का अर्थ है पूजितविचार। यह दो भागों में है। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा में वेद के कर्मभाग पर विचार जैमिनि जी ने किया है जबकि वेदव्यासजी ने ज्ञानभाग पर उत्तरमीमांसा (अर्थात् ब्रह्मसूत्र) में किया है। अत: पूर्वमीमांसा को धर्म अथवा कर्म मीमांसा एवं उत्तरमीमांसा को ज्ञान अथवा ब्रह्ममीमांसा अथवा वेदान्त कहा जाता है।

अब मीमांसादर्शन में पूर्वमीमांसा का विचार करेंगे और उत्तरमीमांसा का विचार वेदान्त दर्शन में किया जायेगा। मीमांसादर्शन को तीन भागों में विभक्त कर विचार किया जा सकता है-प्रमाणविचार, तत्त्वविचार और धर्मविचार। यद्यपि धर्मविचार को शब्द- प्रमाण के विचार के अन्तर्गत लिया जा सकता है तथापि 16 में से 12 अध्यायों में धर्मविचार होने से पृथक् किया गया है।

प्रमाणविचार:-

मीमांसा दर्शन में अज्ञात तत्त्वार्थज्ञान को प्रमा कहते हैं। ऐसी प्रमा के करण

को प्रमाण कहा है। वे छः हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य प्रमाज्ञान को **प्रत्यक्ष** कहते हैं। 6 इन्द्रियों के कारण प्रत्यक्षप्रमा भी 6 हैं। वे हैं-चाक्षुष, रासन, घ्राणज, स्पार्शन, श्रावण और मानस। प्रत्यक्ष के कारणीभूत सन्निकर्ष दो प्रकार के हैं-संयोग और संयुक्ततादात्म्य। कुछ लोग संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य नामक तीसरा सन्निकर्ष भी स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रभाकरगण ने समवाय को पदार्थ रूप में स्वीकार किया है। अत: उनके मत में सन्निकर्ष के स्वरूप ऐसे हैं-संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय। यह प्रत्यक्षप्रमा दो प्रकार की है-निर्विकल्पक और सविकल्पक। सविकल्पक पुन: 5 प्रकार की हैं-द्रव्यप्रमा, जातिप्रमा, गुणप्रमा, कर्मप्रमा और नामप्रमा।

व्याप्यदर्शन से जनित असन्निकृष्टार्थ विषयक प्रमा ज्ञान को **अनुमिति** कहा जाता है और उसके करण को अनुमान। व्याप्ति को ही अनुमान माना गया है। साध्य एवं हेतु के उपाधिरहित सम्बन्ध विशेष को व्याप्ति कहते हैं। साधन का अव्यापक होता हुआ साध्य के साथ जो समव्याप्तिवाला हो उसे उपाधि कहते हैं। व्याप्ति में निरुपाधिकत्व का निर्णय 5 अंगों से युक्त अनुकूल तर्क द्वारा किया जा सकता है। वे हैं-व्याप्य के आरोप द्वारा व्यापक की आरोपात्मक **व्याप्ति**, प्रतितर्क द्वारा अविघटित **तर्काप्रतिहति**, **विपर्ययपर्यवसान**-साधनाभाव के विपर्यय की सिद्धि हो, **अनिष्टत्व**-प्रसज्जनीय साधनाभाव का पर्वतादि में मानना इष्ट न हो और **अननुकूलत्व**-प्रतिवादी के अभिमत अर्थ का साधक न होना। तर्क का चौथा अङ्ग अनिष्टप्रसक्ति पुन: 4 प्रकार की है-आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अनवस्था। अत: भूयोदर्शन द्वारा दृश्योपाधि का निराकरण करके अदृश्योपाधियों का निरास तर्क से करने पर यथार्थव्याप्ति ग्रहण होती है। इस प्रकार की व्याप्ति से विशिष्ट व्याप्यदर्शन द्वारा असन्निकृष्टार्थ प्रमाज्ञान को अनुमिति कहा गया। अनुमिति का करणभूत अनुमान तीन प्रकार का हैं-अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी। यह भेद दो प्रकार की व्याप्ति के कारण है-अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति। लेकिन केवलव्यतिरेकी को भाट्टगण नहीं मानते हैं अपितु उससे सिद्धवस्तु को अनुपलब्धि का विषय मानते हैं। व्याप्ति का आधारभूत हेतु जब 5 रूपों से उपपन्न हो तो उसे सद्धेतु कहते हैं। वे हैं-पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षावृत्तित्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्त्व। अनुमान को पुन: दो प्रकार का मानते है-दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। प्रयोजन के आधार पर अनुमान पुन: दो प्रकार का है-स्वार्थ और परार्थ। परार्थानुमान को तीन अवयवोंवाला वाक्य मानते हैं मीमांसक।

वे हैं-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन। अत: आभास भी तीनप्रकार के हैं प्रतिज्ञाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास। **प्रतिज्ञाभास** को पक्षाभास भी कहते हैं, जो कि 3 प्रकार का है- सिद्धविशेषण, बाधितविशेषण और अप्रसिद्धविशेषण। बाधकप्रमाणभेद से बाधितविशेषण पुन: 6 प्रकार के हैं-प्रत्यक्षबाधादि। **हेत्वाभास** 4 प्रकार के हैं-असिद्ध, विरूद्ध, सव्यभिचार और असाधारण। **असिद्ध** पुन: 4 प्रकार के हैं-व्याप्यत्वासिद्ध, आश्रयासिद्ध, सम्बन्धासिद्ध और स्वरूपासिद्ध। व्याप्यत्वासिद्ध तीन प्रकार के हैं-केवलसाध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक और साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक। स्वरूपसिद्ध भी पुन: 2 भेद से गृहीत है-विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध। सम्बन्धासिद्ध को 9 प्रकार में विभक्त किया गया है। वे हैं-शुद्धासिद्ध, भागासिद्ध, विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषण, व्यर्थविशेष्य, व्यधिकरण, व्यतिरेक और अज्ञानासिद्ध। **विरूद्ध** दो प्रकार का है-साध्यस्वरूपबाध और साध्यविशेषबाध। **दृष्टान्ताभास** साधर्म्योदाहरणाभास और वैधर्म्योदाहरणाभास भेद से दो हैं। इनमें से प्रथम पुन: 4 प्रकार के हैं-साध्यहीन, साधनहीन, उभयहीन और आश्रयहीन। इसी प्रकार दूसरे के भी 4 भेद हैं-साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त और आश्रयहीन।

यद्यपि अनुमान के बाद सूचीकटाहन्याय के आधार पर तार्किक उपमिति को लेते हैं तथापि भूयोऽनुग्रहन्याय के आधार पर मीमांसक शब्दप्रमाण को लेते हैं। ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण हो जाने पर जो असन्निकृष्टार्थ विषय प्रमाज्ञान होता है उसे **शाब्दज्ञान** कहते हैं। शाब्दबोध लक्षणा से एवं पदार्थबोध स्मृति से मानते हैं। अत: वाक्यार्थज्ञान की उत्पत्ति के लिये तीन कारण माने गये हैं-आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि। उस शाब्दज्ञान के दो भेद हैं - पौरुषेय और अपौरुषेय। आप्तपुरुष के वचनों से ही पौरुषेय प्रमाज्ञान होता है। अत: अनाप्तपुरुषवचनजन्य ज्ञान पौरुषेय अप्रमा होता है। किन्तु अपौरुषेय वैदिक एवं तन्मूलकस्मृत्यादिजन्य ज्ञान सदैव प्रमा ही होता है। इन्हें लौकिक और वैदिक भी कहते हैं।

दृश्यमानपदार्थ के सादृश्य से स्मर्यमाण असन्निकृष्टपदार्थ में उत्पन्न सादृश्यबोध को **उपमिति** कहते हैं और इसके करण को उपमान-प्रमाण। अत: 'गोसदृशो गवय:' यह उपमान है और 'एतत्सदृशी मदीया गौ:' यह उपमितिज्ञान है। यह तीन प्रकार का है-साधर्म्यप्रयुक्त, वैधर्म्यप्रयुक्त और धर्ममात्रप्रयुक्त।

उपपाद्य पदार्थ की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर जो उसके उपपादक की कल्पना की जाती है उसे **अर्थापत्ति** प्रमा कहते है और उसके करण को भी

अर्थापत्ति कहते हैं। साधारण प्रमाणों (ज्ञान) का असाधारण प्रमाण (ज्ञान) से विरोध उपस्थित होने पर अविरूद्धांश में तात्पर्य का निश्चय करने को अर्थापत्तिप्रमाण (ज्ञान) कहते हैं। वह अर्थापत्ति दो प्रकार की है-दृष्ट और श्रुत। देवदत्त के पीनत्व से रात्रिभोजनादि ज्ञानरूप दृष्टान्त दृष्टार्थापत्ति के हैं। अधूरे वाक्य की अन्वयोपपत्ति के लिये अपेक्षित शब्द का अध्याहार करना श्रुतार्थापत्ति है।

उपलब्ध होने योग्य होने पर भी उपलब्ध न होने पर, वस्तु के अभाव का जो ज्ञान होता है उसे **अनुपलब्धि** प्रमा कहते हैं। उपालम्भयोग्यता ही करण है, उसे अनुपलब्धिप्रमाण अथवा अभावप्रमाण कहते हैं। विषय एवं विषयाधीन सन्निकर्ष को छोड़कर शेष प्रत्यक्षसामग्री की उपस्थिति ही उपलम्भयोग्यता है। यह अनुपलब्धिप्रमाण दो प्रकार का है-प्रमाणाभावरूप और स्मरणाभावरूप। इनमें से प्रथम पुन: 5 प्रकार के हैं। प्रत्यक्षप्रमाण के अभावरूप अनुपलम्भ से घटादि के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणाभावरूप अनुपलम्भ से होता है। उसी प्रकार अनुमानगम्य पदार्थों के अभाव का ग्रहण (ज्ञान) योग्यानुमानप्रमाणाभावरूप (अनुमान का उदय न होना) अनुपलम्भ से होता हैं। इसी प्रकार उपमानगम्य, शब्दगम्य और अर्थापत्तिगम्य पदार्थों के अभाव का ज्ञान उपमानप्रमाणाभाव, शब्दप्रमाणाभाव अर्थापत्तिप्रमाणाभावरूप अनुपलम्भों से होते हैं।

वास्तव में ज्ञान 4 प्रकार के हैं- यथार्थ, अयथार्थ, स्मरण और अनुवाद। उक्त छ: प्रकार के प्रमा को यथार्थज्ञान के अन्तर्गत माना गया है। ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं, जिसे दो प्रकार से विचार किया जायेगा-तत्त्वविचार और धर्मविचार।

तत्त्वविचार:-

आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार मीमांसादर्शन में 5 पदार्थ माने गये हैं। वे हैं- द्रंव्य, जाति, गुण, कर्म और अभाव। परिमाणात्मक गुण के आधारभूत पदार्थ को **द्रव्य** कहते हैं। वे 11 प्रकार के हैं। वे हैं-पृथिवी, जल, तेज, वायु, तम, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और शब्द। तादात्म्यसम्बन्ध से गन्धात्मकगुण के आश्रय को ***पृथिवी*** कहते हैं। वह दो प्रकार की है-नित्या और अनित्या। नित्या परमाणु है, और अनित्या के तीन भेद हैं-शरीर, इन्द्रिय और विषय। आत्मगतभोग के आश्रय को शरीर माना है, वह पुन: 4 प्रकार का है-जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। इन्द्रिय घ्राण है और विषय-घट, पट, पर्वत, पाषाणादि अनन्त हैं। स्वाभाविक द्रवत्व के आश्रय को ***जल*** कहते हैं। यह भी परमाणुरूप नित्य एवं कार्यरूप अनित्य भेद से दो हैं। इन्द्रिय और विषय भेद से कार्य दो हैं। इन्द्रिय

रसना है एवं विषय-तालाब, नदी, आदि भेद से अनेक हैं। उष्णस्पर्शगुणवाले द्रव्य को ***तेज*** माना गया है। वह नित्य और अनित्य भेद से दो कार्य हैं। नित्य परमाणु हैं जबकि अनित्य कार्य चक्षुरिन्द्रियात्मक और सूर्य चन्द्र स्वर्णादि भेद से अनेक विषय हैं। तेजगत रूप एवं स्पर्श तीन प्रकार के हैं-उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत। पुन: एक का अनुद्भव मानकर दो भेद होते हैं- उद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्श, उद्भूतस्पर्शानुद्भूतरूप। अभिभव 2 प्रकार का है-रूपाभिभवस्पर्शानभिभव एवं स्पर्शाभिभवरूपानभिभव। रूपरहितस्पर्शवाले द्रव्य को ***वायु*** कहते हैं। यह भी नित्य और अनित्य भेद से दो है। नित्य परमाणु हैं और अनित्य में त्वगिन्द्रिय एवं नि:श्वासमन्दवातादि भेद से अनेक विषय हैं। स्पर्शरहितरूपवाले द्रव्य को ***तम*** कहा है। वह भी नित्य और अनित्य भेद से दो है। नित्य परमाणु हैं एवं अनित्य अन्धकारादि हैं। इन पाँच द्रव्यों के इन्द्रियों को छोड़कर शेष अर्थात् शरीर, विषय एवं परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष मानते हैं मीमांसकगण। अवकाशस्वरूपवाले द्रव्य को ***आकाश*** कहते हैं। आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और शब्द-ये सभी द्रव्य नित्य, विभु एवं निरवयवी हैं। मन को छोड़कर शेष का प्रत्यक्ष होता है। उपाधिभेद से यद्यपि आकाश अनन्त हैं तथापि एक है। अतीतादि व्यवहार बुद्धि के कारणीभूत द्रव्य ***काल*** है। वह एक होते हुए भी उपाधि भेद से अनेक हैं। पूर्वादि व्यवहारबुद्धि के कारणीभूत द्रव्य को ***दिक्*** कहा है। वह भी यद्यपि एक है तथापि उपाधिभेद से अनेक हैं। चैतन्य का आश्रयभूत आत्मत्वजातिवाला द्रव्य ***आत्मा*** है। देह, इन्द्रिय, ज्ञान और सुखादि से भिन्न, शरीरभेद से अनन्त एवं स्वर्गापवर्गादि फलों के भोक्ता के रूप में आत्मा को माना है। सुखादिविषयक अपरोक्ष के कारणीभूत इन्द्रियात्मक द्रव्यविशेष को ***मन*** कहते हैं। वह शरीरात्मक उपाधिभेद से अनेक है। श्रोत्रेन्द्रियमात्रग्राह्य शब्दत्वजातिवाला द्रव्य ***शब्द*** है। वह नित्य एवं व्यापक है। वह दो प्रकार का है-वाचक और अवाचक। प्रथम संस्कृतभाषादिरूप है और दूसरा ध्वन्यात्मक होता है। इस प्रकार संक्षेप में 11 द्रव्यों का विचार समाप्त होता है।

अब जातिनामक दूसरे पदार्थ पर विचार करें। तादात्म्यसम्बन्ध से व्यक्ति में विद्यमान नित्यधर्मविशेष को **जाति** कहते हैं। वह प्रत्यक्षज्ञान का विषय है एवं व्यक्ति से भिन्नाभिन्न कही जाती है। सत्तात्मक महासामान्य द्रव्य, गुण, कर्म और जाति में रहता है, अत: जाति दो प्रकार की है- पर और अपर। परजाति सत्ता है जो 4 पदार्थों में रहती है एवं अपरजाति द्रव्य, गुण और कर्म -इन 3 पदार्थों तथा उनके कार्यों में रहती है।

कर्म से भिन्न, अवान्तर (अपर) जातिवाला और उपादानत्वरहित पदार्थ को **गुण** कहते हैं। वे 24 हैं। क्रम से लक्षणादि सहित वे इस प्रकार हैं-चक्षुरिन्द्रियमात्रग्राह्य गुण ***रूप*** है। वह पृथिवी, जल, तेज, और तम में रहता है। उसके 5 भेद हैं,-शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त और श्याम। रसनेन्द्रिय के विषयभूत गुण को ***रस*** मानते हैं। वह पृथिवी और जल में रहता है। उसके 6 भेद हैं-मधुर, तिक्त, आम्ल, कषाय, कटु और लवण। रूप और रस के अनन्त अवान्तरभेद होते हैं। घ्राणेन्द्रिय ग्राह्यगुण ***गन्ध*** है। पृथिवी मात्र में रहता है। वह तीन प्रकार का है-सुगन्ध, दुर्गन्ध और साधारणगन्ध। त्वगिन्द्रियमात्र से ग्राह्य गुण ***स्पर्श*** है। पृथिवी, जल, तेज, और वायु में रहता है। वह शीत, उष्ण और अनुष्णाशीतभेद से 3 प्रकार का है। एकत्वादि व्यवहार के कारणीभूत गुण को ***संख्या*** मानते हैं। यह सभी द्रंव्यों में रहती है। वह एक से परार्ध पर्यन्त अतन्तसंज्ञायें धारण करती है। केवल 'एक' संख्या नित्य और अनित्यभेद से दो है, जबकि शेष समस्त संख्यायें सदैव अनित्य होती हैं। मान (नाप और तौल) व्यवहार का असाधारण कारण गुण ***परिमाण*** है। यह अणु, महत्, दीर्घ, ह्रस्वादि भेद से विभक्त है। इनमें से अणुत्व परमाणु में, महत्त्व आकाशादि में, शेष इतर द्रव्यों में होता है। भेद व्यवहार का असाधारण कारण गुण ***पृथक्त्व*** है। वह सभी द्रव्यों में होता है। 'ये दो संयुक्त हैं' इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारण गुण को ***संयोग*** कहते हैं। वह सभी द्रव्यों में रहता है। वह दो प्रकार का है-नित्य और अनित्य भेद से। क्रिया को लेकर पुनः अनित्य संयोग को 3 प्रकार का मानते हैं-अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। अनित्यद्रव्यों में अर्थात् अविभुद्रव्यों में 'ये दो विभक्त हैं' इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारण गुण को ***विभाग*** कहते हैं। यह सदा अनित्य होता है। किन्तु इसके जनक क्रिया के अनुसार यह भी तीन प्रकार का है-अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागजविभाग। दिक् और कालरूपी उपाधि को लेकर वस्तुओं में सापेक्ष दूरत्व ज्येष्ठत्वादि व्यवहार के असाधारण गुण को ***परत्व*** और ***अपरत्व*** कहते हैं। पतनक्रिया के असाधारण कारणभूत गुण को ***गुरुत्व*** कहते हैं। वह पृथिवी और जल में होता है। स्यन्दन क्रिया के असाधारणभूत गुण को ***द्रवत्व*** मानते हैं। वह दो प्रकार का है-स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविकद्रवत्व जल में एवं नैमित्तिक पृथिवी और तेज में रहता है। स्निग्धत्वादि के व्यवहार का कारणीभूत गुण ***स्नेह*** है। यह केवल जल का धर्म है। उसके दो भेद हैं-दहनानुकूल और दहनप्रतिकूल अथवा इन्हें घनीभूत एवं अघनीभूत भी कहते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नामक छः गुण आत्मा

के विशेष गुण हैं। इनमें से बुद्धि से भिन्न 5 गुण मानसप्रत्यक्ष के विषय हैं। यद्यपि प्रमा एवं प्रमाणों के विचार में ***बुद्धि*** के लक्षण एवं भेद का विचार किया गया है तथापि पुनः स्मरण किया जाता है कि बुद्धि के 4 भेद है-यथार्थज्ञान, स्मृति, अनुवाद और अयथार्थज्ञान। धर्मजन्य, आत्मसमवेत गुण को ***सुख*** कहते हैं। वह तीन प्रकार का है-ऐहिक, स्वर्ग और मोक्ष। अधर्मजन्य आत्मसमवेत गुण को ***दुःख*** माना है। इसके दो भेद हैं-ऐहिक (लौकिक) एवं आमुष्मिक (पारलौकिक)। अप्राप्तवस्तु को प्राप्त करने की कामना ही ***इच्छा*** है। स्वप्रतिकूलवस्तु शत्रु-आदि के दर्शनादि से जन्य द्रोहात्मक गुण को ***द्वेष*** कहते हैं। शरीर आदि में क्रिया का जनक कृतिरूप आत्मसमवेत गुणविशेष ***प्रयत्न*** है। अनुभवजन्य स्मृतिमात्र के कारणीभूत गुणविशेष ***संस्कार*** है। यह 2 प्रकार का है, लौकिक एवं वैदिक। लौकिक पुनः 3 प्रकार का है-वेग, भावना एवं स्थितिस्थापक। पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं तम में वेग रहता है जो कि द्वितीयादिपतन का असाधारणकारण है। अनुभवजन्य स्मृति के कारिणीभूत आत्मसमवेतगुण को भावना कहते हैं। स्वनिष्ठकारणीभूतगुण जो स्पर्शगुण वाली वस्तुओं को अपनी स्वाभाविक स्थिति को बनाये रखने के लिए आवश्यक है उसे स्थितिस्थापक कहते हैं। यूपादि में तक्षणादि, व्रीह्यादि में प्रोक्षणादि क्रियाओं से जन्य संस्कार वैदिक संस्कार हैं। श्लोकवार्तिक में कहा भी है।

'भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हति'

भूत.=यागादि में उपयोग करने के बाद बचे हुए हविषादि एवं यागमण्डप में बिछाया गया दर्भादि द्रव्यों तथा भावी = याग आरम्भ से पूर्व यज्ञ के लिये उपयोगी द्रव्य संस्कार करने योग्य होते हैं। शब्द के अभिव्यञ्जक वायु के गुण विशेष को ***ध्वनि*** कहा है। विषय के व्यवस्थापक समस्त पदार्थों में रहनेवाले सामान्य गुण को ***प्राकट्य*** अथवा ज्ञातता कहते हैं। द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहनेवाली एवं शक्तित्वजातिवाली को ***शक्ति*** कहते हैं। यह श्रुति एवं अर्थापत्ति का विषय है। यह लौकिकी एवं वैदिकी भेद से दो प्रकार की है। प्रथम अर्थापत्ति का विषय है, जैसे-अग्नि में दाहकत्वशक्ति एवं दूसरा श्रुतिबोध्य है। यागादिविहितक्रिया ***धर्म*** है एवं निषिद्धक्रिया ***अधर्म*** है। अतः ये दोनों गुण नहीं हो सकते।

संयोग एवं विभाग के उत्पत्ति के गतिविशेषात्मक कारण को **कर्म** अथवा क्रिया कहते हैं। वह दो प्रकार की है-लौकिकी और वैदिकी। लौकिकी क्रिया पुनः 5 भेद से जानी जाती है-उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। पूर्वोक्तप्रकार से वैदिकी क्रिया धर्म और अधर्म भेद से दो है। यह कर्मरूपी पदार्थ अविभु द्रव्यों में रहता है।

इस प्रकार चार भावपदार्थों के विचार के अनन्तर पञ्चम पदार्थ अभाव पर विचार करते हैं। अनुपलब्धिप्रमाण के विषय को **अभाव** कहते हैं। यह सदैव भावप्रतियोगिक ही होता है। यह दो प्रकार का है-संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। प्रथम के पुन: 3 भेद हैं-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव।

धर्मविचार:-

शाब्दीप्रमा का अवान्तरभेद वैदिकीप्रमा जिसका विस्तृत विवेचन धर्मविचार है, उसका अब संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

मीमांसादर्शन के 12 अध्यायों में विशेषत: धर्म पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में विधि, मन्त्र, अर्थवाद, स्मृति और नामधेय के लक्षण, प्रमाणादि प्रस्तुत किये गए हैं। दूसरे अध्याय में उपोद्घात, कर्मभेद एवं प्रयोग भेद पर विचार किया है। तीसरे अध्याय में श्रुति लिंगादि छ: प्रमाणों से अङ्गाङ्गीभाव, प्रतिपत्तिकर्म, आकस्मिक (अनारभ्याधीत) विधेयवस्तु, बहुप्रधानोपयोगी साधारण कर्म और याजमान कर्मों का निर्णय किया है। चौथे अध्याय में प्रधान कर्मों की प्रयोजकता एवं अप्रधान कर्मों की प्रयोजकता तथा अप्रधानाङ्गों पर विचार है। पाँचवें अध्याय में श्रुति, अर्थ पाठादि छ: लिगों से क्रमनिर्णय, कर्मों की वृद्धि एवं ह्रास का निर्णय दिया है। छठे अध्याय में कर्म के अधिकारी, प्रतिनिधि द्रव्यादि, प्रायश्चित्तकर्म, सत्रकर्म, देयवस्तु एवं विभिन्न अग्नियों पर विचार किया है। सातवें अध्याय में प्रत्यक्ष, लिंग एवं नाम के कारण कर्मादि के अतिदेश निर्देश है। आठवें अध्याय में स्पष्टास्पष्ट एवं प्रबल लिंगों से अतिदेश तथा उनके अपवाद पर विचार किया है। नवें अध्याय में (सामों एवं मन्त्रों के) ऊहापोह का निर्णय दिया है। दसवें अध्याय में बाध के कारणों का लोप, बाधाभाव से समुच्चय, साम एवं ग्रहों के बाधाबाध एवं नञर्थ पर विचार किया है। ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र एवं आवाप का उपोद्घात कर विस्तृतरूप से विचार किया है। बारहवें अध्याय में प्रसंग, तन्त्र, समुच्चय एवं विकल्पों पर विचार किया है।

इन द्वादश अध्यायों का सार अब इस प्रकार हैं। मीमांसादर्शन में वेद को नित्य एवं अपौरुषेय वाक्य मानते हैं । वेदवाक्यों को पांच भागों में विभक्त किया गया है-विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। विधि को ही प्रमाण मानते हैं, शेषवाक्यों का अङ्गाङ्गीभावादि द्वारा विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता करके प्रामाणिक माना जाता है। अज्ञातार्थज्ञापक वेदभाग को **विधि** कहते हैं। वह लिङादि (क्रियावाचकपद) द्वारा गम्य है। अत: प्रमाणभूत विधिवाक्यघटक लिङ्गादि के दो अर्थ माने जाते हैं-**शाब्दीभावना** और **आर्थीभावना**। जैसे-

क्रियावाचकपद 'यजेत' में 'यज्' प्रकृतिभाग है एवं 'त' प्रत्ययभाग है। प्रत्ययभाग भावना का बोधक है। सामान्यप्रत्यय लकार (ल) के स्थान में अर्थविशेष का वाचक 'त' प्रत्ययविशेष हुआ है। इनमें से आख्यातांश का वाचक लकार द्वारा आर्थीभावना एवं लिङादिप्रत्ययांश द्वारा शाब्दीभावना का बोध होता है। पुरुष के प्रवृत्त्यनुकूल प्रयोजक के व्यापार विशेष को शाब्दीभावना एवं प्रयोजनेच्छाजनित क्रिया से सम्बद्ध व्यापार को आर्थीभावना कहते हैं। प्रत्येक भावना साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता संज्ञक आकांक्षा त्रय से युक्त होती है। शाब्दीभावना में यागादि की भावना, लिङ्ज्ञान एवं प्राशस्त्यादि तथा आर्थीभावना में स्वर्गादि फल, यागादिसाधन एवं प्रयाजादि अङ्गसमूहों को क्रमशः उक्त आकांक्षाओं का पूरक मानते हैं। इस प्रकार आर्थीभावना विशिष्ट शाब्दीभावना पुरुष का प्रवर्तक है जो कि विधि बोध्य है। लौकिक प्रमाणों के द्वारा अज्ञात पदार्थों का ज्ञान करानेवाले वेद भाग को **'विधि'** कहते हैं। वह विधि 3 प्रकार की है-अपूर्व, नियम और परिसंख्या। प्रकारान्तर से विधि का पुनः 4 भेद किया है, **१. उत्पत्तिविधि** जो कि केवल कर्मस्वरूपमात्र का बोधक है, जैसे -'अग्निहोत्रं जुहोति'। 2. **विनियोगविधि** अङ्गाङ्गीभाव का बोधक, जैसे - 'दध्ना जुहोति।' 3. **प्रयोगविधि**-अङ्गों के पौर्वापर्य का बोधक जैसे 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति।' एवं 4. **अधिकार विधि**-कर्मफल के स्वामी की बोधिका होती है 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।' यागादि के निष्पादक पदार्थों के स्मारक ऋगादि को **'मन्त्र'** कहते हैं। वे तीन प्रकार के है, - करण, क्रियमाणानुवादी और अनुमन्त्रण मंत्र। यागों की परस्पर भेदक संज्ञा को **'नामधेय'** कहा है। इसका निर्णय 4 निमित्तों से होता है-मत्वर्थलक्षणाभयात्, वाक्यभेदभयात्, तत्प्रख्यशास्त्रात् और तद्व्यपदेशात्। पुरुष की प्रवृत्ति के निवर्तक वाक्य को **'निषेध'** कहते हैं। वह दो प्रकार का है-प्रतिषेध और पर्युदास। प्राशस्त्य अथवा निन्दा को अभिव्यक्त करनेवाला वाक्य **'अर्थवाद'** है। इसके 3 भेद हैं-गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद।

मीमांसकों ने धर्ममीमांसा करते हुए वेद एवं वेदमूलक स्मृतियों में उक्त समस्त विहित कर्मों को तीन भाग में विभक्त किया है, वे हैं-नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जबकि निषेधपरक वचनों को निषिद्धकर्म नामक राशि में डाला है। कुमारिलभट्ट ज्ञानकर्म समुच्चयवादी होने के कारण कर्म के बिना मोक्ष नहीं मानते हैं। अनादिकाल से अज्ञान के कारण उत्पन्न वासनाओं से जीव बद्ध है। यदि वह निषिद्ध एवं काम्य कर्मों को त्यागते हुए नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करने के साथ साथ वेदान्त का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करे तो प्रारब्ध कर्मानुसार

इस शरीर के भोग समाप्त होने पर दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्तिपूर्वक नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपी मोक्ष की प्राप्ति उसे होती है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन का संक्षिप्त विचार समाप्त होता है।

卐

14. 'रामानुजदर्शन'

महर्षि वेदव्यासजी ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना द्वारा उपनिषदों में उक्त सिद्धान्त को 'वेदान्तदर्शन' के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन विद्वानों ने इसके साथ गीता एवं उपनिषदों को जोड़कर ''प्रस्थानत्रयी'' संज्ञा दी है। यद्यपि आचार्य शंकर से पहले द्रविडाचार्य, भास्कराचार्य आदि अनेकों ने उपनिषदादि वेदान्तदर्शन पर भाष्य, व्याख्यादि लिखा है तथापि वर्तमान में उपलब्ध अनेकों भाष्यों की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम आचार्य शंकर ने इन तीनों पर भाष्य लिखा है। लेकिन आचार्य शंकर द्वारा की गई उक्त प्रस्थानत्रयी की केवलाद्वैतपरक समन्वयात्मक व्याख्या उत्तरवर्ती विद्वानों को स्वीकार नहीं रही, अतः ६ विभिन्न आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी की अलग-अलग व्याख्या की है, जिनमें से कुछ प्रमुख आचार्यों के विचारों को संक्षेप में प्रकट करेंगे।

रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्तुत विशिष्टाद्वैतवाद यद्यपि पुराणों में प्रस्तुत है एवं दक्षिण भारत के तमिलनाडु में प्रसिद्ध अलवर-सन्तों की परम्परा से पोषित रहा है और यह वाद पाँच प्रमुख सम्प्रदायों द्वारा अनादिकाल से स्वीकृत रहा है, जो कि आज भी समाज में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर एवं गाणपत भेद से प्रसिद्ध है तथापि रामानुजाचार्यजी ने पञ्चरात्र आदि शास्त्रों पर आधारित अपने 'श्रीभाष्य' द्वारा वैष्णवों पर महान उपकार किया है। इनके सम्प्रदाय को श्रीवैष्णवसम्प्रदाय कहा

जाता है। किन्तु यह भी स्थिर नहीं रहा क्योंकि वैष्णवों में प्रमुख चार और भेद हो गये-द्वैतवादी मध्वाचार्यजी का ब्रह्मसंप्रदाय, शुद्धाद्वैती विष्णुस्वामी एवं वल्लभाचार्यजी का रुद्रसम्प्रदाय, द्वैताद्वैतवादी निम्बार्काचार्यजी का सनकसम्प्रदाय एवं अचिन्त्यभेदाभेदवादी चैतन्यमहाप्रभु के अनुयायियों का चैतन्यसम्प्रदाय। इनसे अतिरिक्त और भी अनेकों प्रभेद हैं। इसी प्रकार शैव, शाक्तादिमत में भी समझें।

ऋग्वेद का पुरुषसूक्त वैष्णवदर्शनों का आधार है। वैष्णव, शैव एवं शाक्त - इन तीनों के आधार भूत ग्रन्थ आगम शास्त्र हैं। पाञ्चरात्र - संहिता वैष्णवागम ग्रन्थ हैं। प्रत्येक आगम ग्रन्थ के चार भाग होते हैं-ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। पाञ्चरात्र संहिता की सात्त्वत, जयाख्य और अहिर्बुध्न्य नामक संहिता प्रमुख हैं। श्री रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य से अतिरिक्त गीताभाष्य, वेदान्तसार, वेदान्तदीप, गद्यत्रय और वेदार्थसंग्रह को लिखा है। इसी परम्परा में सुदर्शनसूरी की भाष्यटीका श्रुतप्रकाशिका; वेङ्कटनाथ (वेदान्तदेशिक) की भाष्यटीका तत्त्वटीका, शतदूषणी की टीका न्यायसिद्धाञ्जना से अतिरिक्त तत्त्वमुक्ताकलाप इत्यादि अनेक स्वतन्त्रग्रन्थ; मेघनादारी ने नयद्युमणि; लोकाचार्य के तत्त्वत्रय, श्रीनिवासाचार्य के यतीन्द्रमतदीपिका इत्यादि अनेक विद्धानों के द्वारा लिखे ग्रन्थ रामानुजीय वैष्णवमत के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। अब रामानुजाचार्यजी के विचारों का संक्षेप में सारसंग्रह इस प्रकार हैं-

रामानुजाचार्यजी के मत में आचार्यवेङ्कटनाथ के अनुसार दो ही तत्त्व हैं- द्रव्य और गुण।

'द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः'

(तमुक 1/6)

[तत्त्ववेत्तालोग निश्चय करके दो प्रकार के ही तत्त्व कहे हैं। द्रव्य और अद्रव्य भेद से ।]
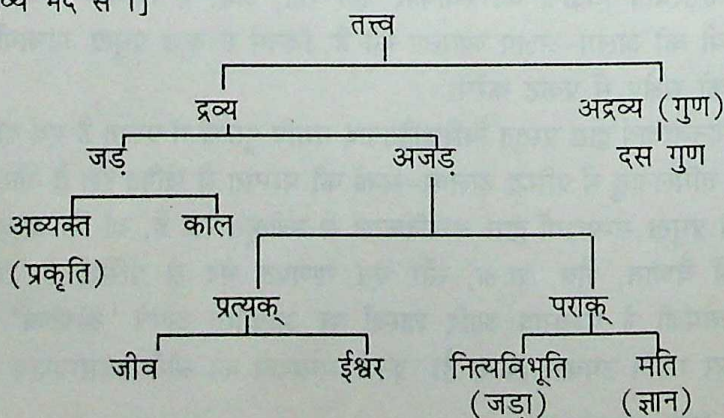
अथवा कुछ अन्य विद्वानों ने तत्त्व का विभाजन इस प्रकार किया है-

एवं कुछ अन्य विद्वानों ने तत्त्वों का इस प्रकार विभाजन किया है।
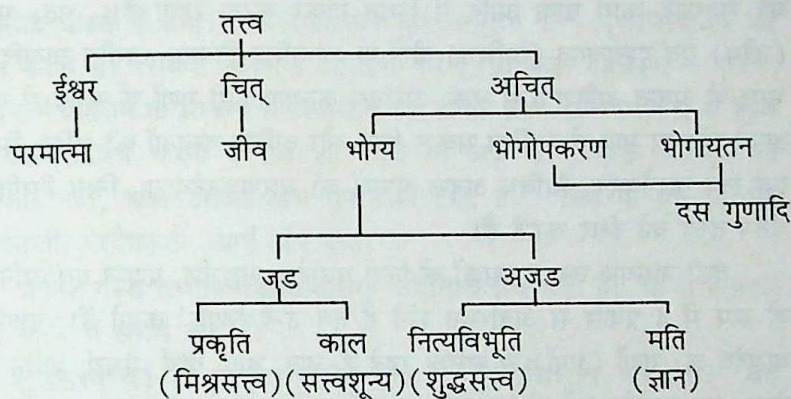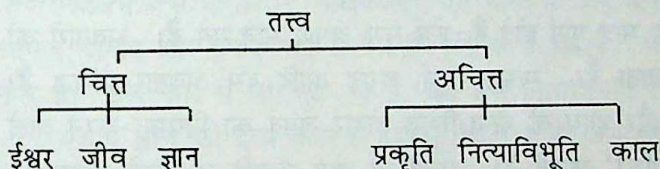
ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति एवं काल ये छः द्रव्य हैं। सत्त्व, रजः, तमः, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग एवं शक्ति ये दस गुण हैं।

चित् एवं अचित् से विशिष्ट चेतन ही **ईश्वर** है। वह सर्वाधार एवं सर्वशेषी होने से कार्यकारणभाव से स्थित है। सप्तभंगीनय के समान अभेद, भेद, और भेदाभेद द्वारा विशिष्टद्वैत की सिद्धि के लिये परस्पर विरोधी त्रिक मानते हैं। अतः वह ईश्वर सृष्ट्यादिसंकल्पविशिष्ट होने पर निमित्तकारण, सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट होने पर उपादान कारण तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट होने पर कार्यरूप होता है।

अन्त्य दो की एकता होने से विशिष्टद्वैत कहलाता है अथवा वह ईश्वर तथा जीव एवं जगत्रूपी शरीर से विशिष्ट चेतन ईश्वर के एक होने से भी विशिष्टद्वैत हुआ है। ईश्वर के शरीर, ज्ञान एवं स्वरूप व्यापक और नित्य हैं। इसे ब्रह्म, नारायणादि शब्दों से भी कहते हैं। यह पाँच प्रकार से अवस्थित है-पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। शङ्खचक्रगदा-आदि दिव्य आयुधों और पीताम्बर, कुण्डल, मुकुटादि-दिव्य आभूषणों से युक्त तथा भूदेवी, श्रीदेवी एवं नीलदेवी से सेवित ईश्वर **'पर'** है। वह समस्त कल्याणकारी गुणों से युक्त तथा मुक्तपुरुषों द्वारा

प्राप्य वैकुण्ठवासी है। यह नारायण स्वयं ब्रह्माण्ड पर्यन्त सृष्टि करके शेष प्राणियों का सृष्ट्यादि-कार्य ब्रह्मा आदि में स्थित होकर करता रहता है। अत: भोक्ता (जीव) एवं दृश्यजगत् (अचित्त) दोनों के आन्तरिक नियन्ता, असीम ज्ञानादि षट् भगरूपी अनन्त अतिशयों से युक्त, असंख्य कल्याणकारी गुणों के समूह से युक्त, अपने संकल्प मात्र से स्वभिन्न सकल चित् और अचित् वस्तुओं की सृष्टि, स्थिति एवं लय करनेवाला, विविध अनन्त भूषणों को धारणकरनेवाला, नित्य निरतिशय चेतन तत्त्व को ईश्वर कहते हैं।

वही नारायण जब उपासकों के लिये वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के रूप में 4 प्रकार से अवस्थित होते हैं तब उन्हें **'व्यूह'** कहते हैं। इनमें से वासुदेव छः गुणों (भगों) से सम्पन्न रहते हैं-ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति एवं तेज। इस वासुदेव को ही 'सूक्ष्म' कहते हैं। इन छ: भगों के कारण वासुदेव को भगवान् भी कहा है। संकर्षण में प्रथम दो, प्रद्युम्न में मध्य के दो एवं अनिरूद्ध में अन्तिम दो गुण मात्र पूर्ण होते हैं, शेष गुण अपूर्ण माने गये हैं। अवतारों को **'विभव'** कहा जाता है। मत्स्य, कूर्म, वराह आदि दस अवतार प्रसिद्ध हैं। पृथिवी, जलादि और हृदय के अन्त:स्थित होकर जगत् का नियमन-करने वाले ईश्वर को **'अन्तर्यामी'** कहते हैं। भक्तों के द्वारा पूजादि के लिये प्रतिष्ठापित प्रतिमादि में शरीरी के रूप में स्थित ईश्वर को **'अर्चावतार'** कहते हैं।

जीवात्मा स्वयंप्रकाश, नित्य, अणुपरिमाणवाला एवं अनन्त होता है। ये संकोचरहित, निर्मलज्ञानस्वरूप, अनादि कर्मरूपी अविद्या से युक्त, स्वरूपभूतज्ञान से भिन्न आत्मा के गुणभूत ज्ञान का संकोच और विकास वाले होते हैं। ये भोगने योग्य अचित् पदार्थों के संसर्ग से सुखदु:खादि के भोगनेवाले भोक्ता होते हैं। भगवान् की भक्ति करना इनका स्वभाव है।

जीवों को तीनप्रकार से विभक्त किया गया है शरीर, उत्पत्ति और स्थिति के आधार पर। शरीर के अनुसार 4-देव, नर, तिर्यक् और स्थावर; उत्पत्ति के अनुसार 4-स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज तथा स्थिति के अनुसार 3-बद्ध, मुक्त एवं नित्य। **बद्धजीव** पुन: दो प्रकार के हैं-मुमुक्षु और बुभुक्षु तथा **मुक्तजीव** भी-ज्ञानी एवं भक्त भेद से दो हैं। रामानुजाचार्यजी का मानना है कि ज्ञानमार्ग से प्राप्त कैवल्य में ज्ञानप्रकाश व्यापक एवं असंकुचित रहेगा किन्तु परमसुख नहीं, अत: भक्ति अथवा प्रपत्ति से मुक्ति होती है। भक्ति सात साधनों से युक्त होती है- 1-आहारशुद्धि द्वारा सत्त्वशुद्धि से विवेक, 2-संस्कार तथा कामनानिवृत्तिरूप विमोक, 3-सदा ईश्वर की भावना करना ही अभ्यास, 4-श्रौत-स्मार्त कर्मानुष्ठान

क्रिया, 5-सत्यादि व्रतपालन कल्याण है, 6-अदीनता अर्थात् आत्मबल को अनवसाद कहते हैं तथा 7 शमदमादिरूप तुष्टि अनुद्धर्ष हैं। पूर्णशरणागति को प्रपत्ति कहते हैं। सबके अनुकूल आचरण करना, प्रतिकूल आचरण न करना, भगवान में योगक्षेम के सम्बन्ध में विश्वास करना, उसके लिये सम्यक्प्रार्थना के साथ पूर्ण आत्मसमर्पण करना-ये सब शरणागति के अङ्ग हैं। भक्ति में शूद्र को अधिकार नहीं, अत: उसका मोक्ष प्रपत्ति से होता है। भक्तों के पुन: 4 भेद हैं-एकान्ती, परमैकान्ती, आर्त्त और दृप्त।

अनन्त, गरुड़ इत्यादि वैकुण्ठवासियों को **नित्यजीव** कहा है। ये भी अवतार ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

शुद्धसत्त्व को जो प्राकृतसत्त्व से भिन्न है, **नित्यविभूति** कहते हैं। वह स्वयंप्रकाश एवं आनन्दकारी होता है। वह ऊर्ध्वदेश में अपरिच्छिन्न तथा अधोदेश में परिच्छिन्नभाव से भोगस्थान, भोगोपकरण एवं भोग्य के रूप में रहता है। वैकुण्ठ, आमोद, संमोद और प्रमोद नाम से नित्यविभूति के 4 भेद हैं। वैकुण्ठ विष्णु का नगर है। उस नगर में जो कुछ भी है, वह सब नित्यविभूति ही हैं।

यद्यपि **ज्ञान** को द्रव्य कहा है तथापि वह द्रव्यगुण उभयात्मक है। संकोच विकास स्वभाव वाला होने से द्रव्य है और आत्मा में आश्रित होने के कारण गुण है। ज्ञान यद्यपि नित्य है तथापि उसका विषय के साथ सम्बन्ध अनित्य होने से अनित्यत्व व्यवहार है। जैसे जीव नित्य होने पर भी प्राणसंयोग अनित्य होने से जन्मादि व्यवहार होता है। बद्धपुरुषों में ज्ञान प्रकृति से प्रतिबद्ध होने के कारण संकुचित होता है जबकि मुक्तपुरुषों में प्रकृति से वियुक्त होने के कारण विकसित एवं व्यापक होता है। भक्ति, प्रपत्ति, सुख, दु:खादि पृथक् गुण नहीं अपितु ज्ञान के ही विशेषरूप हैं।

प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द-ये तीन ही प्रमा हैं एवं तद्नुसार प्रमाण भी तीन हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इन्द्रियविषय सम्बन्ध से जन्य ज्ञान **प्रत्यक्ष** है। इसके दो भेद हैं निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। गुण, आकृति आदि से विशिष्ट प्रथमोत्पन्न व्यक्तिज्ञान (वस्तुज्ञान) को निर्विकल्पक कहा है। उस प्रथमोत्पन्न संस्थानविशिष्ट व्यक्तिज्ञान से संस्थानानुगत व्यक्तियों का जो द्वितीय व्यक्तिज्ञान है उसे सविकल्पक कहते हैं। संयोग एवं संयुक्त आश्रयण नामक दो ही सन्निकर्ष होते हैं। प्रत्यक्ष का पुन: दो भेद किया है-अर्वाचीन जो कि इन्द्रिय सापेक्ष है एवं अनर्वाचीन जो इन्द्रियनिरपेक्ष है। अर्वाचीन के दो भेद हैं-दिव्य और अदिव्य। अदिव्य साधारण जीवों में होता है। दिव्य के भी दो भेद है- ईश्वरकृपाजन्य

इन्द्रियसापेक्ष जो भक्तों में होता है और योगज सन्निकर्षजन्य जो योगियों में माना गया है। अनर्वाचीन प्रत्यक्ष सदा ईश्वर, मुक्तजीव एवं नित्यजीवों में ही होता है। पक्ष, सपक्ष में विद्यमान किन्तु विपक्ष में अविद्यमान लिङ्ग अर्थात् सद्‌हेतु से **अनुमिति** होती है। वह हेतु दो प्रकार का है-केवलान्वयी और अन्वयव्यतिरेकी। पुनः स्वार्थ एवं परार्थभेद से अनुमिति दो है। तदनुसार अनुमान भी दो है। नैयायिकों के समान पांच अवयवों से युक्त वाक्य को परार्थानुमान मानते हैं। हेत्वाभास भी 5 हैं। आप्त एवं अपौरुषेय वाक्य-जन्य ज्ञान को **शाब्दीप्रमा** कहा है। वेदाविरूद्धस्मृत्यादि भी प्रामाणिक हैं। पदों की दो वृत्तियां है-अभिधा अथवा मुख्य और लक्षणा। लक्षणा भी केवल जहद्‌वृत्ति होती है।

प्रकृति, प्रधान, माया आदि पर्यायवाची हैं। सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। इसके महत्तत्त्व, अहंकार, 11 इन्द्रियाँ, पांच तन्मात्रा और पाँच महाभूत कार्य हैं। पाँचों भूतों के सम्मिश्रणपूर्वक भौतिकजगत् की उत्पत्ति के लिये पञ्चीकरण प्रक्रिया मानते हैं।

अतीतादि व्यवहार का हेतु **काल** है। वह अखण्ड एवं सखण्ड भेद से दो है। प्रथम-विभु, नित्य एवं जड़ है। द्वितीय-उससे (प्रथम से अर्थात् अखण्डकाल से) उत्पन्न, अनित्य, क्षणादिभेदात्मक, प्रत्यक्ष का विषय है।

सत्त्व, रज, और तम ये प्रकृति के गुण हैं। अतः प्रकाशात्मक सत्त्व, चलात्मक रज एवं मोहात्मक तम सदैव अतीन्द्रिय होते हैं। ये तीनों क्रमशः सुख, राग और अज्ञान आदि के कारण हैं। शब्दादि क्रमशः श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य गुणविशेष हैं। इनमें से शब्द को वर्ण एवं ध्वनि भेद से दो प्रकार का माना गया है। स्पर्श को शीत, उष्ण और अनुभव भेद से 3 प्रकार का मानते हैं। रूप के 4 भेद हैं-शुक्ल, रक्त, कृष्ण और पीत। रस के छः प्रसिद्ध भेदों को स्वीकार किया गया है। सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद से गन्ध के 2 भेद हैं। दो द्रव्यों के परस्पर संयुक्त व्यवहार के कारणीभूत गुण संयोग है। विभुओं में नित्य तथा अन्यों में अनित्य संयोग होता है। कारणता की निर्वाहिका को शक्ति कहते हैं। वह नित्य है। इस प्रकार रामानुज के तत्त्वविचार समाप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष कथन यह है कि उक्त सात पदार्थों को चित्त और अचित्त भेद से दो भागों में अथवा जड़, अजड़ और चेतन नाम से 3 भागों में विभक्त किया है। चित्त के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और ज्ञान, तथा अचित्त में मिश्रसत्त्व प्रकृति, शुद्धसत्त्व नित्यविभूति और सत्त्वशून्य काल; अथवा काल और प्रकृति को जड़, जीव और ईश्वर को चेतन तथा ज्ञान एवं नित्यविभूति को अजड़ कहा है। अथवा प्रकारान्तर से ऐसा भी विभाग किया है।

'ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥'

(त मु 4.7.)

[तीन ही पदार्थ हैं – ईश्वर, चित, और अचित्। हरि को ईश्वर, जीव को चित् और इस दृश्यरूपी जगत् को अचित्- कहा है।]

ध्यान रहे-सांख्य के प्रकृति और रामानुज द्वारा मान्य प्रकृति में बहुत अन्तर है। साम्यावस्था एवं विषमावस्था दोनों ही प्रकृति के गुण है; स्वरूप नहीं। सत्त्व, रज और तम सांख्य मत में अस्वतन्त्र है किन्तु रामानुज के मत में केवलशुद्धसत्त्व को नित्यविभूति नाम से तथा सत्त्वशून्य को काल नाम से मानकर उनकी स्वतन्त्र-सत्ता स्वीकार किया है। प्रकृति को परिच्छिन्न, ईश्वराधीन, ईश्वर की लीलाविभूति, ईश्वर का शरीर आदि रूप से माना है। रामानुजाचार्य ईश्वर अर्थात् ब्रह्म के समान जीव एवं जगत् को भी सत्य मानते हैं। अतः सत्कार्यवादी हैं। किन्तु विवर्तवाद न मानकर सांख्य के समान परिणामवादी हैं। अनन्त जीव एवं अनंत जड़ के कारण ब्रह्म सद्वितीय नहीं। सत्य, ज्ञान, आनंद, आदि परमात्मा से अपृथक भी हैं और पृथक भी हैं। स्वरूपात्मक (अपृथग्रूप) से ये सब तो द्रव्य हैं। पृथग्रूप से ये ही गुण है, जो कि उपासना में उपयोगी हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति का कार्य, जगत् ये सब सत्य हैं। इसलिये कोई भी तत्त्व मिथ्या नहीं है। पञ्चीकृत शुक्ति में रजतांश है, अतः शुक्ति में रजतज्ञान सत्य है, मिथ्या नहीं है। इसलिये दो ही भ्रम है-

1-देहात्मबुद्धि, 2- जीव की स्वतन्त्रता। इन दोनों भ्रमों की निवृत्ति के लिये तत्त्वज्ञान आवश्यक है। प्रकृति वियुक्त आत्मस्वरूप ही कैवल्य है। रामनुजाचार्य जीवन्मुक्ति नहीं मानते, किन्तु निष्कामकर्म तथा ज्ञान से युक्त उपासनादि करने पर प्रारब्ध से प्राप्त इस शरीर का मरणोत्तर काल में प्रकृति से वियुक्त होकर स्वरूप प्राप्तिरूपी विदेहकैवल्य को ही मानते हैं। कैवल्यावस्था में भी ईश्वर और जीव भिन्न ही रहेंगे। मुक्ति यद्यपि उत्पन्न वस्तु है फिर भी अन्त रहित है। ईश्वर की उपासना (अर्थात मुक्ति का साधन) पाँच प्रकार की होती है। वे हैं 1- अभिगमन- मन्दिर की सफाई, लीपना, पोतना इत्यादि सेवा। 2- उपादान-अक्षत, गन्ध, फूलादि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना। 3- इज्या- देवता की पूजा करना । 4-स्वाध्याय -अर्थ का ध्यान रखते हुए जप करना, वैष्णव सूक्तों व स्तोत्रों का पाठ करना, नाम संकीर्तन, तत्त्वबोध कराने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना। और 5- देवता का ध्यान करना। यह रामानुज दर्शन का संक्षिप्त स्वरूप है।

卐

१५. माध्वदर्शन (पूर्णप्रज्ञदर्शन)

श्री मध्वाचार्य, जो कि आनन्दतीर्थ नाम से प्रसिद्ध थे, ने द्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए ब्रह्मसूत्रादि पर 'पूर्णप्रज्ञ' भाष्य अथवा माध्वभाष्य लिखा है। श्री मध्वाचार्य जी की अन्य कृतियाँ हैं - अणुव्याख्यान, भागवततात्पर्यनिर्णय, महाभारततात्पर्यनिर्णय, विष्णुतत्त्वनिर्णय और तत्त्वोद्योत। इस द्वैत संप्रदाय के प्रमुख आचार्य एवं उनकी कृतियां इस प्रकार है - 1. जयतीर्थ - तत्त्वप्रकाशिका (भाष्यटीका), न्यायसुधा (अणुव्याख्यानटीका) और प्रमाणपद्धति। 2. व्यासतीर्थ - तात्पर्यचन्द्रिका, न्यायामृत और तर्कताण्डव। 3. रामाचार्य - तरङ्गिणी (न्यायामृत की टीका)।

मध्वाचार्य 5 प्रकार के नित्य भेद स्वीकार करते हैं-

'जगत्प्रवाहः सत्योऽयं पञ्चभेद समन्वितः ।
जीवेशयोर्भिदा चैव जीवभेदः परस्परं ।
जडेशयोर्जडानाञ्च जडजीवभिदा तथा ॥'

(म.ता. 1.69/70)

[यह जगत् प्रवाह सत्य है। यह पाँच भेदों से युक्त है। वे हैं - जीव और ईश्वर का भेद, जीवों का परस्परभेद, जड़ और ईश्वर का भेद, जड़ों का परस्पर भेद एवं जीव और जड़ का भेद।]

इन भेदों को सम्यक् प्रकार से जानने पर जीव संसार सागर से मुक्त होता है। अतः इन भेदों का प्रतियोगी ईश्वर, जीव और जड़ का ज्ञान आवश्यक है। इनका विचार पदार्थ विवेचन द्वारा किया जाता है। माध्वमत में भी दो ही तत्त्व हैं। जैसा कि तत्त्वविवेक में कहा है-

'स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते ।

स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः ॥'

(त.वि 1.2)

[हमें दो प्रकार का तत्त्व इष्ट है - स्वतन्त्र और परतन्त्र। दोषरहित सकल गुणों की खान श्री भगवान् विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं। बाकी सब परतन्त्र है।]

परतन्त्र तत्त्व को 10 पदार्थों में विभक्त कर उनकी व्याख्या करते हैं। माध्वमत में ये10 पदार्थ हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। बीस **द्रव्य** मानते हैं, वे हैं-परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, अव्यक्त-प्रकृति, त्रिगुण, महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, महाभूत, ब्रह्माण्ड, अज्ञान, वर्ण [अक्षर], अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब।

ज्ञानानन्दस्वरूप सर्वशक्तिमान् विष्णु ही **परमात्मा** हैं, चार भुजावाला दिव्यशरीर है एवं उनका धाम वैकुण्ठ है, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति एवं प्रलय के कर्ता हैं, स्वतन्त्र एवं एकाधिपति हैं। स्वेच्छापूर्वक पूर्णता एवं सर्वज्ञता से सम्पन्न अनेक अवतारों को ग्रहण करते हैं। लक्ष्मी, मुक्तजीवात्मा तथा ब्रह्मादि सत्त्वगुणपरिणाम देह से वैकुण्ठ में नारायण की सेवा करते हैं। समस्त वेदों तथा मुख्यवृत्ति से समस्त पदों का अर्थ भी परमात्मा ही है।

लक्ष्मी परमात्मा की पत्नी है। वह परमात्मा से भिन्न एवं न्यून गुणवाली है। वह नानारूप धारण करती है और देशादि से परिच्छिन्न नहीं है। लक्ष्मी में प्रवेश कर नारायण अपने से ही रमण करते हैं, इसलिये परमात्मा को आत्माराम कहा गया है। परमात्मा एवं लक्ष्मी-ये दोनों ही नित्यमुक्त हैं। इसी लक्ष्मीरूपी शक्ति को प्रकृति कहते हैं। यह नित्य है। दस पदार्थों में जो पृथक् से शक्ति गिनायी गई है, वह उत्पत्ति एवं विनाशशाली होने से इससे (लक्ष्मी से) भिन्न है।

अज्ञानमोहादि से युक्त आत्मा **जीव** है। ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सभी जीव हैं। प्रतिशरीर भिन्न होने से वे अनन्त हैं। ये परमात्मा का चेतनात्मक नित्य प्रतिबिम्ब होने से सच्चिदानन्दरूप हैं। यद्यपि जीव परमात्मा का प्रतिबिंब होने से बीस द्रव्यों में गिनाये गये प्रतिबिंब से अलग नहीं है तथापि दोनों में अंतर है। जीव परमात्मजन्य होने पर भी नित्य एवं चेतनप्रतिबिंब है। द्रव्यों में परिगणित प्रतिबिंब जड़रूप है।

जीव तीन प्रकार के हैं-मुक्तियोग्य, तमोयोग्य एवं संसारी। मुक्तियोग्य जीव ज्ञान तथा भक्ति से वैकुण्ठ को प्राप्त करते हैं और परमात्मा के शरीर में निवास करते हैं, यही मुक्ति है। मुक्ति में आनन्दगत तारतम्य मानते हैं-

'मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिताऽपि वै ।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ।।'

(माध्वगीताभाष्य)

[मुक्तपुरुष विष्णु भगवान् को प्राप्त करके उनके शरीर में आश्रित रहते हुए भी आनंदपूर्वक गुणों के साथ तारतम्यता से (बिना किसी प्रकार के विरोध किन्तु न्यूनाधिकता से युक्त होकर) रहते हैं।] वह मुक्ति चार प्रकार की है-सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य। जीव को अणुपरिमाणवाला मानते हैं।

अव्याकृताकाश को द्रव्य, प्रदेश, दिशा आदि रूप से माना गया है। इसकी देवी लक्ष्मी है। वैकुण्ठादि समस्त लोकों में पूर्वादि विभाग का कारण यही है। यह साक्षिवेद्य है तथापि अपरिणामी तथा अभिव्यञ्जनीय है।

तीनों गुणों की साम्यावस्था **अव्यक्त** है। यह प्रकृति जडात्मिका है, लक्ष्मी जैसे नित्यमुक्तचेतनात्मक नहीं। काल का भी कारण होने से प्रलय में भी रहती है। यह समष्टिलिङ्गशरीर है। जब परमात्मा इसमें अपने तेज का आधान करता है तब उससे उत्पन्न क्षोभ के कारण गुणों में विषमता होती है जिससे समस्त जगत् की सृष्टि होती है।

तीन गुणों की विषमावस्था को **त्रिगुण** कहते हैं। वे इस प्रकार हैं-सर्वप्रथम शुद्धसत्त्व थोड़ा रज एवं थोड़ा तम से मिश्रित हुआ। पश्चात् सत्त्व में जब रज मिला तो पूर्ण रज एवं सत्त्व में जब तम मिला तो पूर्ण तम हुआ। आगे कहे गये महत् में विद्यमान तमो भाग के दस गुण अधिक तम, उसके दोगुना रज एवं रज के दो गुना सत्त्व त्रिगुण नामक विषमावस्था में रहता है। उक्त पूर्णरज से सृष्टि, रजगत सत्त्व से रक्षा एवं रजगत तम से संहार होता है।

दसांश सत्त्व, एकांश रज और तृतीयांश (1/3) तमो भाग के सम्मिश्रण से उत्पन्न त्रिगुणात्मक कार्यतत्त्व को **महत्** कहते हैं।

महत् से **अहंकार** उत्पन्न होता है। इसमें एक भाग सत्त्व, उसका दशमांश (1/10) रज एवं शतांश (1/100) तम होता है। वह अहंकार तीन प्रकार का है-वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस भेद से।

बुद्धि भी महत्तत्त्व से उत्पन्न होती है। यह ज्ञान रूपी गुण का आश्रय है। **मन** दो प्रकार का है-नित्य एवं अनित्य। नित्य मन मुक्तिकाल में भी रहता

है, वह साक्षिरूप है। अनित्य मन अहंकार से उत्पन्न होता है और वह इन्द्रियात्मक है। इन्द्रियात्मक मन की पाँच वृत्तियाँ हैं- निश्चयात्मक बुद्धि (पूर्वोक्त बुद्धि तत्त्व से भिन्न), संकल्पविकल्पात्मक मन, अभिमानात्मक अहंकार (पूर्वोक्त अहंकारतत्त्व से भिन्न), प्रकाशात्मक चित्त और कृतिरूपी चेतना।

अहंकार के सत्त्वांश से ही मन के समान श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और वागादि कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ लोगों के अनुसार सत्त्वांश से ज्ञानेन्द्रियाँ और राजसांश से कर्मेन्द्रियाँ पैदा होती हैं। इस प्रकार 11 **इन्द्रियाँ** हैं। यद्यपि ये सब अनित्यतत्त्व हैं तथापि मुक्तिकाल में सभी साक्षिरूप से अवस्थित होने से नित्य हैं।

तामस अहंकार से पाँच **तन्मात्रायें** उत्पन्न होती हैं।

तन्मात्राओं से पांच **महाभूत** उत्पन्न होते हैं। वे उत्तरोत्तर आकाशादि क्रम से दशांश न्यून होते हैं।

इन महाभूतों से 50 करोड़ योजन (6 अरब कि.मि.) लम्बाचौड़ा **ब्रह्माण्ड** नामक स्थूल जगत उत्पन्न होता है। इसमें चौदह भुवन हैं। अन्तर्निहित हरि की शक्ति से ब्रह्माजी इन स्थूल भुवनों का निर्माण करते हैं।

इन लोकों में ब्रह्माजी ने जरायुजादि ४ प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न कर उनमें **अज्ञान** को स्थापित किया, जिसे विष्णु ने स्थूलसृष्टि के निर्माण के लिये ब्रह्माजी में स्थापित किया था। अतएव अज्ञान अनादि है। कुछ लोगों के मत में भूतों के तमोऽंश से उत्पन्न माना गया है। यह तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र भेद से पाँच प्रकार का अथवा जीवाच्छादिका, पराच्छादिका, शैवला और माया नाम से 4 प्रकार माना गया है।

अकारादि 51 **वर्ण** हैं। ये नित्य, विभु एवं द्रव्य हैं। इनकी अभिव्यक्ति वागिन्द्रिय से निष्पन्न ध्वनि से होती है।

अन्धकार अथवा **तम** स्पर्शरहितरूपवाला एवं क्रियावाला द्रव्य है। यह प्रकृति से उत्पन्न होता है। महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने उत्पन्न किया था तथा एक बार ब्रह्माजी ने भी पीया था-इन प्रसिद्धियों से सिद्ध होता है कि तम एक भाव पदार्थ है।

गुणात्मक संस्कार से द्रव्यात्मक **वासना** भिन्न है। मनोराज्य के उपादान कारण एवं स्वप्न के सहकारी कारण के रूप में वासना को मानते हैं।

ज्येष्ठ, कनिष्ठ, अतीत इत्यादि व्यवहार का कारण, जगत् का आधार एवं प्रकृति से उत्पन्न होता है-**काल**। प्रवाहात्मक एवं समस्त को कलयित करनेवाला है।

बिम्ब से भिन्न एवं बिम्ब के सदृश, दर्पणादि स्वच्छ आधार में उत्पन्न को **प्रतिबिम्ब** कहते हैं। प्रतिबिम्ब अनेक प्रकार के हैं। कुछ भ्रान्ति के कारण हैं और कुछ यथार्थ के। जैसे स्फटिक में जपाकुसुम की अरुणिमा, इन्द्रधनुष इत्यादि एवं प्रतिध्वनि, छाया इत्यादि। बीस प्रकार के द्रव्यों का यह संक्षिप्त स्वरूप है।

अब विचार करें गुणों पर:-

गुण अनन्त हैं क्योंकि वैशेषिकोक्त २४ से अतिरिक्त मृदुता, काठिन्यता, श्रद्धा, भक्ति, सौन्दर्य, सुकुमारता, विश्वास, शम, दम, विरति, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, शौर्य, क्रौर्य, स्थैर्य, धैर्य, गाम्भीर्यता इत्यादि अनन्त गुण हैं।

कर्म तीन प्रकार के हैं-विहित, प्रतिषिद्ध और उदासीन। वेद, स्मृति, आदि प्रामाणिक शास्त्रों में कर्तव्यरूप से निर्दिष्ट को विहित, अकर्तव्य रूप से उपदिष्ट को प्रतिषिद्ध तथा जिन कर्मों के बारे में कर्तव्यता अथवा अकर्तव्यता का निर्देश नहीं किया है वे उदासीन कर्म कहे जाते हैं। उक्त तीनों कर्म पुनः काम्य और अकाम्य भेद से दो प्रकार के हैं। उक्त कर्मों के अनुष्ठान से जीवों के प्रति फल प्रदायकता के आधार पर पुनः कर्म दो प्रकार के है-प्रारब्ध और संचित। ये दोनों पुनः इष्ट और नेष्ट (अर्थात् अनिष्ट) भेद से दो हैं। प्रारब्धकर्म भोग से नष्ट होता है, जबकि संचित को ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है।

जाति और उपाधि को **सामान्य** कहते हैं। जाति पुनः नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। गोत्व, घटत्वादि नित्य और मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्वादि अनित्य हैं। आकाशत्वादि उपाधि हैं। सर्वज्ञत्व भी उपाधि है; वह विष्णु में नित्य और जीव में अनित्य होती है।

समस्त पदार्थों के परस्पर भेद को सिद्ध करता है **'विशेष'** नामक पदार्थ इसलिये वे अनन्त हैं। नित्य पदार्थों में नित्य और अनित्य पदार्थों में वे अनित्य हैं। ईश्वर में भी विशेष पदार्थ नित्य होने से मोक्षकाल में भी जीवेश्वर भेद रहेगा, नीरक्षीर के समान सहावस्थान रहेगा।

शुद्ध से भिन्न पदार्थ को **विशिष्ट** कहते हैं, जैसे केवल पुरुष से दण्डीपुरुष भिन्न है।

कपड़े से शरीर को ढ़का जा सकता है किन्तु धागों से नहीं, घड़े से पानी लाया जा सकता है किन्तु मिट्टी से नहीं। इसलिए अर्थक्रियाकारित्व को देखते हुए **अवयवी** अथवा अंशी को अवयव अथवा अंश से भिन्न पदार्थ माना गया है।

शक्ति नामक पदार्थ चार प्रकार के हैं-अचिन्त्या, आधेया, सहजा और पदगा। कारण में विद्यमान कार्योत्पत्यनुकूल तत्त्व को शक्ति कहते हैं। परमात्मा में

विद्यमान, अपार, अनन्त एवं नित्य तथा मनुष्यादि में असंभावित कार्यों को उत्पन्न करनेवाली शक्ति **अचिन्त्या** है। देवतादियों में न्यूनताधिक के तारतम्य से रहनेवाली शक्ति भी अचिन्त्या है। प्रतिमा आदि में प्राणप्रतिष्ठा करना, प्रोक्षण से शुद्धि, अध्ययनादि से ज्ञान-इत्यादि को **आधेया** शक्ति कहते हैं। अग्निजलादि में विद्यमान दहन, क्लेदन आदि शक्तियों को **सहजा** कहते हैं। शब्दों में विद्यमान अर्थबोधिका शक्ति को **पदगा** कहते हैं। जाति और व्यक्ति में शक्ति मानी गई है, कार्य को देखकर निर्णय किया जाता है।

वस्तुओं के परस्पर अधिक धर्मों की समानता को **सादृश्य** कहा है। वह भाव और अभाव दोनों प्रकार के पदार्थों में रहता है।

इन्द्रियादि द्वारा विषयानुपलब्धिज्ञान के विषय को **अभाव** पदार्थ कहा है। वह नैयायिकों के समान 4 प्रकार का है-अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव, प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव। अत्यन्ताभाव दो प्रकार का है-सावच्छिन्न और निरवाच्छिन्न। सावच्छिन्न पुनः 3 हैं-देश, काल और वस्तुरूपी अवच्छेदक भेद से। अन्योन्याभाव दो प्रकार के हैं-नित्य और अनित्य। जीवेश्वरभेदादि नित्य और घटादि भेद अनित्य हैं।

उक्त 10 प्रमेय पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों से होता है। वे प्रमाण 3 हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रत्यक्षप्रमाण से जन्य ज्ञान को **प्रत्यक्ष** कहते हैं। वे 8 प्रकार के हैं-साक्षिप्रत्यय, प्रातिभज्ञान, मानस, चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज और स्पार्शन (त्वाच)। साक्षिप्रत्यय मोक्षकाल में होता है, पुण्यविशेष के कारण सूक्ष्मविषयों का ज्ञान प्रातिभ है और अन्य छः इन्द्रियजन्य हैं। **अनुमान** तीन प्रकार के हैं-अन्वयी, व्यतिरेकी और उभय अर्थात् अन्वयव्यतिरेकी। स्वार्थ और परार्थ भेद से भी अनुमान पुनः दो प्रकार का है। न्याय दर्शन की अपेक्षा विशेषता यह है कि परार्थानुमान में 5 अवयव का नियम नहीं है किन्तु आवश्यकतानुसार दो अथवा तीन इत्यादि मानते हैं। **शब्द**प्रमाण दो प्रकार का है-पौरुषेय और अपौरुषेय। समस्त वेद अपौरुषेय हैं और आप्तोक्त स्मृत्यादि लौकिक वाक्य पौरुषेय हैं। प्रामाण्यता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों स्वतः मानी गई है जबकि अप्रमाण्यता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति परतः मानते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के लिये जीव को वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, गुरुशरणागति, श्रुतिश्रवण, मनन, हरिगुरुभक्ति, भगवदर्थ सर्वसमर्पण, विष्णु की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करना, पाँच भेदों को जानना, प्रकृतिपुरुष का विवेक, अयोग्य पुरुषों की निन्दा, शास्त्राभ्यास और ध्यान करना चाहिये। इनमें से शास्त्राभ्यास और ध्यान उपासना हैं, शेष बहिरंग साधन हैं। ध्यान भी 2 प्रकार के हैं-निदिध्यासन और

समाधि। समाधि ही तुरीयावस्था है। मनुष्यादि सभी प्राय: 5 अवस्थाओं को प्राप्त करते ही हैं-जागृत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्छा और मरण। साधकों को तीन भेदों में विभक्त किया है-अन्तर्दृष्टि, बहि:दृष्टि और सर्वदृष्टि। प्रथम ऋषि संन्यासी आदि हैं, दूसरे मनुष्य साधारण और तीसरे देवगण हैं।

ब्रह्म अनन्तगुणसंपन्न एवं अनन्तक्रियायुक्त है। अत: अपने अधिकार एवं रुचि के अनुरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। यह ब्रह्मोपासना है।

बुद्धि में नारायण सारूप्य की वृत्ति-गत नैरन्तर्यता से समाधि होना ही मोक्ष है।

सबसे बड़ा आश्चर्य माध्वदर्शन में यह है कि अयोग्य की निन्दा को भी मोक्ष का साधन माना गया है। लेकिन इस छूट को अन्यथा ग्रहण करके परनिन्दा को भी साधन समझकर अन्यमतावलम्बियों को गालियाँ देते हैं।

卐

16. निम्बार्कदर्शन

आचार्य निम्बार्क अथवा निम्बादित्य अथवा स्वामी नियगमानन्द तीर्थ नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक ने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक भाष्य लिखकर द्वैताद्वैतवाद अथवा भेदाभेद-वाद अथवा सनक सम्प्रदाय नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन्होंने आश्मरथ्य, भास्कर, भर्तृप्रपञ्च एवं यादव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों कों संशोधित स्वरूप प्रदान किया है। इनकी अन्य कृतियाँ हैं-दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तवराज और माध्वमुखमर्दन ।

निम्बार्क तीन पदार्थ मानते हैं-चित्त, अचित्त और परमेश्वर।

चित्त जीव को कहते हैं। वह ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी ज्ञानाधार है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाशस्वरूप होता हुआ भी प्रकाश का आधार है। वह संसार एवं मोक्ष-उभयकाल में कर्ता है, क्योंकि श्रुति कहती है-

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत'

(छांदो 3.14.1)

[यह संपूर्ण जगत् निश्चितरूप से ब्रह्म है। तज्ज ब्रह्म से उत्पन्न, तल्ल-ब्रह्म में लीन और तदन ब्रह्म से जीवित अर्थात स्थित है; इस प्रकार शान्त होकर ब्रह्म की उपासना करें (चिंतन करें)।]

और निम्बार्क ने 'शान्त उपासीत' इसकी उपासना का कर्ता मुक्त होता है-यह अर्थ किया है। जीव में-अनुभूत कर्तृत्व, भोक्तृत्व, द्रष्टृत्व, मन्तृत्व, बोद्धृत्वादि एवं मुक्तता- ये सभी धर्म यथार्थ अर्थात् सत्य हैं, औपाधिक नहीं। ईश्वर के द्वारा जीव नियम्य है-संसारावस्था में एवं मोक्षावस्था में भी। जीवात्मा अणुरूप होने पर भी प्रकाश स्वरूप होने से पूरे शरीर में व्याप्त रहता है। संमोहात्मक आवरणरूपी प्रकृति अथवा माया का जब भंग होता है तब अनन्तज्ञान होता है, यही मोक्ष है। जैसा कि गीता में कहा है-

'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमं ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥'

(गीता 15.19)

[हे अर्जुन ! जो मोहरहित ज्ञानी पुरुष मुझ को पुरुषोत्तम इस प्रकार तत्त्व से अर्थात् मेरे वास्तविक स्वरूप को जानता हैं, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरंतर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है।]

आवरणात्मक मायामोह की निवृत्ति हरिकृपा एवं शास्त्राभ्यास से होती है। इस सम्बन्ध में दशश्लोकी में आचार्य निम्बार्क कहते हैं-

'ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनम्, शरीरसंयोगवियोगयोग्यं ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नम्, ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥'

(दश्लो.1)

[जीव ज्ञान स्वरूप है, हरि के अधीन है, अणु परिमाणवाला है, प्रत्येक शरीर में भिन्न -भिन्न होने से अनंत है, शरीर के संयोग एवं वियोग के योग्य जन्य है, सूर्य जैसे प्रकाश स्वरूप होते हुए भी प्रकाशकत्व धर्मवाला भी है, ठीक उसी प्रकार यह जीव ज्ञान स्वरूप होते हुए भी ज्ञातृत्वधर्मवाला है।]

जीव हरि का अंश नहीं, अपितु शक्तिरूप है। कहा है

'अंशो ही शक्तिरूपो ग्राह्यः ।'

[अंश अर्थात् जीव को परमात्मा का शक्तिरूप समझना चाहिये]

हरि की शक्ति अनन्त होने से जीव भी अनन्त हैं। प्रत्येक शरीर में अलग-अलग हैं। सुखदु:खादि के भोक्ता हैं। ये जीव ३ प्रकार के हैं-बद्ध, बद्धमुक्त, एवं नित्यमुक्त। बद्ध भी पुनः २ प्रकार के हैं-संसारपतित और मुमुक्षु। मुमुक्षु तो भगवान् को अथवा स्वरूप को प्राप्तकर मुक्त होता है। किन्तु संसारपतित के बारे में गीता में कहा है-

'आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिं ॥'

(गीता 16.20)

[हे अर्जुन! वे मूढ मुझको न प्राप्त कर जन्म जन्म में आसुरि योनि को प्राप्त होते हैं फिर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं (नरकों में पड़ते हैं)]।

मुक्ति दो प्रकार की है- भगवत्प्राप्ति और स्वरूपप्राप्ति।

अचित्त तीन प्रकार के हैं-प्राकृत, अप्राकृत और काल। सांख्योक्त पुरुष से भिन्न 24 तत्त्वों को **प्राकृत** कहते हैं, जिनका कार्य है 14 लोकोंवाला यह ब्रह्माण्ड। जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज् ये 4 प्रकार के शरीर भौतिक हैं। जब कि देवादि शरीर को सत्त्वमात्र का कार्य मानते हैं। 5 तन्मात्राओं और 11 इन्द्रियों के समुदाय को ही सूक्ष्मशरीर मानते हैं। इसी को लेकर षोडषकलपुरुष का व्यवहार करते हैं।

अप्राकृत अचित् भगवान के शरीर एवं उनके आभूषणादि को कहते हैं। ये सब दिव्यानन्द को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। यह श्रुति इसमें प्रमाण है-

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥'

(पु.सू. 18)

[तम से परे आदित्य के वर्ण के सदृश दिव्यभोगस्थान, दिव्यभोगोपकरण एवं दिव्यभोग्यपदार्थ हैं।]

अचित्त का तीसरा भेद है-**काल**। वह जगत् का आधार, विभु एवं नित्य है। जगत् का नियामक एवं कारण होता हुआ भी ईश्वराधीन है। काल को परमाणुमय मानने से कार्यात्मक काल को स्वीकार किया है। वह सदा संख्याजन्य ही होता है किन्तु कुछ लोग कार्यात्मक काल को सूर्यस्पन्दादि उपाधिकृत भेद मानते हैं।

तीसरा तत्त्व है **परमेश्वर** जिसके बारे में आचार्य निम्बार्क ने अपने दशश्लोकी में कहा हैं-

'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषम् अशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।'

(दश्लो. 4)

[स्वभाव से ही सकलदोषरहित एवं सकल कल्याणकारी गुणों का सागर ही ईश्वर है]।

इस प्रकार ईश्वर यद्यपि सगुण है फिर भी प्राकृतगुण न होने से उसे निर्गुण

कहा है। पञ्चक्लेश, छ:विकार और त्रिविधतापरूपी दोष से रहित है। धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य, यश और श्री - इन षड् भग = विभूति = ऐश्वर्य से वह परिपूर्ण है, इसलिये ईश्वर को भगवान् कहते हैं। ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। शंकर के समान ब्रह्मविवर्तवाद मानते हैं, न कि रामानुज के समान ब्रह्मपरिणामवाद। ईश्वर को सर्वसमर्थ एवं वेदमात्रगम्य मानते हैं। उसके 3 **पुरुषावतार** होना स्वीकार करते हैं-एकार्णवशायी, गर्तोदकशायी और क्षीरसागरशायी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश- ये ईश्वर के **गुणावतार** हैं और दो प्रकार के **लीलावतार** भी होते हैं-आवेशावतार और स्वरूपावतार। आवेशावतार पुन: दो प्रकार का है-शक्त्यंशावेश और निजरूपांशावेश, इनमें से भी धन्वन्तरि आदि प्रभवशक्त्यंशावेश हैं तथा कपिलादि विभवशक्त्यंशावेश हैं। जबकि नर-नारायणादि को निजरूपांश अवतार कहा गया है। स्वरूपावतार दो प्रकार का है-अंशावतार और पूर्णावतार, इनमें से मत्स्यकूर्मादि को अंशावतार और राम कृष्णादि को पूर्णावतार मानते हैं। मोक्ष प्राप्ति परमेश्वर के स्वरूपचिन्तनपूर्वक मानते हैं, जिसका संक्षेप में वर्णन ऐसा है- ईश्वर के चतुर्व्यूह अङ्ग हैं। वे हैं-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध। इन चारों का समष्टिरूप कृष्ण है, पूर्णब्रह्म। कुछ लोग वासुदेव को परमात्मा, संकर्षण को जीवात्मा, प्रद्युम्न को अहंकार और अनिरूद्ध को मन मानते हैं और इनकी उत्तरोत्तर-उत्पत्ति कहा है। अत: जीवेश्वर को भिन्नाभिन्न तथा जगदीश्वर को द्वैताद्वैतरूप मानना पड़ा। इसलिये ब्रह्म में चार पाद को माना है-प्रथमपाद अक्षर, द्वितीय ईश्वर, तृतीय जीव और चतुर्थ जगत्।

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'

(पु.सू.3)

[समस्त भूतभौतिक जगत् उस परमात्मा का एक पाद -भाग में स्थित है, शेष तीन पाद -भाग (पृथिवी से ऊपर द्युलोक) में अमरणधर्मा जीव, ईश्वर और अक्षर हैं।]

यह श्रुति इसमें प्रमाण है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'

(श्वे.उ.4.10)

और **'मायाभिः पुरुरूप ईयते'**

[उस ईश्वर की प्रकृति को माया जानो। और गुणत्रयात्मिका माया से अनन्त कार्यों को वह ईश्वर मायावी उत्पन्न करता है।]

ये दो श्रुतियाँ कारण रूप से ब्रह्माभिन्नशक्ति का एकत्व एवं कार्यरूप से

अनेकत्व कथन करके द्वैताद्वैत को सिद्ध करती हैं।

उक्त समस्त तत्त्वों को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से सिद्ध करते हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकार के हैं-ऐन्द्रियक अथवा लौकिक और दिव्य अथवा अलौकिक। न्यायदर्शन के समान प्रत्यक्ष और अनुमान का विस्तार समझना चाहिये किन्तु शब्द की तीन वृत्तियाँ मानते है-शक्ति, लक्षणा और गौणी। समस्त प्रमाणों में से वेद और व्यासादि आप्तवचन को परम श्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के साधन 5 हैं-कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और गुरु-आज्ञा का पालन। मीमांसादर्शन में विचारित कर्म भेद को मानते हैं-नित्य, नैमित्तिक और काम्य। ज्ञान तो जीव, ईश्वर और जगत् का स्वरूपबोध है, जिसकी चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। भक्ति दो प्रकार की है-साधन और साध्य। साधन भक्ति पुनः दो प्रकार की है- जिसमें विहिताभक्ति ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों के लिये तथा अविहिता भाक्ति शूद्रों के लिये है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति छः प्रकार की है। वे हैं-आनुकूल्यसंकल्प, प्रातिकूल्यविवर्जन, रक्षणविश्वास पूर्वक रक्षणकारित्व, गोप्तृत्ववरण पूर्वक रक्षकत्वस्वीकृति, आत्मनिक्षेप और कृपणता। परमप्रेमास्पद रूप से ईश्वर को मान कर भक्ति करना साध्याभक्ति है तथा विहितपूजादि करना और अविहित रोदनादिपूर्वक निवेदन-यह साधनाभक्ति है। पूर्ण शरणागति को प्रपत्ति कहते हैं। गुरुवचन एवं गुरु की भावना के अनुरूप सेवा करना गुरु-आज्ञा नामक साधन है। उक्त 5 साधनों को अपनाकर जब व्यक्ति निर्मल चित्तवाला होकर ईश्वरप्रेम में डूबता है तब वह मुक्त होता है।

卐

17 वल्लभदर्शन

आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत की स्थापना की है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'अणुभाष्य' एवं गीता पर 'सुबोधिनी' टीका लिखी है। इसे रुद्रसम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग भी कहा जाता है। पुष्टि का अर्थ है भगवत्कृपा-

'पोषणं तदनुग्रहः ।'

[भगवान् का भक्तों पर जो अनुग्रह है उसे पोषण अर्थात् पुष्टि कहते हैं।]

आचार्य वल्लभ सिद्धान्त को तीन भागों में विभक्त कर प्रस्तुत कर सकते हैं– स्वरुपकोटिविचार, कारणकोटिविचार और कार्यकोटि विचार।

स्वरुपकोटिविचारः :-

अपने शुद्धाद्वैतमार्तण्ड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि

'मायासम्बन्धरहितम् शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।'

(शुमा 1.1)

[विद्वानों ने कहा है - मायासंबंधरहित शुद्ध तत्त्व ही ब्रह्म है।]

ब्रह्म ही एकमात्र स्वतन्त्र पदार्थ है जिसे कृष्ण के रूप में स्वीकार करते हैं। सोने में आभूषण के समान यह विश्व (जगत्) ब्रह्म का अविकृतपरिणाम है अर्थात् न विवर्त है और न परिणाम है।

संक्षेप में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार है। निरतिशय सच्चिदानन्द व्यापक

अद्वितीय तत्त्व ही ब्रह्म है। उसी का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप है श्री कृष्ण। सूर्यप्रकाश और सूर्य के समान समझें। परदे को हटाने से जैसे खिड़की से सूर्य दीखता है उसी प्रकार मायारूपी आवरण को हटाने पर श्रीकृष्ण का दर्शन होता है। वह ब्रह्म समस्त विरूद्ध धर्मों का आधार है अर्थात् वह सगुण-निर्गुण, कर्ता-अकर्ता, साकार-निराकार आदि है।

ब्रह्म का विशेष चिन्तन तीन रूप से किया जाता है - स्वरूप, कारण और कार्य। वेदों को दो भाग में विभक्त करते हैं-कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड ब्रह्म का सद्रूप है, ज्ञानकाण्ड चिद्रूप है। जबकि इन दोनों के द्वारा प्राप्य भक्ति आनन्दरूप है। जीव, जगत् और अन्तर्यामी को ब्रह्म का क्रम से सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद के रूप में स्वरूपान्तर्गत मानते हैं।

कारणकोटिविचार :-

ब्रह्म में स्थित इच्छा, माया, प्रकृति, पुरुष, कर्म और काल कारणकोटिप्रविष्ट हैं। परमात्मा की अभिध्यानशक्ति **इच्छा** है।

'तदैक्षत', 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय'

(छांदो 6.2.3)

[अर्थात् उसने संकल्प किया, मैं जो एक हूँ बहुत हो जाऊँ।]

इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। सर्वप्रथम इच्छा के कारण सच्चिदानन्दस्वरूप में भेद पैदा होता है, जिससे अस्ति, भाति और प्रीति का अनुभव होने लगता है। वह क्रमशः क्रिया, ज्ञान और सुख के रूप में प्रकट होता है, जिससे ब्रह्म क्रियावान्, ज्ञानवान् और आनन्दवान्-इस प्रकार त्रिरूपी बन जाता है। बीज में निगूढ अङ्कुरादि के समान परमेश्वर में अभिन्नरूप से रहने वाली शक्ति **माया** है। वह अनन्तरूपा होते हुए भी अखण्ड है। माया में अनन्त शक्तिभेद परमात्मा की इच्छा शक्ति से होता है। यह माया परमेश्वर (ब्रह्म) के सदंश में सत्ता एवं क्रिया शक्ति के रूप में तथा चिदंश में ज्ञान एवं व्यामोहिनी शक्ति के रूप में रहती है। यह व्यामोहिनी शक्ति ही अविद्या है, जो कि आनन्दांश में जगदुत्पत्ति करने में सहकारिणी होती है। वह माया स्वप्न तथा स्मृति के पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली, जगत् एवं संसार का सांचा बनती है क्योंकि जगत् भगवान् का नित्यस्वरूप होनेपर वस्त्वाकार परिणाम का कारण है तथा मिथ्या संसार को सत्य सदृश बनाने में सांचे के समान कारण है। माया पुरुष को आवृत्त कर अज्ञानी बनानेवाली है। चिदंशावरण ही अव्यक्त अथवा **प्रकृति** है और आनन्दांश आवरण ही सूत्रात्मा अथवा **पुरूष** है। यद्यपि दोनों नित्य एवं एक-एक है तथापि ईश्वरेच्छा के कारण नाना बनते हैं।

कर्म क्रिया को कहते हैं जो माया के समान एक तथा व्यापक होने पर भी अनन्तांशयुक्त है। वह वेदविहित तथा निषिद्ध क्रियानुष्ठान द्वारा सत्कर्म एवं दुष्कर्म भेद से दो प्रकार का है। परमात्मा की क्रियाशक्ति **काल** है। वह सत्त्वादि गुणों में क्रिया पैदा करता है तथा जगत्कर्ता है।

कार्यकोटिविचारः :-

महत्तत्त्व से लेकर ब्रह्माण्डादिस्थूल परम्परया शरीर तक के तत्त्व को कार्यकोटि मानते हैं। अपकृष्ट सत् (क्रिया) और चित् (ज्ञान) शक्ति से विशिष्ट उत्कृष्ट आनन्द से संपूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। यह श्रुति प्रमाण है-

'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते....'

(तैत्त. 3.6)

[आनंद से ही ये सब भूतभौतिक जगत् उत्पन्न होते हैं।]

बन्धनकारी प्राणादि ब्रह्म के सदंश से तथा जीव चिदंश से और नियामक अन्तर्यामी आनन्दांश से प्रकट होते हैं।

शुद्धब्रह्म ही तीनप्रकार का **अक्षरब्रह्म** होता है। प्रथम सर्वव्यापक अन्तर्यामी, दूसरा हृदयस्थ कूटस्थ और तीसरा हरिधाम वैकुण्ठ। ये उत्तरोत्तर अधिकावरण वाले हैं। इनमें से वैकुण्ठ ज्ञानमय होने से अपरिणामी है जबकि अन्तर्यामी आनन्दमय होने से परिणामी। अतः इस अन्तर्यामी का सामान्यावतार जगत् है तथा विशेषावतार मत्स्यकूर्मादि। हृदयस्थ कूटस्थ नामक अक्षर ब्रह्म प्रतिशरीर भिन्न है एवं शरीर तथा शरीराभिमानी जीव का नियामक है। जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय के लिये अन्तर्यामी नामक अक्षरब्रह्म गुणावतार लेते हैं। इस व्यवस्था के लिये गुणों को दो प्रकार का माना है-अप्राकृत और प्राकृत। अप्राकृत सत्त्वगुण में प्रविष्ट होकर अप्राकृत सत्त्वशरीरवाला है विष्णु, इसी प्रकार अप्राकृत रजःशरीरवाला ब्रह्मा तथा अप्राकृत तमःशरीरवाला शिव है। ये तीनों प्राकृत सत्त्व, रज एवं तम के नियामक होते हैं। यह अक्षरब्रह्म का विचार है। प्रकृति, काल, कर्म (पूर्वोक्त हैं), महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय और महाभूत-ये सब स्वभाव से ही **जड़** पदार्थ हैं। इस समस्त जगत् का ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव होता है, अतः इनकी उत्पत्ति एवं प्रलय अथवा जन्म एवं नाश और अभावादि नहीं होते। अतः ब्रह्म समवायी और निमित्तकारण दोनों है। जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है जबकि संसार माया का कार्य है। जगत्-संसार का तादात्म्य, सुख-दुःख, अहंता-ममता, जन्म-मरण एवं क्लेशादि माया के कार्य हैं। जगत् एवं संसार में भेद ज्ञानी एवं अज्ञानी के दृष्टिभेद से सिद्ध होता है। मोक्ष में संसारमात्र का विलय होता है, जगत् का नहीं, अतः जीवनमुक्ति सिद्ध होती है। यह जड़ का विचार है।

जीवात्मा और कूटस्थ को भिन्न वस्तु मानते हैं आचार्य वल्लभ। जीवात्मा सच्चित्रूप है जबकि कूटस्थ सच्चिदानन्दरूप है, फिर भी दोनों परिच्छिन्न हैं। जीव और जगत् दोनों ही परमात्मा से अग्नि विस्फुलिंग के समान उत्पन्न होते हैं। अन्तर यह है कि जगत् केवल सत्रूप है जबकि जीवात्मा सत् एवं चिद्रूप है। अत: जीव की बन्धनकारी पञ्चपर्वा अविद्या को पञ्चपर्वा विद्या से ध्वस्त किया जा सकता है। देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, मनोऽध्यास और स्वरूप विस्मृति – यही पञ्चपर्वा अविद्या है और वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति-ये पञ्चपर्वा विद्या हैं। जीवात्मा के प्रमुख दो भेद हैं-बद्ध और मुक्त। मुक्त भी पुन: तीन प्रकार के हैं-जीवन्मुक्त :- सनकादि ऋषि, मुक्त :- गोलोकवासी और परममुक्त :- भगवल्लीलासंगामी अथवा ब्रह्मनिष्ठ। बद्धजीव दो प्रकार के हैं-दैव और आसुर। दैव के भी पुन: दो भेद है-मर्यादामार्गी और पुष्टिमार्गी। जीव का परिमाण अणु है।

उक्त समस्त पदार्थों की सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और अर्थापत्ति नामक 4 प्रमाण मानते हैं। ज्ञान को जीव का स्वरूप और जीव का गुण माना गया है, जिसको भेद वृत्ति द्वारा सम्पन्न माना गया है। ज्ञान के पाञ्च भेद सामान्यरूप से मानते हैं- निश्चय, संशय, भ्रान्ति, स्मृति और निद्रा। शुक्ति से अन्य रजत का भ्रान्तिज्ञान शुक्ति में होने से वल्लभाचार्यजी अन्यख्यातिवादी हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियज है, वह दो प्रकार का है-ऐन्द्रियक और दिव्य। लिङ्गजज्ञान अनुमान है। अर्थत: सिद्ध ज्ञान अर्थापत्ति है। शब्दज्ञान प्रस्थानचतुष्टय से उत्पन्न होता है। वे हैं-साङ्गवेद, भगवद्गीता, पूर्वोत्तरमीमांसा और श्रीमद्भागवत। इनसे अतिरिक्त प्राज्ञवचन को भी शब्दप्रमाण मानते हैं।

मोक्ष के लिये मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग मानते हैं। वैदिककर्मादि साधन में अनुरक्त को मर्यादी एवं भगवद्कृपा आकांक्षी को पुष्टी कहा जाता है। पुष्टिमार्ग में दो भेद हैं-शुद्ध एवं मिश्र। मिश्रपुष्टि भी पुन: तीन प्रकार के हैं-प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि और पुष्टिपुष्टि। पुष्टिमार्ग के साधन भक्ति की 18 भूमिकायें मानी गयी हैं। क्रमश: 4 साधनरूपा, 12 साध्यरूपा एवं 2 को फलरूपा मानते हैं। वे हैं-सत्संगति, श्रवणकीर्तनादि, परिचर्या, मार्गरुचि। मन में भगवत्प्रेम, चित्त की निर्मलता, स्वत: परोक्षात्मकभगवद्रुचि, भाव, भगवत्स्फूर्ति, अपरोक्षरूचि, पूर्णप्रेम, विषयासक्तिशून्यता, विषयों में बाधकबुद्धि, वैराग्य, भगवद्व्यसन, सर्वात्मभाव। हृदय में भगवान् का आविर्भाव और दिव्यसामर्थ्यप्राप्ति। अत: मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन है सर्वसमर्पण, आत्मनिवेदन तथा निरतिशयभक्ति (प्रपत्ति)। त्रिगुणनिवृत्तिपूर्वक परमार्थलीला में नित्यप्रवेश ही निर्गुण निरोधात्मक मोक्ष है।

卐

18. चैतन्यमहाप्रभुदर्शन

भगवद्भक्तश्रेष्ठ चैतन्य महाप्रभुजी ने बंगाली वैष्णवमत अथवा अचिन्त्य भेदाभेदमत का प्रचार किया। माध्वमत के साथ अधिक समानता होने से इसे माध्वगौड़ीयमत भी कहा जाता है। इसे गौड़ीयसम्प्रदाय भी कहते हैं।

यद्यपि चैतन्यमहाप्रभु ने अपने मत के प्रतिपादन के लिये कोई ग्रन्थ नहीं लिखा किन्तु शिष्यपरम्परा में रूपगोस्वामीकृत उज्ज्वलनीलमणि और भक्तिरसामृतसिन्धु, जीवगोस्वामीकृत षट्सन्दर्भ तथा बलदेवविद्याभूषण कृत ब्रह्मसूत्र के गोविन्दभाष्य प्रसिद्ध हैं।

चैतन्य मत में पञ्चतत्त्व को स्वीकार करते हैं-ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म।

ईश्वर, ब्रह्म अथवा कृष्ण ये सब शब्द एक ही तत्त्व के बोधक हैं। यह ईश्वरतत्त्व-विभुचैतन्य नित्यज्ञानादि गुणसम्पन्न, सच्चिदानन्दरूप तथा अनन्त शक्तिमान् है।

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः'

(श्वेत.उ. 6.16)

[वह ईश्वर-पति, गुणों का ईश (स्वामी) है, प्रधान (प्रकृति -माया) और क्षेत्रज्ञ (जीव) का स्वामी है तथा संसार के जन्म, स्थिति और लय का कारण है।]

इसके अनुसार संसार के जन्म, स्थिति एवं लय का कर्ता, उपादानकारण, गुणों का ईश तथा जीवों का शास्ता के रूप में ईश्वर को माना है। अपनी अनन्त शक्तियों के कारण एक होते हुए भी अनेक, निर्गुण होते हुए सगुण, अभिन्न होते हुए भिन्न इत्यादि रूप से अनुभव होता है। ईश्वर की समस्त प्रकार की शक्तियों को ३ भागों में स्मृतिकार ने वर्गीकरण किया है-

'विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते ।'

[तीन शक्तियाँ हैं - परा, अपरा और अन्या। विष्णुशक्ति, (चिच्छक्ति) परा है, क्षेत्रज्ञ (जीव) नामक शक्ति अपरा है। कर्मनामक (माया) शक्ति अन्या है।]

अर्थात् अन्तरङ्गा चिच्छक्तिः, तटस्था जीवशक्तिः और बहिरङ्गा मायाशक्तिः। इस भेद दर्शन की व्यवस्था के लिये माध्वकल्पित विशेष नाम के पदार्थ को स्वीकार किया है। अतः यद्यपि वास्तव में ईश्वर सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद से शून्य है, तथापि वह अपने में निमित्त कारण तथा शक्तियों से उपादान कारण होता है। जैसे अन्तरङ्ग शक्ति को त्रिधा विभक्तकर सन्धिनीशक्ति द्वारा सत्, संवित्शक्ति द्वारा चित् एवं ह्लादिनीशक्ति द्वारा आनन्दरूप से प्रकट होते हैं।

तटस्थशक्ति से वह अणुपरिमाणवाला अनन्त **जीव** होता है और मायाशक्ति से संसार के रूप में प्रकट होते हैं। इसलिये मुक्तदशा में भी जीव ईश्वर के अवयव के रूप में ईश्वर से अलग रहता है तथा यह संसार भी मिथ्या नहीं है। इसलिये मुक्तिकाल में भ्रान्ति तथा अज्ञान मात्र की निवृत्ति मानते हैं संसार का नहीं।

जैसे सूर्य और किरण के स्वरूप एक हैं उसी प्रकार जीव और ईश्वर का स्वरूप एक है। फिर भी विमुख होने से बन्धन का अनुभव होता है, अतः सम्मुख होना ही मुक्ति है। जीव भूतसूक्ष्मों द्वारा घिरे हुए लोकों में गतिशील होता है, इसलिये भी अणुपरिणामवाला माना गया है।

ईश्वर की सगुणरूपता ही **प्रकृति** है, जिससे वह इस संसाररूपी शरीर को धारण करता है।

काल को माध्व मत में कथित प्रकार ही स्वीकार किया है। संसार की प्रवृत्ति का मुख्य कारण ही **कर्म** है।

मुक्ति का साधन एकमात्र भक्ति है। वह भक्ति दो प्रकार की है – रुचिभक्ति और विधिभक्ति। वेद एवं अन्यशास्त्रों में कथित पद्धति के अनुसार ईश्वरप्रेम को विधिभक्ति कहते हैं किन्तु रुचिभक्ति को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, जिसका लक्षण कहा गया है-

'अन्याभिलषितशून्यम् ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुसेवनम् भक्तिरुत्तमा ॥'

(भर 1.1.9)

[अन्य (संसारिक पदार्थों की) अभिलाषा से रहित, विषय ज्ञान और कर्म से अनावृत एवं कृष्ण की सेवा के अनुकूल आचरण ही उत्तमा भक्ति है।]

शङ्कराचार्य को छोड़ कर अन्य सभी वेदान्तियों ने (रामानुजादि) ज्ञानकर्मसमुच्चय से मुक्ति का प्रतिपादन किया है किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवादी चैतन्य महाप्रभु ज्ञानविशिष्टभक्ति से मोक्ष मानते हैं। मुक्त जीवों को अपने धाम में स्वयं भगवान ले जाते हैं; अत: गति के लिए कोई मार्ग अपेक्षित नहीं है। इस विषय में वाराहपुराण का वचन प्रमाण है-

'नमामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना ।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः ॥'

[अर्चिरादि मार्ग गमन (देवयान / पितृयान , उत्तरायण / दक्षिणायन, अर्चि:/ धूम्र) के बिना प्राप्त होने वाले उस परम श्रेष्ठ स्थान को मैं नमस्कार करता हूँ। क्योंकि गरुड़ के कंधों पर बिठाकर परमात्मा बिना किसी रोकटोक के स्वेच्छापूर्वक अपने धाम स्वयं ले जाते हैं।]

अत: रुचिभक्ति-रागानुगा भक्ति ही अंत है। कृष्ण के प्रति परमप्रेम के कारण नित्यवृन्दावनधाम में जो परमानन्दानुभूति है, यही मोक्ष है।

卐

19. शैवसम्प्रदाय-पाशुपतदर्शन

वेदों में शिवतत्त्व अथवा रुद्रतत्त्व का खूब विवेचन है। जैसे यजुर्वेद में शतरुद्रीय और तैत्तिरीय आरण्यक में रूद्र से जगत् की उत्पत्ति इत्यादि। शिवतत्त्व को प्रधान रूप से माननेवालों के 4 भेद हैं-नकुलीशपाशुपतदर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञा (कश्मीरी शैव) और रसेश्वरदर्शन। इनसे अतिरिक्त कापालिक और कालामुख नामक दो विभाग यामुनाचार्य कृत आगमप्रामाण्य नाम के ग्रन्थ में है, जिसकी चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं करेगें। सभी शैवों का मूलग्रन्थ है 'शैवागम'।

शिवपुराण में कारवण माहात्म्य से पता चलता है कि भृगुकच्छ के पास कारवण नामक स्थान में पाशुपतदर्शन के संस्थापक आचार्य नकुलीश के रूप में, शिव के 18 अवतारों में से, प्रथम अवतार हुआ। एक हाथ में बीजपूर फल और दूसरे में लगुड़ (लाठी) धारण किये हुए इनकी मूर्ति की पूजा विशेषतः राजस्थान एवं गुजरात में प्रसिद्ध है। लगुड़ेश का ही अपभ्रंश लकुलीश और नकुलीश हुआ है।

आचार्य नकुलीश द्वारा विरचित सर्वप्रथम **'पाशुपतदर्शन'** पर विचार करेंगे। इस दर्शन का प्रथमसूत्र है-

'अथातः पशुपतेः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्यामः'

(पाद 1.1)

[दुःखान्त प्राप्ति के लिये पशुपति संबधी पाशुपतयोगविधि का व्याख्यान करुँगा।] इस सूत्र में इस दर्शन के मूलभूत पाञ्च पदार्थों का संकेत है। अथ शब्द से गुरुतत्त्व, अतः शब्द से दुःखान्ततत्त्व, पशु, पति और योग-ये 5 पदार्थ हैं अथवा पति और गुरु को ऐक्य करके विधि को पञ्चम पदार्थ मानते हैं। इनके संक्षिप्त-स्वरूप इस प्रकार हैं-

1. **गुरुतत्त्व** :-

'पञ्चकास्त्वष्टविज्ञेया गणश्चैकत्रिकात्मकः।
वेत्ता नवगुणस्यास्य संस्कर्ता गुरुरुच्यते ॥'

(ग.का.2)

[आठपञ्चक और एक त्रिकात्मक गण को जाननेवाला तथा शिष्य के नौ गुणों का संस्कार करने में समर्थ को गुरु कहते हैं।]

लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और बल ये **आठ पञ्चक** हैं। ये अष्टपञ्चक इस प्रकार हैं -

विधीयमान उपायों के फल को **लाभ** कहते हैं। वे पांच हैं-ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि।

आत्मा में आश्रित दुष्टभाव **मल** है। वे पाञ्च हैं-मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति, पशुत्व और च्युति।

अन्तःकरण की शुद्धि के साधन को **उपाय** कहते हैं। वे पाञ्च हैं-वासचर्या, जप, ध्यान, सदैव शिवस्मृति और प्रतिपत्ति।

जिनके आश्रय से ज्ञान, तप आदि की वृद्धि हो वह **देश** है। वे पाञ्च हैं-गुरु, भक्तजन, गुफा (एकान्त), श्मशान और शिवजी (भगवान)।

लाभप्राप्तिपर्यन्त की अवस्थिति विशेष को **अवस्था** कहते हैं। वे भी पाञ्च हैं-व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान और निष्ठा।

मलनिवृत्ति **विशुद्धि** है। वे पाञ्च इस प्रकार हैं-अज्ञानहानि, अधर्महानि, सङ्गहानि, च्युतिहानि और पशुत्वहानि।

दीक्षाकारी पञ्चक ये हैं-द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु।

बल पञ्चक हैं-गुरुभक्ति, प्रसन्नता, द्वन्द्वजय, धर्म एवं अप्रमाद।

एक **त्रिकात्मक गण** वह है जो मानापमान का विरोधी होते हुए भी अन्नोपार्जन के लिए साधनरूपा वृत्ति है। वह गण है-भिक्षा, उच्छिष्ट और यदृच्छालब्ध।

2. **दुःखान्ततत्त्व** :- शिष्य के नौ गुण ही दुःखान्त नामक दूसरा पदार्थ है।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक-इन तीन प्रकार के दु:खों के अन्त को दु:खान्त कहते हैं। यह दो प्रकार का है-अनात्मक और सात्मक। प्रथम तो समस्त दु:खों के पूर्णतया उच्छेद को कहते हैं। दूसरा दृक्‌शक्ति और क्रियाशक्ति रूप ऐश्वर्य है। दृक्शक्ति पुन: पांचप्रकार की है-दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञता। सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का इन्द्रियों से ज्ञान होना **दर्शन**; समस्त चिन्ताविषयक ज्ञान **मनन**; ग्रन्थत: और अर्थत: सर्वशास्त्रज्ञान-**विज्ञान** और उक्तानुक्त समस्तपदार्थों का (संक्षेप) समास, विस्तर, विभाग एवं विशेषरूप से तत्त्वत: ज्ञान को **सर्वज्ञता** कहते हैं। क्रियाशक्ति तीन प्रकार की है-मनोजवित्व, कामरूपित्व और विक्रमणधर्मित्व। प्रथम और द्वितीय नाम से ही स्पष्ट हैं, उपसंहृतकरणदशा में भी निरतिशय ऐश्वर्य सम्बन्धित्व को विक्रमणधर्मित्व कहते हैं। इस प्रकार अनात्मक (1) दृक्शक्तिसात्मक (5) और क्रिया-शक्तिसात्मक (3), कुलमिलाकर 9 प्रकार के दु:खान्त हैं।

3. **कार्यतत्त्व** :- अस्वतन्त्र समस्तकार्यात्मक जगत् पर तीन भागों में विचार किया है। 1. पशु, 2. विद्या और 3. कला। पशु का गुण विद्या है, और वह दो प्रकार की है- बोध एवं अबोध भेद से अथवा चित्ताचित्त भेद से। बोधात्मक पुन: विवेकाविवेक प्रवृत्तिभेद से दो प्रकार का है, प्रमाणजन्य ज्ञान विवेक नामक है और भ्रान्तिज्ञान अविवेक है। पश्वर्थधर्माधर्मात्मिका अबोधरूप **विद्या** है। चेतनपरतन्त्र अचेतन जगत् कला है। वह दो प्रकार की है कार्य और कारण भेद से। पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत और रूपादि पाञ्च गुण कार्यात्मक दस कला हैं तथा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, बुद्ध्यहंकार और मन नामक तीन अन्त:करणों को मिलाकर 13 कारणात्मक **कला** है। अस्वतन्त्र चेतनात्मक कार्य है **पशु**=जीवात्मा, जैसा कि लिङ्गपुराण में कहा है-

'ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः ।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः ॥'

[देवों के देव, त्रिशूलधारी, पशुओं के नियन्ता शिव के पशु हैं - ब्रह्माजी से लेकर स्थावर पर्यन्त सकल जीवपदार्थ।]

वह जीवात्मा साञ्जन और निरञ्जन भेद से दो प्रकार की है। प्रथम शरीरादि से युक्त, दूसरा उनसे रहित।

4. **पतितत्त्व** :- समस्त सृष्टिस्थिति संहारकारी, एक होते हुए भी गुण-कर्मभेद की अपेक्षा से विभक्त, निरतिशयदृक्क्रियाशक्तित्त्व, नित्यैश्वर्यसम्बन्धित्व इत्यादि धर्मों से संपन्न ईश्वर, ब्रह्म, शुद्ध आत्मा को पति कहते हैं। सृष्टि निर्माण में पति की

स्वातन्त्र्यता को जीव के कर्म की अपेक्षा नहीं मानते हैं।

5. **योगतत्त्व :-**

'चित्तद्वारेणेश्वरसम्बन्धहेतुर्योगः'

(पाद.5.2)

[चित्त द्वारा ईश्वर के साथ संबंध का कारण योग है।]

चित्त द्वारा जीवेश्वर अथवा पशु-पति के संबंध को योग कहते हैं। वह दो प्रकार का है- क्रियारूप और क्रियोपरमरूप। जपध्यानादि प्रथम हैं, निष्ठासंविद्गत्यादिरूप दूसरा है। योग सम्बन्धी धर्मार्थसाधकव्यापार **विधि** है। वह दो प्रकार की है-प्रधान और गौण। साक्षाद्धर्मसम्बन्धी को प्रधानविधि कहते हैं। उसके तीन भेद हैं - व्रत, उपहार और द्वार। व्रत पुनः पाञ्च प्रकार के हैं-भस्मस्नान, भस्मशय्या, उपहार, जप और प्रदक्षिणा। छः अङ्ग से युक्त नियम को उपहार कहते हैं। हंसना, नाचना, गाना, साँड़ के समान आवाज करना, कीर्तन करना और नमस्कार करना, ये छः अङ्ग हैं। द्वार के छः भेद हैं। **क्राथन**-सोये हुए जैसे करना, **स्पन्दन**-वायु आदि से कम्पन के समान करना, **मन्दन**-रोगादि के कारण जैसे मन्द चलना, **शृङ्गारण**-कामुक के समान करना, **अवितत्करण**-मूढ़ के समान करना और **अवितत्त्वभाषण**-बकवास करना। गौणविधि तीन प्रकार की हैं-अनुस्नान; शिवोच्छिष्टभक्षण और लिङ्गधारण।

दुःखान्त विशिष्ट परमैश्वर्य प्राप्ति ही मोक्ष है, जो कि यथावत् तत्त्वनिश्चय से प्राप्त होता है।

卐

20. शैवदर्शन

शैवदर्शन के दो भेद हैं। वीरशैव और शैवसिद्धान्त। वीरशैव को शक्तिविशिष्टद्वैत अथवा विशेषाद्वैत मत कहा जाता है। इस संप्रदाय को लिङ्गायत अथवा षट्स्थल भी कहते हैं। शैवसिद्धान्त को शुद्धाद्वैत भी कहा जाता है किन्तु यह वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत से भिन्न है। क्योंकि वल्लभ के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है मायासम्बन्धरहित द्वैत जबकि शैवमत के अनुसार द्वैत की सत्ता सत्य होते हुए भी द्वैत ब्रह्म से अभिन्न है।

शैवदर्शन का मूलग्रन्थ है शैवागम, जिनमें शिवसंहिता, अहिर्बुध्न्य संहिता आदि 18 प्रसिद्ध हैं। इनके अनन्तर यामल ग्रन्थ हैं। ये सब संस्कृत में हैं। 18 आगमों को शैवमत में स्वीकार किया गया है। 84 सन्तों में से साम्बन्दर आदि 60 आलवर सन्तों के 'तिरुमुरै', माणिक्कवाचक के 'तिरुवासगम्', मेयकन्दर का 'शिवज्ञानबोधम्', शिवाचार्यकृत 'शिवज्ञानसिद्धियर' ये सब तमिल भाषा में है। तथा श्रीकण्ठाचार्यकृत ब्रह्मसूत्र के शैवभाष्य एवं अप्पय्यदीक्षितकृत 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक भाष्यटीका इस मत के प्रमुख ग्रन्थ हैं। प्रसिद्धकथा यह है कि शिव ने अपने पाँच मुखों से 28 तन्त्रों का आविर्भाव किया। वे निम्न हैं-

1. सद्योजातमुख से-कामिक, योगज, चिन्त्य, करण, अजित।

2. वामदेव मुख से-दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान्, सुप्रभेद।

3. अघोर मुख से-विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर।

4. तत्पुरुष मुख से-रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब।

5. ईशान मुख से-प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण, वातुल।

इनसे अतिरिक्त सद्योज्योति के 'नरेश्वरपरीक्षा' आदि, हरदत्त शिवाचार्यकृत 'चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रह' इत्यादि, रामकण्ठकृत 'मातङ्गवृत्ति' इत्यादि, श्रीकण्ठकृत 'रत्नत्रय' आदि, भोजराज की 'तत्त्वप्रकाशिका', अघोरशिवाचार्य कृत 'नादकारिका' आदि अनेकों ग्रन्थ हैं। लेकिन 'अष्टप्रकरण' नाम से प्रसिद्ध सद्योज्योति कृत 'रौरवागमवृत्ति', 'तत्त्वसंग्रह', 'तत्त्वत्रय', 'भोगकारिका' एवं 'परमोक्षनिरासकारिका'; भोजराज की 'तत्त्वप्रकाशिका'; रामकण्ठ की 'नादकारिका' और श्रीकण्ठ के 'रत्नत्रय'-इन 8 ग्रन्थों का समूह इस दर्शन का मुख्य स्तम्भ बना हुआ है।

इस मत में 3 पदार्थों को माना गया है और 4 पादोंवाले शैवागम को महाशास्त्र कहा गया है।

'त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः ॥'

[तीन पदार्थ और चारपादवाला महातन्त्र ही जगत् का गुरु है।]

पति, पशु और पाश-ये तीन पदार्थ हैं तथा विद्या, क्रिया, योग और विधि-ये चार पाद हैं। गुरु से नियमपूर्वक मन्त्र का उपदेश ग्रहण करने रूपी दीक्षा से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा है-

'दिव्यज्ञानं बलो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयं ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥'

(स.द.स.पृ. 276 टिप्पणम्)

[तत्त्ववेता मुनिगण कहते हैं कि -दीक्षा उस दिव्यज्ञान को कहते हैं जो आत्मबल देता है और सकल पापों को नष्ट करता है।]

वह दीक्षा मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि की महिमा का ज्ञान तथा पशु, पाश एवं ईश्वर के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। इसलिये दीक्षा के साधक ज्ञान को विद्यारूपी प्रथम पाद कहा है। सर्वाङ्गोपेत अनेक प्रकार की दीक्षाओं की विधि क्रियापाद में है। विभिन्न योगों का वर्णन योगपाद में है। चर्या अथवा विधिपाद में योग एवं विद्या की सिद्धि के उपयोगी विधि एवं निषेधों का वर्णन है।

पतितत्त्व :- शिव को पति कहते हैं। प्राणि अर्थात् पशुकृतकर्म की अपेक्षा से परमेश्वर में संसार का कर्तृत्व मानते हैं। अतः पशुओं (जीवों) के कर्मज्ञाता होने

से कर्मफलदाता भी भगवान् है। सर्वात्मक होने से वह सर्वज्ञ है। परमेश्वर-स्वतन्त्र है और शरीरी भी। उनका शरीर प्राकृत नहीं किन्तु शक्तिमय है। अत: श्रुति कहती है-ईशान मस्तक, तत्पुरुष मुख, अघोर हृदय, वामदेव गुह्य तथा सद्योजात पाद है-यह मन्त्रमय शरीर है। उसे स्वतः सिद्ध, पूर्णशुद्ध, स्वतः स्फुरणयुक्त, सर्वज्ञ, सर्वपाशरहित, सर्वव्यापक, अनन्तप्रेम और अमितानन्दरूप-इन आठ गुणों से सम्पन्न मानते हैं। शिव कर्तारूपी निमित्तकारण, उसकी शक्ति करणरूपी निमित्तकारण और माया उपादानकारण है। शक्ति को शिव का स्वरूपशक्ति माना गया, उसे तादात्म्यापन्न होने के कारण चेतन, अविकारी और नित्य मानते हैं। इससे अतिरिक्त माया जड़ात्मक है। वह दो प्रकार की है-शुद्ध अथवा सात्त्विक जगत् का कारण महामाया। राजस एवं तामस जगत् का कारण माया दूसरी है। वह भी दो प्रकार की है - बिन्दु, अशुद्धबिन्दु। बिन्दु;- यह विद्या और प्राकृतजगत का कारण माया है। अशुद्धबिन्दु:- यह माया शिव की परिग्रह शक्ति है। शिव स्वेच्छापूर्वक पाञ्चकार्य करते हैं- सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोभाव और अनुग्रह।

पशुतत्त्व :- अनणु एवं क्षेत्रज्ञ (जीव) को पशु कहते हैं। जीव को इसलिये पशु कहा गया है क्योंकि पशु के समान अविद्यारूपी रस्सी से संसारात्मक खूंटी में बंधा हुआ है। यद्यपि यह सर्वव्यापक, सर्वातीत, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्त, चेतन और आनन्दरूप है तथापि अविद्या के कारण अपने आप को अणु, दु:खी, सीमितशक्तिवाला, इत्यादि मानता है। मुक्तिकाल में वे अपने शिव स्वरूप में वापस स्थित हो जाते हैं। ये पशु 3 प्रकार के हैं- विज्ञानकल, प्रलयाकल और सकल। भोग से अथवा विज्ञान, योग एवं संन्यास द्वारा कर्मक्षय हुए केवल मलमात्र युक्त को विज्ञानकल कहते हैं। प्रलय के कारण कलादियों का उपसंहार होने से मल और कर्मयुक्त को प्रलयाकल कहा जाता है। मल, माया एवं कर्म तीनों से युक्त को सकल मानते हैं। विज्ञानकल दो प्रकार के हैं-समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष। इनमें से समाप्तकलुषों पर शिवजी अनुग्रह करके अष्टविद्येश्वरपदों पर नियुक्त करते हैं। असमाप्तकलुषों को सप्तमन्त्रगण का अभिमानी पद प्राप्त होता है। प्रलयाकल भी दो प्रकार के हैं-पक्वपाशद्वय और तद्विलक्षण। इनमें प्रथम मोक्ष को प्राप्त करता है और दूसरा पुर्यष्टक को प्राप्त करता है। पुर्यष्टक 30 तत्त्वों वाले सूक्ष्मशरीर को कहते हैं-मन, बुद्धि, अहंकार-तीन अन्त:करण; कला, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति, गुण-सात पशुधर्म; पञ्चमहाभूत, पञ्च तन्मात्रा-10 भूतसूक्ष्म ; पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय-10 करण; कुल 30 तत्त्व। सकल नामक जीव (पशु) भी दो प्रकार के हैं-पक्वकलुष और अपक्वकलुष। प्रथम को परमेश्वर आचार्य मूर्तिस्थ होकर

परिपक्वता के अनुसार शक्तिपात द्वारा दीक्षा देकर 118 मन्त्रों से ईश्वरपद प्राप्त कराके मोक्ष देते हैं। दूसरे को अवशिष्ट कर्मफल भोग के लिये उचित शरीरप्रदान करते हैं।

पाशतत्त्व :-पाश 4 हैं। कुछ लोग 3 और कुछ लोग 5 भी मानते हैं। मल, कर्म, माया, रोधशक्ति, बिन्दु। **मल**-इसे अविद्या अथवा आणवमल भी कहते हैं। यही पशुभाव का मुख्य कारण है। इसके कारण जीव अपने को शरीर में बद्ध, अल्पज्ञ, असमर्थ, अणु, दु:खित्वादि रूप से मानता है। **कर्म**-जीव के द्वारा किये पुण्य एवं पाप हैं, वे सूक्ष्म एवं अदृश्य हैं। यह प्राकृत जगत् का उपादान-कारण है। **रोधशक्ति**-सर्वत्र व्यापक ईश्वरशक्ति के पशु में अनुभव न होने की कारणभूत शक्ति को रोधशक्ति कहते हैं। **बिन्दु**-पूर्वोक्ति के अनुसार सात्त्विकजगत् के कारण महामाया को कहते हैं।

पाश ज़ब टूटते हैं तब यह पशु अपने शिवभाव को प्राप्त करते हैं, यही मोक्ष है। शिव के साथ ऐक्यप्राप्ति, नमक का जल के साथ ऐक्यप्राप्ति के समान है। अत: जीव शिवभाव के आनन्द का अनुभव करते हुए, अपनी पृथकता को नहीं ग्रहण करता है। इसलिये सृष्टि आदि शिवकर्म का सामर्थ्य पशु के मुक्त होने पर उसे प्राप्त नहीं होता। शिवसायुज्यप्राप्ति ही मोक्ष है।

卐

21. प्रत्यभिज्ञादर्शन (कश्मीरीशैवदर्शन)

इस दर्शन को त्रिक अथवा स्पन्ददर्शन भी कहते हैं। वसुगुप्त कृत 'शिवसूत्र' और 'स्पन्दकारिका', सोमानन्दकृत 'शिवदृष्टि', उत्पलदत्तकृत 'प्रत्यभिज्ञासूत्र', अभिनवगुप्त विरचित 'परमार्थसार', 'प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' तथा 'तन्त्रालोक' एवं क्षेमराजकृत 'शिवसूत्रविमर्शिनी' और 'स्पन्दसन्दोह' आदि ग्रन्थ इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं। ये सभी शैवागम पर आधारित हैं। अतः यह शास्त्र-सूत्र, वृत्ति, विवृति, लघुविमर्शिनी तथा बृहद्विमर्शिनी नामक पाञ्च प्रभेदों से परिपूर्ण है।

जैसा कि परीक्षकों ने कहा है-

'सूत्रं वृत्तिर्विवृत्तिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ ।
प्रकरण-विवरण-पञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः ॥'

(सदसं 8.1)

[प्रत्यभिज्ञाशास्त्र प्रकरणों का विवरण करनेवाले पाञ्च अङ्गों से युक्त है। वे पाञ्च अङ्ग हैं - सूत्र, वृत्ति, विवृत्ति, लघुविमर्शिनी और बृहदविमर्शिनी।]

इस दर्शन में 36 तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। वे हैं- शिव, शक्ति, सदाशिव, शुद्धविद्या, ईश, माया, राग, विद्या, कला, नियति, काल, पुरुष, प्रकृति, ख्याति, अहंकार, 10 इन्द्रियाँ, मन, 5 तन्मात्रा और 5 महाभूत।

इनमें से प्रथम तत्त्व **शिव** है, यही वास्तविक व सर्वातीत है, वह शिव और

शक्ति का समरसरूप है। इसे परमशिव अथवा अनुत्तरमूर्त्ति भी कहते हैं। वह अद्वैत है, नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप है तथा पूर्णतया स्वतन्त्र है। इनके मत में परमेश्वर की इच्छा मात्र से संसार का निर्माण होता है। समस्त प्रकार के भेदों और अभेदों को परमेश्वर ही धारण करता है। सब कुछ अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति एवं लय को दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान परमेश्वर वेदान्तियों से स्वीकृत ही व्यक्त करता है क्योंकि चेतनाचेतन सकल पदार्थ परमेश्वर के अन्तर्गत हैं। वह वस्तुवादी प्रत्ययवाद है क्योंकि ये लोग वेदान्तियों से स्वीकृत माया को नहीं मानते हैं। तन्त्रालोक में कहा है-

'निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिँश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥'

(तंत्रा 2.4)

[निर्मल = विशुद्ध, मुकुर = दर्पण में जैसे पृथिवी जल, आदि दिखाई देते हैं, ठीक उसी प्रकार एक विशुद्ध चिन्मय तत्त्व में समस्त विश्व पृथक्-सा प्रतीत होता है।]

इस संक्षिप्त परिचय को थोड़े विस्तार से समझें। इस शिवशक्ति के सामरस्यरूप में शक्ति के पाञ्चस्वरूप बीजगत अङ्कुरशक्ति के समान निहित हैं; वे हैं-चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, जिनसे क्रमशः शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या-इन पांच तत्त्वों के रूप में सृष्टि के आदिकाल में स्पन्दन-से होते हैं। यह सृष्टि अनादिपरम्परा से सिद्ध है। अद्वैतशिवतत्त्व को पञ्चधा विभक्त होकर देखने की शिवगतशक्ति का सामर्थ्य ही छठा तत्त्व **माया** है। वह वेदान्ती के समान न तो मिथ्याजगत का उपादानकारण ही है, और न तो भ्रान्ति का ही कारण। इस माया से ही पञ्चकञ्चुक पैदा होते है; वे हैं-राग, विद्या, कला, नियति और काल। इन कञ्चुकों की सहायता से माया उस असीम अद्वैत शिव को सीमित तथा द्वैत 'पुरूष' जीव के रूप में दिखाती है। शेष प्रकृति आदि तत्त्व सांख्यों के समान हैं। यह छत्तीस तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय है।

शिव और शक्ति के समवाय को नाद कहते हैं। इससे तीन प्रकार के बिन्दु उत्पन्न होते हैं प्रकाश, विमर्श और मिश्रबिन्दु। इन बिन्दुत्रयों के लय का समाहार ही सदाशिव है। अतः इसमें शिवशक्ति का समावेश भी है। इस कारण से यह पाञ्चकार्य-सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोधान और अनुग्रह करने में समर्थ होता है। शक्ति शिवगत होने के कारण चैतन्यप्रधाना है, जड़ नहीं। अतः शिव की शक्ति

का परिणाम समस्त तत्त्व हैं। इसलिये शिव अविकारी, विशुद्ध एवं नित्य-अद्वैत है। इस सर्वातीतभाव को विश्वोत्तीर्ण तथा शक्ति द्वारा प्रकट सर्वाभासगत सर्वात्मभाव को विश्वात्मा कहते हैं। उक्त सदाशिव से तीन देव-ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र रूप उत्पन्न होते हैं और उक्त शक्ति के कार्य शुद्धविद्या से वाणी (सरस्वती), लक्ष्मी, एवं अम्बिका (काली) उत्पन्न हुई और ये देवों की शक्तियाँ बनीं। ये पाँच तत्त्व-शिव, शक्ति, सदाशिव, शुद्धविद्या और ईश्वर (ब्रह्मादि)-सदा मुक्त, स्वतन्त्र एवं सर्वसमर्थ हैं। माया तथा पञ्चकञ्चुक बन्धनरूप हैं। माया शिव की व्यापकता को ढ़ककर परिच्छिन्न कर देती है। पञ्चकञ्चुकों द्वारा माया इस प्रकार शिव को पुरुष (जीव) बनाती है। माया की अवस्था विशेष-कला से विश्वकर्तृत्व ढ़क जाता है और जीवरूप से असमर्थ भाव को प्राप्तकर किञ्चित्कर्तृत्व मानता है। विद्या से सर्वज्ञ होते हुए भी अल्पज्ञ होता है। राग से नित्य तृप्त होते हुए भी कामी होता है। काल से अमर होते हुए जरा-मरण वाला होता है। नियति से सर्वशासक होते हुए पराधीन हो जाता है। इसी जीवभाव को पुरुष कहते हैं। इसी प्रकार शक्ति भी अपने ही कार्य माया द्वारा संकुचित होकर प्रकृति कहलाती है, जो कि त्रिगुणात्मक होकर जड़भाव को प्राप्त हो जाती है। वह प्रकृति पुनः व्यष्टि और समष्टि भेद से द्विधा विभक्त होती है। समष्टि से जगत् की उत्पत्ति तथा व्यष्टि से जीव का स्वभाव बनती है। ख्याति अर्थात् महत्तत्त्व आदि की प्रक्रिया सांख्य के समान समझें।

यद्यपि शिव से ये सब अभिन्न हैं तथापि शिवसंकल्परूपी माया के कारण भिन्न-सा प्रतीत होते हैं। समस्त संसार एवं योनियों की रचना के बाद स्वयं शिव और शक्ति इसमें प्रवेश करते हैं

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

(तैत्त 2.6)

[शरीरादि का सृष्टि करके, उन सब में वही प्रवेश किया।]

मूलाधार में शक्ति तथा सहस्रार में परमशिव प्रवेश किये। इस प्रकार नित्यअविभक्त शिव-शक्ति का विभक्त होकर स्थिति की प्रतीति को संसार, पुनः इन दोनों की ऐक्यता को मुक्ति मानते हैं।

मूलाधार स्थित शक्ति के दो रूप हैं-पराशक्ति और कुण्डलिनी। प्रथम को वाग्वादिनी तथा विश्वजननी कहा है। दूसरे को स्पन्दकारिणी तथा क्रियाशक्तिरूपा कहा है। इनमें से प्रथम नाभि में अकाररूपा पश्यन्ती है, हृदय में उकाररूपा

मध्यमा, कण्ठ में मकाररूपा वैखरी, आज्ञा में बिन्दुरूपा (अर्धमात्रा) सूक्ष्मा तथा सहस्त्रार में नादरूपा ऐक्या (तुरीया) है। यद्यपि यह पराशक्ति सदा जागृत है कुण्डलिनी के समान सुप्त नहीं तथापि केवल वैखरी पर्यन्त जाग्रत रहती है, तत्पश्चात् विलीन होने से पूर्ण जाग्रत होकर शिव से ऐक्य को प्राप्त नहीं होती है। जब दोनों शक्तियों का शिव से ऐक्यता होती है तब ''सोऽहं'' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, यही मुक्ति है। इसलिये इस दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहते हैं।

卐

22. रसेश्वरदर्शन

इस दर्शन के प्रमुख प्रणेता 'सोमदेव' हैं। यद्यपि इस दर्शन का मूल स्रोत शैवागम ही है तथापि सोमदेव कृत 'रसार्णव', गोविन्दभगवत्पादचार्य (आद्यशंकराचार्य के गुरु) कृत 'रसहृदय', इत्यादि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इस दर्शन के अन्य कुछ आचार्य इस प्रकार हैं – महेश, अनंत, इत्यादि विद्येश्वरों; शुक्राचार्य आदि दैत्य; गोविन्दनायक, चर्वटि; कपिल;व्यालि; कन्दलायन; इत्यादि।

'शरीरं आद्यं खलु धर्मसाधनम्'

(कुमारसंभव 5/33)

धर्म के अनेकों साधनों में से शरीर ही प्रथम है।

इस प्रसिद्ध लोकोक्ति का समर्थन करते हुए इस शैव मत के लोगों का कहना है कि जब तक शरीर नीरोगता एवं स्थिरता से युक्त न हो साधना करना असंभव है, अन्ततः मुक्ति ही असंभव है। शरीर की नीरोगता और स्थिरता का उपाय पारद है। पारद को 'पारा' अथवा 'रस' भी कहते हैं। 'रसार्णव' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि-

'पारदो गदितो यस्मात् पदार्थं साधकोत्तमैः ।
शिवाङ्गात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले ।

तद्देहसारजत्वाच्छुक्रमच्छमभूच्च तत् ॥'

(सदसं पृ. 323)

[साधकश्रेष्ठों के द्वारा पारद को सर्वश्रेष्ठ पदार्थ कहा है क्योंकि शिव के गुप्ताङ्ग से निकलकर धरती पर गिरा वीर्य ही पारद है। उस परमात्मा के शरीर का सार होने से वह शुद्ध एवं पवित्र है।]

'सुप्तोऽयं मत्समो देवि मम प्रत्यङ्गसम्भवः ।
मम देवरसो यस्माद् रसस्तेनायमुच्यते ॥'

(सदसं पृ. 323)

[हे देवि ! जब यह पारद सुप्त अवस्थावाला हो तब यह मेरे समान है। क्योंकि यह मेरे अङ्ग से उत्पन्न है। (देवरस की जगह पर देहरस भी पाठांतर है।) मेरे देव = दिव्यशरीर का रस = सार होने से इसे रस भी कहते हैं।]

'संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः'

(र.हृ. 1.3)

[संसार = पुनर्जन्मादि के, परं = दूसरा, पारं = पार = मोक्ष को देनेवाला होने से इसे पारद कहते हैं।]

इत्यादि अनेकों प्रमाण हैं। इसी प्रकार देवी का रस स्वरूप है अभ्रक। इसके विषय में रसहृदय नामक ग्रन्थ में कहा गया है-

'अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः ।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम् ॥'

(स द सं पृ. 325)

[हे देवि! अभ्रक तुम्हारे शरीर का सार (रेत=शोणित) है और मेरे शरीर का सार (शुक्र=वीर्य) पारद है। इन दोनों का मिलना मृत्यु और दरिद्रता का नाशक है।]

अन्यत्र भगवान् शंकर ने कहा है कि प्राण और पारा-ये दो क्रिया से युक्त हों (क्रियायोग-कर्मयोग), तो स्थिरता आदि फल प्राप्त होते हैं-

'रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः ॥
मूर्च्छितो हरति व्याधीन्, मृतो जीवयति स्वयं ।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसो वायुश्च भैरवि ॥'

(सदसं.पृ. 327)

[हे भैरवि! क्रियाविधि दो प्रकार की है, जिससे शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। वे हैं - पारद और प्राणवायु। मूर्च्छित पारद व्याधियों का नाशक है, मृत पारद स्वयं को जीवित करता है और बद्ध पारद आकाशगमन का सामर्थ्य प्रदाता है]

कच्चे पारद को **सुप्त** ; घनत्व और तरलता रहित कई रंग से युक्त हो तो **मूर्च्छित;** गीला, तरलता, घनता, चमक रहित हो तो **मृत;** क्षयरहित, थोड़ा तरल, चमकीला, स्वच्छ, भारी और शोधन के वक्त फैलनेवाले को **बद्धपारद** कहते हैं। पारे को 18 संस्कारों से शोधन करके पहले लोहे में प्रयोग करके देखें, तत्पश्चात् शरीर में प्रयोग करना चाहिये। वे 18 संस्कार हैं-

'स्वेदनमर्दनमूर्च्छनस्थापनपातननिरोधनियमाश्च ।
दीपनगमनग्रासप्रमाणमथ जारणापिधानम् ॥

(स द सं 9.16)

गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिक्षारणसंराग सारणाश्चैव ।
क्रामणवेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म ॥'

(स द सं. 9.17)

[रस (पारद) के अठारह संस्कार (शुद्ध करने के उपाय) इस प्रकार हैं- 1- स्वेदन (गीलापन निकालना), 2-मर्दन (मसलना व घिसना), 3-मूर्च्छन (घनत्व और तरलता निकालना, 4- स्थापन -(स्थिर आकार का करना) 5-पातन(गिराना), और-निरोधन(धामना) 6-नियमन (सीमित करना), 7- दीपन (जलाना), 8-गमन(चलना अर्थात् उड़ाना), 9-ग्रास प्रमाण (गोली बनाना), 10-जारण (चूर्ण बनाना), 11- पिधान (ढ़क देना), 12- गर्भ द्रुति (आंतरिक - परिवर्तन), 13-बाह्यद्रुति (बाह्य परिवर्तन), 14- क्षारण (भस्म करना), 15-संराग (रंगना), 16- सारण (छिड़कना) और 17- क्रामण (टुकड़े करके) वेधन (चीर करके) 18-(भक्षण करना)।]

इन संस्कारों से संस्कारित पारद और शोधित अभ्रक का मेलन पूर्वक सेवन करने से अजर-अमर शरीर प्राप्त हो सकेगा, जिससे श्रवणमननादि निर्विघ्नता पूर्वक सम्पादन कर प्रारब्ध कर्मानुरूप प्राप्त-अल्पायुकाल में ही मुक्ति हो सकती है, इससे अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इस विषय में प्रमाण है-

'आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणां ।
श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ॥'

(सदसं.पृ. 332)

[सभी विद्याओं का समूह तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल एकमात्र अजर और अमर शरीर को छोड़कर दूसरा क्या हो सकता है?] इत्यादि।

उक्त प्रकार से अजर अमर शरीर से सम्पन्न साधक योग एवं ज्ञानसाधना पूर्वक ब्रह्मपद को इसी जन्म में प्राप्त कर सकते हैं। इस विषय में 'रसार्णव' एवं 'रसहृदय' तथा अन्य अनेकों ग्रन्थों में विस्तार से कथन किया गया है।

23. शाक्तदर्शन

वैदिक सनातनधर्म में पञ्चदेव पूजापद्धति प्रसिद्ध है। वे पञ्चदेव इस प्रकार हैं-शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणपति। एक देव की प्रधानरूप से पूजा की जाती है और शेष की अंग रूप से। अतः पाञ्च सम्प्रदाय अनादि काल से चले आये हैं। यद्यपि कट्टर पंथियों ने इसको बिगाड़ दिया है तथापि साधकभेद से यह व्यवस्था उचित ही है। अब तक कुछ वैष्णव तथा शैव मतों पर विचार किया गया। वर्तमान काल में सौर और गाणपत प्रायः अप्रचलित होने से उन्हें छोड़कर शाक्त मत पर विचार करेंगे। पूर्वोक्ति के अनुसार शक्ति की उपासना में ऋग्वेद, सामवेद आदि प्रमाण हैं-

'धरणीधात्री स्वर्गेशी'

(ऋग्वेद)

[पृथ्वीधारणकरनेवाली और स्वर्ग पर शासनकरनेवाली]

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं'

(के. उ 3/12)

[उस इन्द्र ने उसी आकाश में (जहाँ यक्ष अदृश्य हो गया था) बहुत सुन्दर, स्वर्ण के सदृश चमकीली उमा नाम से प्रसिद्ध देवी को देखा।]

इत्यादि श्रुति तथा अनेकों पुराणों में शक्ति, देवी, चण्डी, चामुण्डा, दुर्गा, महामाया इत्यादि अनेकों नामों से वर्णन किया गया है। तन्त्रशास्त्रों में शक्ति की उपासना की विभिन्न प्रक्रियाओं पर पर्याप्त विचार किया गया है। यद्यपि 'महानिर्वाण तन्त्र' में कहा गया है कि-

'उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः ।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिः पूजाऽधमाऽधमा ॥'

(मनित 14/1222)

[ब्रह्माकारवृत्ति बने रहना सर्वश्रेष्ठ स्थिति है; ध्यानाकारवृत्ति होना मध्यम कोटि के साधक का स्थिति है; स्तोत्रपाठ, जप इत्यादि करता हुआ साधक की स्थिति अधमं कोटि की है; और बाह्यपूजा करनेवाला साधक अधम से अधम (निकृष्टतम) स्थितिवाला है।]

यद्यपि उपासना आध्यात्मिक सीढ़ियों की प्रथम सीढ़ी है। तथापि सबको उत्तमभाव की प्राप्ति जन्म से ही नहीं हो सकती। अतः साधकभेद से सभी प्रकार के साधनों की आवश्यकता है। शंकराचार्य ने भी शक्ति उपासना के समर्थन में अनेकों ग्रन्थ व स्तोत्र लिखे हैं। जैसे कि 'सौन्दर्यलहरी' में -

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥'

(सौल. श्लो.1)

[यदि शिव कोई कार्य करने में समर्थ होता है तो वह शक्ति के योग से है। यदि शक्ति से युक्त न हो तो, शिव स्पंदन (थोड़ी क्रिया-हिलना आदि) करने में भी कुशल-समर्थ नहीं हो सकते।] इत्यादि।

ललितासहस्त्रनाम के अन्त में कहा है-

'शिवशक्त्यैक्यरूपिणी'

(लसनाश्लो.182)

[शिव और शक्ति एक रूप है। अर्थात् किसी भी प्रकार का भेद नहीं है।]

इसलिये ब्रह्मानुभूति के आवश्यक साधनकोटि के अन्तर्गत उपासना में शक्ति-उपासना का महत्त्वपूर्णस्थान है।

शाक्तों में तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं-कौल, समय और मिश्र जिन्हें वाम, दक्षिण और मध्यमार्गी कहा जाता है। सौन्दर्यलहरी के व्याख्याकार लक्ष्मीधर, ललितासहस्त्रनाम के व्याख्याकार भास्करराय आदि इन मतों के प्रमुख आचार्य हैं, यद्यपि परम आचार्य तो साक्षात् शिव और शक्ति स्वयं हैं। कुल=शक्ति, अकुल=शिव, अतः इनके

उपासक कौल तथा आकुल। शिव और शक्ति के अभेद के कारण शैव तथा शाक्त दोनों मतों में तत्त्वविचारों में कोई विशेष भेद नहीं हैं। 36 तत्त्व श्रीविद्यामन्त्र के 36 वर्णस्वरूप हैं। यद्यपि कुछ लोग त्वचादि 7 धातु, 5 प्राण, तीन गुणों को जोड़कर इक्यावन तत्त्व मानते हैं। तथापि वामकेश्वरादि अनेकों तन्त्र ग्रन्थों में 36 तत्त्व ही माने गये हैं।

शैव-शाक्त मतों में साधनागत भेद अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये उसकी चर्चा करेंगे। शक्ति प्रत्येक शरीर में व्यष्टिरूप से कुण्डलिनी नाम से रहती है, समष्टिरूप से जगत् में विश्वमोहिनी नाम से रहती है। इन दोनों स्वरूपों से परे, जो इन दोनों की कल्पना का अधिष्ठान है वही पराशक्ति है, शिव से अभिन्न है। वही ब्रह्म, आत्मा, इत्यादि शब्दबोध्य है। उस स्वरूप को प्राप्त करना मुक्ति है। इसके लिये गुरुमुख से विधि समझकर प्राणायाम, जप, ध्यानादि द्वारा मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर षट्चक्रभेदन करके सहस्त्रार में स्थित शिव के साथ सामरस्य स्थापित करके ज्ञान प्रकाश पाकर साधक मुक्त होता है।

शैव और शाक्त में अवान्तर अनेक भेद हैं। ब्रह्म सूत्र पर 'शाक्तभाष्य' भी है। अत: यह केवल तान्त्रिक या यौगिक मत नहीं है अपितु वेदान्त भी है। जैसे शैवाद्वैत है वैसे ही शाक्ताद्वैत मत की भी स्थापना की गई है।

卐

24. पाणिनीयदर्शन

शब्दब्रह्म सिद्धि द्वारा शब्द के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति से मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया का उल्लेख जो पाणिनि सूत्रों में है, जिनकी भाष्यकार ने विभिन्न स्थलों में व्याख्या की है, उनका संग्रह भर्तृहरिमहाराज ने अपने 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में किया है।

वाक्यपदीय ग्रन्थ में तीन काण्ड हैं-1. पद काण्ड अथवा ब्रह्मकाण्ड [156 कारिका] 2. वाक्यकाण्ड [486] और प्रकीर्णकाण्ड [1218]। कुल 1860 कारिकायें हैं। तीसरे काण्ड में 14 समुद्देश हैं, जिनमें क्रमशः -जाति, द्रव्य, सम्बन्ध, द्रव्यलक्ष, गुण, दिक्, साधन, क्रिया, काल, पुरुष, संख्या, उपग्रह, लिङ्ग और वृत्ति के वास्तविक स्वरूप को ब्रह्म सिद्ध किया गया है। इसी पर आधारित होकर अब विचार करेंगे।

'व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते=प्रकृतिप्रत्ययादिविभागान्कल्प्यन्तेऽनेनेति व्याकरणं॥।'

[जिसके द्वारा प्रकृति-प्रत्यय के विभाग पूर्वक कल्पना अर्थात् व्युत्पत्ति से शब्दार्थ निर्णय किया जाता है, उसे व्याकरण कहते हैं।]

इस उक्ति के अनुसार शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग की कल्पना पूर्वक अर्थ निर्णय करने को व्याकरण कहते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसादर्शन में लोकवेदाधिकरण न्याय के अनुसार-

'लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः'

(मी. श्लो1.15)

[लोक-सामान्य व्यवहार को जाननेवाला अनपढ़ भी व्यवहार से ही शब्दगत शक्ति को ग्रहण करके शब्दों को जानता है, उन्हीं अर्थवाले शब्दों से वेद में मंत्रों का अर्थज्ञान होता है।]

इस व्याकरणशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं तथापि -

'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्'

[विवाह के पश्चात आहवनीय आदि विशेष वैदिक अग्नि को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति यदि अशुद्ध एवं गलत शब्द का प्रयोग करता है तो उसे प्रायश्चित के लिए सारस्वत इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए।]

इस वेदविधि के अनुसार प्रत्येक साधुशब्दों और अपशब्दों का पृथक्-पृथक् विवेक करने के लिये तथा कालक्रमेण भाषागत अपभ्रंश शब्दों से बचने के लिये व्याकरण आवश्यक है। इसलिये व्याकरण को वेद का मुखरूपी प्रधान अङ्ग माना गया है। अत्यन्त शुद्धोच्चारण पद्धति के साथ-साथ साधु शब्दोच्चारण के माध्यम से शब्द के मूलस्वरूप शब्दब्रह्म की अनुभूति करने में व्याकरण अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक विद्या चार उपायों से उपयोगी बनती है- अध्ययन, सम्यक्बोध, आचरण और प्रचारण। किन्तु संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त सकल शब्दों को संग्रह कर पाठ-करके जानना संभव न होने से **'उत्सर्गापवाद'** पद्धति को अपनाकर पाणिनि जी ने लगभग 4000 सूत्रों से सकल शब्दों को प्रकृतिप्रत्ययादिविभागपूर्वक संग्रह किया है।

अतः मोक्ष ही केवल फल नहीं अपितु अन्य दृष्ट फल भी हैं। जैसे कि-

'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः'

(पामभ 1.1.1)

रक्षा-वेदों की रक्षा। **ऊह**-वैदिक शब्दों का-देवता, लिङ्ग, विभक्ति, वचन आदि के अनुसार परिवर्तन करना। **आगम**-यह आगम प्रमाण है-

'निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः'

(सदसं पृ.496)

[दृष्टफल न होने पर भी अदृष्टफल की भी कामना न करते हुए धर्म और छह अंगों (व्याकरणादि) से युक्त वेद का अध्ययन करना चाहिये।]

लघु-व्यक्ति को शब्दों का ज्ञान कराने के लिए अत्यन्त छोटा एवं सरल उपाय है। **असंदेह** -शब्दार्थ संदेह निवारण का सरल उपाय व्याकरण है।

व्याकरण द्वारा प्राप्त साधुशब्दज्ञान से स्वर्गादि प्राप्ति भी होती है। इस विषय में कात्यायनोक्ति है-

'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेद शब्देनेति ।'

(सदस.पृ 502)

[जैसे शास्त्र में विहित कर्मानुष्ठान से अभ्युदय (इसलोक एवं परलोक सुखादि) फल प्राप्त होता है, ठीक उसके बराबर फल शब्दशास्त्र (व्याकरण के अध्ययन) से भी प्राप्त होता है-ऐसा जानो।]

श्रुति प्रमाण भी है-

'चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥'

(ऋ. 4.58.3), (महाना 10.1)

[अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-ये 4 प्रकार के पद व्याकरण के सींग हैं; तीन काल तीन पाद हैं; नित्य और कार्यरूपी दो शब्द दो सिर है; 7 विभक्तियाँ 7 हाथ हैं; छाती, कण्ठ और सिर बन्धे हुए हैं; ज्ञानपूर्वकानुष्ठान से फल देनेवाला होने से सांड के समान है। इस प्रकार शब्दरूपी महादेव ने जीव में प्रवेश किया है।]

समस्त् जगत् का कारण शब्दब्रह्म ही है-

'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥'

(वा.प.1.1.10)

[शब्दतत्त्व साक्षात् ब्रह्म है, आदि और अन्त रहित तथा विकारशून्य है। अतः वही संसार की विभिन्न वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होता है तथा उसी से इस संसार की सारी प्रक्रियाएँ (व्यवहार) होती हैं।]

स्फोटात्मक नित्यशब्द मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं।

'स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैः पदेन वा इति स्फोटः ।'

[वर्णों के द्वारा अथवा पद के द्वारा जो स्फुटित या व्यंजित हो वह स्फोट है।]

अर्थात् वर्णादि से अभिव्यंग्य शक्ति को स्फोट कहते हैं। अथवा

'स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटः'

[जिससे अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है वह अर्थबोधिका शक्तिविशेष स्फोट है।]

इसलिये वस्तुबोधक निरवयव नित्य शब्दतत्त्व को स्फोट कहते हैं। परमतत्त्व

परिपूर्ण ब्रह्म के पूर्णज्ञानस्वरूप से अभिन्न सत्ता ही स्फोट है, जो कि समस्त शब्दों का वास्तविक अर्थ है। शब्दगत भेद-वर्ण तथा वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त जात्यादि उपाधि के कारण हैं। इसलिये भर्तृहरि कहते हैं-

'सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते ।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते ॥'

(वा.प.3,1.2)

[जिस प्रकार सत्य वस्तु का निश्चय उसी के आकार से युक्त असत्य वस्तुओं के द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार असत्य (द्रव्यादि) उपाधियों के द्वारा शब्द भी सत्य का ही निर्देश करते हैं।]

अतः पाणिनि जी जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानते हैं। इसमें ये सूत्र प्रमाण हैं-

'जात्याख्यायां.....'(1.2.58) और **'सरूपाणामेकशेष.........'**(1.2.64) हैं। इसलिये वेदान्तोक्त अद्वैतब्रह्म ही शब्दब्रह्म है-ऐसा मानते हुए वाक्यपदीयकार ने कहा है-

'यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितं ।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥'

(वाप. 3.3.72)

[त्रय्यन्तवेदिनः = वेदान्त को जाननेवालों का कहना है कि जहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (वस्तु) और दर्शन (क्रिया)-इन तीनों की कल्पना नहीं रहती है, उसी आत्मारूपी एकात्मक अर्थ को सत्य कहते हैं।]

साधुशब्दोच्चारण से केवल स्वर्गादि अभ्युदय ही नहीं बल्कि इस शब्दब्रह्मज्ञान से मोक्ष भी प्राप्त होता है।

'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'

(महा.शान्ति 270)

[जो शब्दब्रह्म में निष्णात (प्रवीण) है, निश्चितरूप से वह परब्रह्म (मोक्ष) को प्राप्त करता है।]

और व्याकरण मोक्ष प्राप्ति में राजमार्ग के समान है- ऐसा कहा गया है।

卐

25. महाभारतदर्शन

महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। परम ऋषि वेदव्यासजी द्वारा विरचित है। इसको ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत कुछ लोग लेते हैं। फिर भी यह एक स्वतन्त्रदर्शन के रूप में लिया जा सकता है। यद्यपि सांख्य और योगमत के समान तत्त्व एवं साधन को महाभारत में स्वीकार किया गया है, तथापि कुछ विशेषतायें भी हैं जिनका विचार प्रकट किया जा रहा है।

यह समस्त जगत् पुरुष और प्रकृतिरूपी द्वैतात्मक है। तन्मात्राओं से निर्मित इस सूक्ष्म शरीर में सोता हुआ चेतन परतत्त्व ही पुरुष है। गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। सत्त्व, रजः, तमः ये तीन गुण हैं। गुणावेश पुरुष का बन्धन है और गुणविवेकबुद्धि से पुरुष को मुक्त कहा जाता है। गुणों के स्वभाव के वजह से आत्मा-उत्तम, मध्यम और अधम-तीन प्रकार की है। उत्तमपुरुष सात्त्विक, जलप्रधान, कफप्रकृतिक और शुक्ल होता है। मध्यमपुरुष राजस, अग्निप्रधान, पित्तप्रकृतिक और रक्त होता है। अधमपुरुष तामस, वायुप्रधान, वातप्रकृतिक और काला होता है। महाभारत में विस्तृतरूप से उक्त तीनों प्रकार के आत्माओं का विचार किया है।

प्रकृति के स्वरूप तीन गुणों से अभिन्न होते हुए स्थित गुणों के कार्य पञ्चभूतों का विवेचन इस प्रकार किया है। प्रत्येक भूततत्त्व ने पञ्चधातु के रूप

से समस्त जङ्गमों के शरीर के निर्माण में अपना अपना अंश समर्पण किया है। पृथिवी से त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा और स्नायु; जल से श्लेष्मा, पित्त, पसीना, वसा और खून, तेज (अग्नि) से गरमी, चक्षु, क्रोध, तेज और गलाना (बुढापा का कारण); वायु से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान; आकाश से श्रोत्र, घ्राण, मुख, हृदय और कोष्ठ उत्पन्न होते हैं।

पृथिवी के गुण गन्ध 9 प्रकार के हैं-इष्ट, अनिष्ट, सुगन्ध, मधुर, कटु, निर्हारी, स्निग्ध, रूक्ष, विशद। जल के गुण रस 6 प्रकार के हैं-मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल, कटु। तेज के गुण रूप 12 प्रकार के हैं-ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुरस्र, वृत्त, शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरूण, हरित। वायु के गुण स्पर्श 12 प्रकार के हैं-उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, मृदु, दारुण। आकाश के गुण शब्द 7 प्रकार के हैं-षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषध।

भगवान् विष्णु अर्थात् शेषशायी नारायण ही परमात्मा हैं, वे ही परमतत्त्व हैं, परमपुरुष हैं। वे अपने आपको चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट कर (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध) इस जगत् का निर्माण करते हैं और इसमें जीव को स्वकर्मानुसार चराचर के रूप में जन्म देते हैं। उनमें भी मनुष्यों को चार वर्णों में विभक्त कर समाज की व्यवस्था को दृढ़ करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इनके जीवन यापन करने के तौर-तरीके पर व्यवस्था देते हुए वे ही वेदादि धर्म-शास्त्रों की स्थापना करते हैं तथा जब-जब अव्यवस्था फैले तब तब अवतारों के द्वारा धर्म की रक्षा करते हैं। ब्राह्मणादि प्रत्येक वर्ण में जन्म लेने मात्र से वे विशुद्ध ब्राह्मणादि नहीं माने जायेगें, अपितु गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार प्रत्येक वर्ण पुनः चारवर्णवाला होता है। जैसा कि ब्राह्मणवर्ण में जन्म लेकर ब्राह्मण के लिए विहित गुण-कर्म आचरण करनेवाला ब्राह्मण-ब्राह्मण कहा जायेगा, ब्राह्मणवर्ण में जन्म लेकर क्षत्रिय के लिये विहित गुण-कर्म आचरण करने वाला क्षत्रिय-ब्राह्मण कहा जायेगा। इसी प्रकार वैश्य-ब्राह्मण, शूद्र-ब्राह्मण; ब्राह्मण-क्षत्रिय, क्षत्रिय-क्षत्रिय, वैश्य-क्षत्रिय, शूद्र-क्षत्रिय; ब्राह्मण वैश्य, क्षत्रिय-वैश्य, वैश्य-वैश्य, शूद्र-वैश्य; ब्राह्मणशूद्र, क्षत्रियशूद्र, वैश्यशूद्र और शूद्र-शूद्र। भगवान् विष्णु अपनी माया से जीवों को बन्धन और कृपा से मोक्ष देते हैं। कालक्रमेण स्वकर्म आचरण करते हुए तमः, रजः, सत्त्व मार्गों द्वारा सभी अन्त में विष्णु को ही प्राप्त करते हैं। भगवान् विष्णु अर्थात्, श्रीमन्नारायण स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेशात्मक त्रिमूर्ति धारण कर सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय रूपी लीला रचते हैं। दैवी स्वभाववालों को धर्म एवं आसुरी

स्वभाववालों को अधर्म का विधान किया है। जो जैसा जन्म लिया है उसी के अनुसार उसे अपना कर्म (धर्म अथवा अधर्म) का पालन करना चाहिये। ऋग्, यजु: और सामवेद में विहित धर्म सात्त्विकपुरूषों के विषय हैं तथा अथर्ववेद में विहित अभिचारादि अधर्मात्मक कर्म राजस एवं तामस पुरुषों के लिये हैं। विष्णुप्राप्ति पर्यन्त यागादि कर्म निरन्तर करते रहना चाहिये। स्वधर्मपालन करने वालों पर कृपा करके भगवान् विष्णु मुक्ति देते हैं। रागादि के वजह से परधर्मपालन करने वालों को संसार मिलता है। यही महाभारत में कहा हुआ सिद्धान्त है।

卐

26. शंकरपूर्ववेदान्तदर्शन

वेदों की सभी शाखाओं में जो अन्तिम भाग हैं उन-**उपनिषदों** को **'वेदान्त श्रुतिप्रस्थान'** कहते हैं। श्रुतिवाक्यों के तात्पर्यनिर्णय के लिये व्यासकृत **'ब्रह्मसूत्र'** को **वेदान्तदर्शन प्रस्थान** कहते हैं। व्यासकृत महाभारत में गूंथी गयी **'भगवद्गीता'** को **वेदान्तस्मृति प्रस्थान** कहते हैं। इस प्रकार वेदान्तश्रुति-उपनिषद्, वेदान्तदर्शन-ब्रह्मसूत्र और वेदान्तस्मृति-गीता, इन तीनों को मिलाकर **'प्रस्थानत्रयी'** कहा जाता है। इस प्रस्थानत्रयी पर अनेकों ने भाष्यादि व्याख्यायें लिखी हैं। उन समस्त व्याख्याकारों को तीन भागों में विभक्त कर यहाँ विचार करेंगे। 1. शंकरपूर्ववेदान्त 2. शांकर वेदान्त और 3. शांकरोत्तरवेदान्त।

आद्यशंकराचार्यजी के पूर्वकाल में वेदान्त पर व्याख्या लिखनेवालों में से प्रसिद्ध हैं आचार्य आत्रेय, आश्मरथ्य, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, बादरायण, बादरि, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमिश्र, भर्तृहरि, उपवर्षाचार्य, बोधायन, ब्रह्मानन्दी, ब्रह्मदत्त, द्रविड़ाचार्य, सुन्दरपाण्ड्य, गौडपादाचार्य इत्यादि। कुछ ने भाष्य, कुछ लोगों ने वृत्ति, अन्यों ने व्याख्यापरक लिखे हैं तो गौड़पादजी ने श्रुति पर आधारित स्वतन्त्र 'कारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनमें से किसी ने भेदाभेदवाद, किसी ने ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपांदन किया है। उक्त सभी

व्याख्याकारों की पूर्ण रचनायें यद्यपि नहीं मिल रही हैं तथापि गौड़पादजी की समस्त कारिकायें उपलब्ध हैं। अन्यों के विचारों का खण्डन करते हुए आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में उनका स्मरण किया है। अतः उन सबके विचार पूर्णतया अज्ञात होने के कारण उन पर कुछ न कहते हुए हम शांकर पूर्ववेदान्त के अन्तर्गत केवल गौड़पादजी के विचारों का सार प्रकट करेंगे।

आचार्य गौड़पादजी ने अजातवाद का प्रतिपादन करते हुए केवलाद्वैतवाद को सिद्ध किया है। जगत् की उत्पत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं को खण्डित करते हुए अन्त में कहते हैं-

'देवस्यैष स्वभावोऽयं आप्तकामस्य का स्पृहा'

(गौ. का. 1.9)

[देव = परमात्मा = ब्रह्म की, यह स्वभाव = माया ही है। पूर्णकाम को क्या अभिलाषा हो सकती है।] यदि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ फिर भी जो दिखाई दे रहा है और सबके अनुभव का विषय हो रहा है-वह क्या है? इस पर जवाब दिया है-

'मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः'

(गौ. का. 1.7)

[यह द्वैत माया मात्र ही है क्योंकि परमार्थतः -वास्तव में अद्वैत ही है।] और स्पष्ट कहते हैं-

'स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं तथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥'

(गौ.का. 2.31)

[जैसे (न होते हुए भी अविवेकियों के द्वारा) स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसे गंधर्वनगर देखते -देखते अकस्मात् विलीन होता देखा गया है, वैसे ही विद्वान विवेकी पुरुषों ने श्रुतियों में इस जगत् को देखा है।]

यदि द्वैतप्रपञ्च ऐसा है तो फिर वास्तविकता क्या है? इस पर कहते हैं-

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

(गौ.का. 2.32)

[न प्रलय है, न उत्पत्ति है और न तो संसारी बद्धजीव है। न मोक्ष का साधन ही है, न मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) है, न बंधन से मुक्त ही है। बस! यही परमार्थसत्य है।]

छान्दोग्य आदि उपनिषदों में दृष्टान्तों से सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में क्यों समझाया गया? उत्तर है-

'उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन'

(गौ.का. 3.15)

[सृष्टि का कथन केवल ब्रह्मात्मैक्यत्व में बुद्धि के प्रवेश के लिये उपाय मात्र है। उससे किसी प्रकार का भेद सिद्ध नहीं होता।]

इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है-

'नेह नानास्ति किञ्चन ।'

(बृउ.4.14.9, कठ.2.1.1)

[यहाँ कुछ भी भेद नहीं है।]

जिसके लिये यह विकारशील जगत स्थायी नहीं रहता, कार्यकारणभाव की व्यवस्था असंम्भव है और तर्क से भी सिद्ध नहीं हो पाता है इसलिये इसे मिथ्या मानना पड़ेगा। यदि मिथ्या है तो आकाशकुसुमादि के समान दिखाई भी नहीं देना चाहिये, इस आशंका का जवाब देते हुए कहा है कि यह सब स्वयं की कल्पना है-

'मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयं ।'

(गौ.का. 2.19)

[उस आत्मा की माया ही है, जिससे वह स्वयं भी मोहित हुए के समान मोह ग्रस्त हो रहा है।]

तब प्रश्न उठता है कि ऐसी कल्पना क्यों की? तो जवाब है-जिसे दीखता है उसके लिए मात्र है; वास्तव में कल्पना भी नहीं है।

'तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।'
तस्य पश्यन्ति ये जाति खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥'

(गौ.का. 4.28)

[जिस प्रकार चित्त से दृश्य उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। जो चित्त का जन्म देखते हैं, वे निश्चय ही आकाश में पक्षी आदि के चरण चिन्ह देखते है।]

वास्तविकता तो यह है कि उसे अज भी कहना उचित नहीं क्योंकि आत्मतत्त्व के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं-

'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'

(तैत्र. 2.9)

[आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जिससे मन सहित वाणी बिना प्राप्त किये लौट जाती है] और

'अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।'

(गौ.का. 4.74)

[शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा को अज कहा जाता है। परमार्थदृष्टि से आत्मा को अज भी नहीं कहा जा सकता।]

इस सिद्धान्त को अस्पर्शयोग, अमनीभाव अथवा वैशारद्य शब्दों से भी कारिका में कहा है। इस वास्तविकता की अनुभूति के विषय में कहा है-

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥'

(गौ.का. 1.16)

[जब अनादि माया से सोया हुआ यह जीव तत्त्वबोध के द्वारा भली प्रकार से जग जाता है तभी उसे जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।]

ऐसी अनुभूति कब, कैसे और किस प्रकार के साधक को हो सकती है?-

'ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः'

(गौ.का. 1.29)

[जिसने ओङ्कार जान लिया है वही (परमार्थ तत्त्व का मनन कर जाननेवाला होने से) मुनि है।]

'वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥'

(गौ.का. 2.35)

[जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष मिट गये हैं, ऐसे वेद के पारगामी मननशील विवेकियों द्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चरहित अद्वैत देखा गया है।]

इसलिये राग आदि से रहित होकर ओङ्कार के आश्रित व्यक्ति द्वारा श्रुति वाक्यों के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा आत्मा का अनुभव किया जा सकता है।

卐

27. शांकरवेदान्त

जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य ने वेदान्त श्रुति-उपनिषद्, वेदान्त स्मृति-गीता और वेदान्त दर्शन-ब्रह्मसूत्र पर संक्षिप्त, अत्यन्त गम्भीर भाष्य लिखकर केवलाद्वैत की यथाश्रुति-स्थापना की। इस ग्रन्थ के आरम्भ में उपनिषद् और गीता पर विचार किया जा चुका है, इसलिये अब मुख्यरूप से वेदान्त दर्शन-ब्रह्मसूत्र पर आधारित विचार करेंगे।

व्यासकृत ब्रह्मसूत्रों को 4 अध्यायों में विभक्त कर प्रत्येक अध्याय में चार पादों की रचना की गयी है। एक विहंगम दृष्टि से-प्रथमाध्याय में वेदान्तश्रुति तथा वेदान्तस्मृति के वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य निर्णय करने के कारण इसे समन्वय-अध्याय कहा गया है। द्वितीय-अविरोधाध्याय में सांख्यादि तार्किकों के विरोध का परिहार किया गया है। तीसरे साधनाध्याय में ब्रह्मविद्या के साधनों पर विचार किया है। चौथे फलाध्याय में विद्या के फल की चर्चा की गई है।

वेदान्तदर्शन में छः प्रकार के लिङ्गों (साधनों) से वाक्यार्थ निर्णय करने की प्रक्रिया अपनाकर अद्वैत को सिद्ध किया गया है। वे हैं-

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।'

(स.द.सं.16/3)

[पूर्वाचार्यों द्वारा परंपरया प्राप्त छः लिंग इस प्रकार हैं- 1-**उपक्रम** (प्रकरण व ग्रन्थ के विषय का आरंभ में उल्लेख करना) और **उपसंहार** (उसी विषय का निर्णयसहित अंत में उल्लेख करना), 2-**अभ्यास** (प्रकरण में विषय का प्रतिपादन बार-बार करना), 3-**अपूर्वता** (प्रतिपाद्य विषय किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञात न होना) 4-**फल** (प्रकरण का प्रयोजन), 5-**अर्थवाद** (विषय की प्रशंसा करना) और 6-**उपपत्ति** (विषय को सिद्ध करनेवाली युक्ति)। इन छः साधनों से तात्पर्य का निर्णय किया जाता है।]

निष्काम कर्मयोग से शुद्धान्तःकरण, उपासना द्वारा वासनाजन्य विक्षेपशून्य तथा सत्संगजन्य मोहबन्धन (धर्मगतमोहमात्रं न स्वरूपगतमोहः)-रहित व्यक्ति जब साधनचतुष्टय-विवेक; वैराग्य; षट्सम्पत्ति-शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान, श्रद्धा; और मुमुक्षुत्व से सम्पन्न होकर श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ आचार्य द्वारा इन उक्त छः साधनों (उपक्रमादि) से श्रुति के निश्चितार्थ को श्रवण करके मननादि द्वारा स्वरूपानुभूति करता है, तब मुक्त होता है।

संसार भर में अपने इन्द्रियों के अनुभव के जो विषय और अविषय हैं उन सबकी प्रमाणों से नित्यता और अनित्यता का विचारपूर्वक निर्णय **विवेक** है। दृष्टादृष्ट समस्त पदार्थों से वितृष्णता **वैराग्य** है। अन्तःकरण का निग्रह **शम** है। ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह **दमन** है। कर्मेन्द्रियों का निग्रह **विरति** है। शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करना **तितिक्षा**। श्रुति स्मृति गुरुवचनों में विश्वास रखना **श्रद्धा**। चित्त की एकाग्रता **समाधान** है। मोक्ष की तीव्र इच्छा **मुमुक्षा**। ये **साधनचतुष्टय** हैं।

कोई भी चर्चा हो वह किसी न किसी विषय से आरम्भ की जाती है, इसे **उपक्रम** कहते हैं। उसी विषय में बातों को समेट कर समाप्त करना **उपसंहार** है। प्रतिपाद्य मुख्य विषय को बार-बार विभिन्न प्रकार से समझाते हुए कथन करना **अभ्यास** है। प्रतिपाद्य मुख्य विषय की विशेषताओं का कथन करना **अपूर्वता** है। परम अभीष्ट निःश्रेयस निरतिशय प्रयोजन का कथन **फल** है। प्रतिपाद्य विषय की स्तुति और उसके विरोधी की निन्दा **अर्थवाद** है। प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि में युक्ति, दृष्टान्तादि बताना **उपपत्ति** है। ये ही **षड्लिङ्ग** हैं।

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य सद्गुरु के मुख से उक्त षड्लिङ्ग से युक्त श्रुतिस्मृत्यादि के तत्त्वार्थ को साधनचतुष्टय से सम्पन्न साधक द्वारा सुनना **श्रवण** है। श्रुतपदार्थों को युक्ति से दृढ़ कर लेना **मनन** है। समस्त द्वैतविषयों से रहित केवल जीवब्रह्मैक्याकार वृत्ति का साक्षीभाव में रहना **निदिध्यासन** है। ये ही मुक्ति के

मुख्यसाधन हैं और शेष गौणसाधन हैं।

अद्वैतब्रह्म ज्ञानस्वरूप है अर्थात् स्वरूप-ज्ञान है, वह निर्गुण निराकार और निर्विशेष है। लेकिन जिन्हें इस स्वरूप का अनुभव नहीं हो रहा है अपितु द्वैत प्रपञ्च दिखाई दे रहा है उनके लिये द्वैतभ्रान्ति का कारण अविद्या की निवृत्ति हेतु यह वेदान्त की प्रक्रिया कही गयी है। मूलाविद्या (माया) से उपहित ब्रह्म को सगुण, सविशेष, साकार, अपरब्रह्म, ईश्वर आदि शब्दों से कहते हैं। यह समष्टि स्वरूप है। व्यष्टि रूप से वह जीव है जो कि अविद्या एवं उसका कार्य अन्त:करण से उपहित है। ब्रह्म में ही माया से विवर्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत का कार्य यह अन्त:करणादि एवं पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत का कार्य यह समस्त जगत् है। जीव के वास्तविक अविद्यावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप को **साक्षी** कहते हैं। यह जीव अविद्या उपाधि से युक्त सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी होकर **प्राज्ञ** कहा जाता है। वही जब अन्त:करण मात्र उपाधि से युक्त होकर स्वप्न अवस्था का अभिमानी हो तो **तैजस** और अन्त:करण सहित बाह्येन्द्रियों से युक्त होकर जाग्रत् अवस्था का अभिमानी हो तो **विश्व** कहा जाता है। इस प्रकार व्यष्टि के समान समष्टि में भी स्थूल जगत् के अभिमानी को **विराट्**, सूक्ष्म अर्थात् समस्त बुद्धियों के अभिमानी को **अन्तर्यामी** अथवा **हिरण्यगर्भ** अथवा **सूत्रात्मा** और कारण माया के अभिमानी को **ईश्वर** कहते हैं। इस समष्टि व्यष्टि के आधारभूत उपाधियों से रहित जीव के साक्षीभाव और ईश्वर के निर्विशेष भाव की ऐक्यता पूर्वक अनुभूति को ही **'तत्त्वमसि'** महावाक्य द्वारा प्रतिपादन किया गया है। अत: माया अथवा अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है।

यह जीवभावादि समस्त अनिर्वचनीय जगत् आत्मा का ही विवर्त है। अपने रूप का परित्याग किये बिना दूसरे रूप से दिखाई देना (अर्थात् अनुभव होना) **विवर्त** है। यह सत्य और मिथ्या तत्त्वों के तादात्म्य से हुआ है। इसे ही **अवभास** अथवा **अध्यास** कहते हैं। यह अध्यास प्रत्यक्ष पदार्थों में, साक्षि वेद्यवस्तु में और स्वयंप्रकाश ब्रह्म में ही होता है। अत: इस अध्यास के दो भेद माने गये हैं-**अर्थ** और **ज्ञान**, जैसा कि कहा है-

'प्रमाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परात्मता ।
तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभि: ॥'

(स.द.सं 16.10)

[प्रमाण (नेत्रादि), दोष (दूरत्वादि) और संस्कार (रजतादि के पूर्वानुभव से

अन्त:करण में उत्पन्न)-इन तीनों से उत्पन्न होनेवाली, एक वस्तु की जो दूसरे रूप में प्रतीति है; वह तथा उसका ज्ञान-ये दोनों ही अध्यास हैं। यह विद्धानों को अभिमत है।]

इन्द्रियाँ, दोष और संस्कार की वजह से एक वस्तु को दूसरे रूप में देखना और उसका ज्ञान होना ये दोनों अध्यास हैं। अर्थाध्यास पुन: छ: प्रकार का है-धर्म, धर्मसहितधर्मी, संबंध, सम्बन्ध सहितसम्बन्धी, अन्यतर और अन्योन्य। क्रमश: इनके दृष्टान्त हैं-देह के गौरत्वादि तथा इन्द्रियों के बधिरत्वादि, कर्तृत्वादि विशिष्टान्त:करणरूपधर्मी, शरीरादि में आत्मा का तादात्म्यसंबंध, तादात्म्यसम्बन्धसहितशरीरादि अनात्म पदार्थों के स्वरूप का अध्यास है-ये 5 आत्मा में; तथा अंतिम अन्योन्याध्यास- तप्तलोहे के समान आत्मानात्मा का परस्पर अध्यास। दूसरे प्रकार से अध्यास के दो भेद किये जाते हैं-स्वरूपाध्यास और सम्बन्धाध्यास। पुन: अध्यास दो भेद से समझा जाता हैं-निरुपाधिक और सोपाधिक नाम से-

'दोषेण कर्मणा वाऽपि क्षोभिताज्ञानसम्भवः ।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः ॥'

(स.द.सं 16.11)

'उपाधिसंनिधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितं ।
उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमं ॥'

(स.द.सं 16.12)

[दोष से या कर्म से संचालित अविद्या (अज्ञान) से जो उत्पन्न होता है तथा तत्त्वज्ञान का विरोधी होता है वह भ्रम निरुपाधिक है, जैसे आत्मा पर अहंकार का अध्यास। उपाधि के सामीप्य से जब अविद्या से क्षोभ (संचालन व क्रिया) उत्पन्न होता है तब उस क्षुब्ध अविद्या से उत्पन्न भ्रम सोपाधिक है, जो कि उपाधि के नाश से स्वयं भी नष्ट हो जाता है (जैसे एकात्मक ब्रह्म पर जीवेश्वर का भ्रम)।]

तत्त्वज्ञान के विरोधी और दोष अथवा अज्ञान से संचालित अविद्या से आत्मा में अहंकारादि के अध्यास को निरुपाधिक कहते हैं। उपाधि के सामीप्य से संचालित अविद्या द्वारा उत्पन्न भ्रम, जैसे कि-आत्मा में जीव, ईश्वरादि भेद ज्ञान को सोपाधिक कहते हैं।

अध्यास के तीन कारण मानते हैं-धर्मी का सामान्यज्ञान, त्रिविध दोष (प्रमाण, प्रमेय, प्रमातृगत) और आरोप्य सजातीय वस्तु के संस्कार। अध्यास को समझाने

के लिए वेदान्त में प्रयुक्त मुख्य छः दृष्टान्त हैं-प्रतिबिम्ब, स्वप्न, मायावी की माया, गन्धर्वनगर, शुक्तिरजत एवं मनोराज्य। अध्यास से पञ्चविध मुख्य भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिनकी निवृत्ति पाञ्च दृष्टांतों के विवेचन से की जा सकती है। उन भ्रान्तियों और दृष्टान्तों का एक श्लोक में इस प्रकार संग्रह है-

भेद-कर्तृत्व-संसर्ग-विकृति, विश्वसत्यता ।
विभ्रान्तयो निराकार्या दृष्टान्तैः पञ्चभिः क्रमात् ॥
बिम्बप्रतिबिम्बोऽथ लोहितः स्फटिको मणिः ।
घटाकाशश्च विज्ञेयो रज्ज्वहिर्हेमकुण्डलम् ॥

[जीवेश्वरभेद, आत्मा में कर्तृत्वादि, शरीरादि में अहंता तथा गृहादि में ममता, ब्रह्म का विकार जगत् और ब्रह्म से भिन्न जगत् सत्य है; ये पाँच भ्रान्तियाँ हैं जिन्हें भेदादि नाम से कहा है। इनकी निवृत्ति क्रमशः श्लोक में कहे पाँच दृष्टान्तों जलादि में सूर्य का प्रतिबिम्ब, स्फटिक में लालिमा, घटाकाश (घट से परिच्छिन्न आकाश) रस्सी में सर्प और सोने में कुण्डलादि के विवेचन से संभव है।]

यदि समस्त जगत् इस प्रकार विवर्त होने से आध्यासिक है अर्थात् मिथ्या है तो सत्यत्व का व्यवहार कैसे? इसके जवाब में सत्तात्रय की व्यवस्था दी गई-शुद्धब्रह्म की **पारमार्थिक सत्ता**; मायोपाधिक अर्थक्रियाकारी आकाशादि और घटादि की **व्यावहारिक सत्ता**; तथा अविद्या से उपाधि में दिखाई-देनेवाले जैसे शुक्ति में रजतादि की **प्रातिभासिक सत्ता** मानते हैं। कालत्रय में अबाधित को पारमार्थिक; ज्ञाता के जीवनकाल में अबाधित को व्यावहारिक और प्रतीतिसमय पर्यन्त मात्र अबाध को प्रातिभासिक कहा है।

प्रमासाधनं प्रमाणं-यह सामान्य लक्षण है। यह दो प्रकार का है-विषयव्याप्यवृत्ति को परिच्छिन्नप्रमाण और ब्रह्माकारवृत्ति को अपरिच्छिन्नप्रमाण कहते हैं। अथवा **अविद्यानिवर्तकं प्रमाणं**-यह विशेष लक्षण है। यह भी दो प्रकार का है-सविशेष और निर्विशेष [सशेष और अशेष]। विषयावरणाविद्यानिवर्तक को **सशेषप्रमाण** और तत्त्वमस्यादि वाक्योत्पन्न स्वरूपावरणाविद्यानिवर्तक को **अशेषप्रमाण** कहते हैं। प्रमाणों से जन्य **प्रमा** चैतन्य ही है। इसलिये यह भी दो प्रकार की है-प्रत्यक् और पराक्। ब्रह्मज्ञान को **प्रत्यक्** और घटादिविषयज्ञान को **पराक्** कहते हैं। प्रमा की अनुभूति में छः प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। समस्त चक्षु आदि इन्द्रियवृत्तिरूपी प्रमाणों से विषय को व्याप्त होकर चैतन्यात्मक ब्रह्म ही प्रमा के रूप में स्फुरित होता है। सत्तात्रय के विषयों की प्रमा

का सामान्य लक्षण **स्मृतिव्यावृत्तं** अथवा **अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं** है। इसलिये पराक्प्रमा में वृत्त्यात्मक प्रमाणों की विषयव्याप्ति और फलव्याप्ति दोनों मानते हैं और प्रत्यक्प्रमा में केवल विषयव्याप्ति माना है।

प्रत्यक्ष- विषयाकारवृत्ति से विषयाकाराविद्यारूपी आवरणभङ्ग (निवृत्त) होने से विषयाकारावच्छिन्न चैतन्य ही विषय के प्रत्यक्ष प्रमा के रूप में भासता है। अर्थात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय या अन्तःकरण, वृत्ति और विषय से परिच्छिन्न चैतन्य जो कि प्रमोत्पत्तिपूर्वक्षण तक पृथक् थे उनका प्रमोत्पत्ति काल में तत्तदाकाराविद्यानिवृत्तिपूर्वक चैतन्य की ऐक्यता के रूप में भासना विषयगत प्रत्यक्ष है। तात्पर्य यह है कि विषयाकारवृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से भिन्नसत्तारहित होते हुए वर्तमानकाल में इन्द्रिययोग्यत्वविशिष्ट होना ही **विषयगतप्रत्यक्ष** है। विषयाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष के योग्य वर्तमान विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही **ज्ञानगतप्रत्यक्ष** है। ऐसी प्रत्यक्षप्रमा दो प्रकार की है-सविकल्पक और निर्विकल्पक। विशेषण, विशेष्य और दोनों के सम्बन्ध को विषय करनेवाला ज्ञान **सविकल्पक** है। ठीक इसके विपरीत तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्यज्ञान **निर्विकल्पक** हैं। पुनः प्रत्यक्ष दो प्रकार का है-जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी। अन्तःकरण से विशिष्ट चैतन्य जीव है जब कि अन्तःकरण से उपहित चैतन्य **जीवसाक्षी** है। इसी तरह माया विशिष्ट चैतन्य ईश्वर है जब कि माया उपहित चैतन्य **ईश्वरसाक्षी** है। कार्यान्वयी जब हो तब वस्तु को विशेषण और कार्यान्वयी जब न हो तब उसी को उपाधि कहते हैं। पुनः प्रत्यक्ष दो प्रकार का है-इन्द्रियजन्य और इन्द्रियाजन्य। घ्राणज-रासन-चाक्षुष-त्वाच-श्रावण- ये पाँच इन्द्रियजन्य हैं और मानस इन्द्रियाजन्य है क्योंकि मन को वेदान्तमत में इन्द्रिय नहीं माना गया है।

अनुमान :- अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं। व्याप्तिज्ञानत्वरूप से व्याप्तिज्ञान जन्य प्रमा अनुमिति प्रमा है इसलिये व्याप्तिज्ञान ही अनुमानप्रमाण है। व्याप्तिज्ञान का संस्कार व्यापार है। अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्य की सामानाधिकरण्यता व्याप्तिज्ञान है। वह अनुमान केवल एक प्रकार का है-अन्वयी, नैयायिकादियों के समान 3 प्रकार का नहीं। पुनः अनुमान 2 प्रकार का है-स्वार्थ और परार्थ। परार्थानुमान न्याय अर्थात् अवयवविशेष के समुदाय द्वारा साध्य है। वे अवयव हैं-प्रतिज्ञाहेतूदाहरण अथवा उदाहरणोपनयनिगमन। साध्यविशिष्ट पक्षबोधक वाक्य प्रतिज्ञा है। पञ्चम्यन्त अथवा तृतीयान्त वाक्य हेतु है। व्याप्तिप्रतिपादक

दृष्टान्तवाक्य उदाहरण है। व्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षधर्मता का प्रतिपादक वाक्य उपनय है। पक्ष में साध्य का अबाधितत्व प्रतिपादक वाक्य निगमन है।

उपमान :- उपमिति के करण को उपमान कहते हैं। सादृश्य प्रमा को उपमिति कहते हैं। इसलिये नीलगाय में हुआ गो सादृश्यज्ञान करण है, उपमान है। गौ में हुआ गवय का सादृश्यज्ञान फल है, उपमिति है। उपमान प्रमाण का मूल आधार सादृश्यता का कारणीभूत वस्तुगत धर्म है, वह 3 प्रकार से ग्रहण हो सकता है; अत: उपमान 3 प्रकार का है-साधारणधर्मविशिष्ट, असाधारणधर्म विशिष्ट और वैधर्म्यविशिष्ट। क्रमशः इनका दृष्टान्त है-गवय, खड्गमृत और ऊँट।

शब्द :- जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित न हो वह वाक्य शब्दप्रमाण है। ऐसा वाक्य से जन्य ज्ञान शाब्दी प्रमा है। वाक्यज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान-ये चार कारण हैं; प्रकारान्तर से शक्ति और लक्षणा दो वृत्तियों को कारण मानते हैं। वह वाक्यज्ञान कहीं अन्वयबोधरूप हो सकता है तो कहीं अखण्डबोधरूप होता है। शक्ति पदजन्य पदार्थज्ञानरूपी कार्य से अनुमेय है। शक्ति का विषय जाति है। लक्षणावृत्ति दो प्रकार की है-केवललक्षणा और लक्षितलक्षणा। जहाँ शक्यसाक्षात्सम्बन्ध से लक्ष्यज्ञान हो वहाँ केवललक्षणा और शक्यपरम्परासम्बन्ध से लक्ष्यज्ञान हो वहाँ लक्षितलक्षणा माना गया है। पुन: लक्षणा को तीन प्रकार से समझा जाता है-जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। क्रमशः इनका दृष्टान्त है-गंगायां घोषः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् और सोऽयं देवदत्तः। लक्षणा करने का कारण तात्पर्यानुपपत्ति ही है। शब्दप्रमाण दो प्रकार के हैं-वैदिक और लौकिक। आप्तपुरुष का वाक्य लौकिक है। वेदान्त में वेद उत्पन्न वस्तु होने से अनित्य है, फिर भी क्षणिक नहीं, किन्तु प्रलयकालपर्यन्त स्थायी है क्योंकि वर्णाभिव्यञ्जकध्वनि उच्चारण क्रिया से उत्पन्न होने पर भी वर्ण सृष्टिकालपर्यन्त नित्य है।

'अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः...........'

(बृउ. 2.4.10)

[इन महान् भूतों का कारण ब्रह्म से निःश्वास के समान यह ऋग्वेद...... इत्यादि प्रकट हुए।]

इत्यादि श्रुति स्वयं वेद की उत्पत्तिमत्त्व में प्रमाण है।

'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'

[धाता - ब्रह्मा (प्रथम/समष्टिजीव/हिरण्यगर्भ) यथापूर्व -जैसे पूर्व कल्पों में

था ठीक वैसे ही, अकल्पयत् - इस कल्प के आदि काल में भी प्रकट किया।]

इसके अनुसार वेद ईश्वरोक्त होने पर भी पौरुषेयत्वादि दोष न होने से प्रामाणिक है।

अर्थापत्ति :- उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) के ज्ञान की अनुपपत्ति के आधार पर कल्पना करना ही अर्थापत्ति प्रमाण है। इसलिये उपपाद्यज्ञान कारण है और उपपादकज्ञान फल है। जिसके बिना जो वस्तु असिद्ध है वह वहाँ पर उपपाद्य कहा जाता है और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती हो वह उसके प्रति उपपादक कहा गया है। वह अर्थापत्ति दो प्रकार की है-दृष्ट और श्रुत। पुनः श्रुतार्थापत्ति दो प्रकार की है- अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्तिः। प्रथम में पदाध्याहारपूर्वक वाक्यार्थनिश्चय किया जाता है, दूसरे में अर्थाध्याहारपूर्वक वाक्यार्थबोध होता है।

अनुपलब्धि :- ज्ञानरूपी कारणों से अजन्य और अभाव के अनुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धिप्रमाण कहते हैं। अनुभव के योग्य होते हुए भी अनुभव में न आने को योग्यानुपलब्धि कहते हैं, यही अभाव का ग्राहक है। अतः योग्यानुपलब्धि प्रमाण से जन्य वस्तु का अभावज्ञान ही अनुपलब्धिप्रमा है। वह अभाव व्यावहारिक दृष्ट्या चार प्रकार का है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। अन्योन्याभाव सादि, अनादि भेद से दो प्रकार का है और इसी को सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से पुनः दो प्रकार से समझा जाता है। सभी अभाव अनित्य हैं।

इन छः प्रमाणों के विषयभूत प्रमेय दो प्रकार के हैं-1. पारमार्थिक-अद्वैतब्रह्म और 2 व्यावहारिक-समस्त जगत्। प्रथम नित्य है और दूसरा अनित्य है। माया से विवर्तित ब्रह्म ही अनित्य व्यावहारिक जगत् के रूप में दिखाई मात्र देता है, इसलिये मिथ्या है। वेदान्त में कहे हुए आत्मज्ञान के विपरीत अनुभूति के कारण को माया अथवा अविद्या कहते हैं। वह अनादि और अनिर्वचनीया है। उसकी दो शक्तियाँ हैं-आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से ब्रह्म के अखण्ड आनन्दरूप को ढकती है और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म में विश्व को वह विवर्तित करती है। पूर्वोक्त ज़ीव और ईश्वरादि भेद की सिद्धि के लिये माया को सूक्ष्म और अविद्या को माया का अवयव अथवा कार्य स्थूल मानते हैं। सर्वप्रथम माया ने ब्रह्म में आकाशादि अपञ्चीकृत तन्मात्रस्वरूप जड़ पञ्च महाभूतों को विवर्तित किया। तत्पश्चात् उनके पञ्चीकरण द्वारा इस स्थूल जगत् को शरीर पर्यन्त विवर्तित किया।

आकाश में एक गुण शब्द, आकाशोपाधिक ब्रह्म में विवर्तित वायु में दो गुण शब्द और स्पर्श इत्यादि वेदान्तमत की विशेष उत्पत्ति की प्रक्रिया है। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल जगत् के समान अनेक प्रकार के शरीर भी उत्पन्न हुए-धर्मप्रधानजीवों के लिये देवादिशरीर, अधर्म प्रधान जीवों के लिये असुरादि शरीर और धर्माधर्म मिश्रित जीवों के लिये मनुष्य शरीर। यह मनुष्य शरीर सप्तधातु-त्वचा, खून, मांस, मेदा, मज्जा, हड्डी और शुक्र से निर्मित है। मातृगर्भ में शुक्राधिक से पुरुष, रजाधिक से स्त्री और सम हो तो नपुंसक शरीर उत्पन्न होते हैं। पिता के शुक्र से मज्जा, हड्डी और नाड़ीसंस्थान तथा माता के रज से त्वचा, मांस और खून बनते है-इसे **षट्कोश** कहते हैं। प्राण, बुद्धि और शरीर में जो भूख-प्यास, सुख-दुःख और जरा-मरण अनुभव होता है, इसे **षडूर्मी** कहते हैं। ऐसे शरीर को पुनः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नाम से **पञ्चकोशात्मक** भी मानते हैं। आकाशादि अपञ्चीकृत महाभूतों को भूतसूक्ष्म भी कहते हैं, इसी को आधार बनाकर सूक्ष्मशरीर की गति मानी गयी है। इन्हीं भूतसूक्ष्मों के प्रत्येक के सात्त्विकांश से पृथक्-पृथक् भाव से ज्ञानेन्द्रियाँ, समष्टिभाव से अन्तःकरण चतुष्टय उत्पन्न होते हैं। इसी तरह भूतसूक्ष्मों के राजसांश की व्यष्टि से कर्मेन्द्रियाँ और समष्टि से पञ्चप्राण उत्पन्न होते हैं। यह सूक्ष्मसृष्टि 19 अवयवों की है; जिसके समष्टिशरीर के अभिमानी को हिरण्यगर्भ कहा गया और व्यष्टिशरीर के अभिमानी को तैजस कहा गया है। भूतसूक्ष्मों के तामसांशों के पञ्चीकरण से स्थूल आकाशादि क्रमेण ब्रह्माण्ड; उसमें लोक; लोकों में जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्-चार प्रकार के प्राणियों के शरीर की सृष्टिकर स्रष्टा परमेश्वर ने स्वयं उन शरीरों में प्रवेश किया।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

(तैत्त. 2.6)

[उनकी (भूत एवं भौतिक पदार्थों की) सृष्टि करके, ब्रह्म ने स्वयं उनमें प्रवेश किया।]

वही ब्रह्म कहीं विशिष्ट चैतन्यरूप से, कहीं केवल विवर्त जड़भाव से अनुभव होता है। विशिष्ट चैतन्यरूपों में भी धर्माधर्म के तारतम्य से उच्चावच भाव को लेकर सृष्टि-स्थिति-संहार के लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं शेष जीव के रूप में विभक्त-सा प्रतीत होता है। यह सृष्टि की प्रक्रिया हुई। सृष्टि, स्थिति और प्रलय सभी जीवों के कर्म के अधीन चलते रहते हैं। प्रलय भी चार प्रकार का है-नित्य,

प्राकृत, नैमित्तिक और आत्यन्तिक। इनमें से नित्य प्रलय दैनिक सुषुप्ति को कहते है। प्राकृत प्रलय कार्यब्रह्म के विनाश निमित्तक सकल कार्यनाश को कहते हैं। जीव जैसे अपने संसार को लेकर सोता है वैसे परमेश्वर अर्थात् विश्व का स्त्रष्टा जब संपूर्ण संसार को अपने में समेटकर अनन्तासन पर सोता है तो उसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार से माया की निवृत्ति आत्यन्तिक प्रलय है।

वेदान्त दर्शन में व्यावहारिक दृष्टि से इन छः तत्त्वों को अनादि मानते हैं-

'जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥'

(आर्ष. 350)

[वेदान्त दर्शन में छह अनादि मानते हैं, वे हैं- जीव, ईश्वर, विशुद्धब्रह्म, जीव और ईश्वर का भेद, अवद्यिा तथा अविद्या और चैतन्य का सबंध।]

किन्तु वास्तव में -

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरा'

(वे.डि.)

[ब्रह्म सत्य तत्त्व है, जगत् मिथ्या तत्त्व है। जीव ब्रह्म ही है, कोई भिन्न पदार्थ नहीं।]

यह मुख्य सिद्धान्त है। अतः समस्त प्रकार के अनादि भेदों के कारण की व्यवस्था के लिये प्रतिबिम्ब, अवच्छेद और आभासवादों का वर्णन आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में किया है। इसलिये

'स ईशो यद्वशे माया, स जीवो यस्तयाऽर्दितः'

[वह ईश्वर है, जिसके वश में माया हो। वह जीव है, जो माया से पीड़ित है।]

इस उक्ति से सिद्ध होता है कि माया ही के कारण यह समस्त संसार है एवं भेद है।

मुक्ति के लिए वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञानानुभूति करने की अनेकों प्रक्रिया बताई गई है। पञ्चकोश विवेक, देहत्रयविवेक, अवस्थात्रयविवेक, निर्गुणोपासना, श्रवणादि के अभ्यास से, निर्विकल्प चित्तवृत्ति से, समाध्यभ्यास से, ईश्वर तथा गुरुभक्ति से, ॐकार के अर्थचिन्तनपूर्वक जप से, पञ्चतत्त्वलय से अथवा अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप ब्रह्म में नामरूप प्रपञ्च को दृश्य होने से आभासमात्र मानकर एकीभूतता का अनुसन्धान करते हुए महावाक्यानुभूति से-मुक्ति कही गई है। किसी भी एक

प्रक्रिया को अपनाकर जब साधनचतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति को जीवब्रह्मैक्यत्वरूपी आत्मसाक्षात्कार होता है उसी क्षण वह जीवन्मुक्त होता है। प्रारब्ध क्षय होने से शरीरपातक्षण में वह विदेहमुक्त होता है। अत: शोकनिवृत्तिपूर्वक आनन्दात्मक ब्रह्मानुभूति मोक्ष है। आचार्य शंकर अपने संपूर्ण भाष्य में केवल ब्रह्मात्मैक्यविषयक ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते हैं। वैसे बृहदारण्यकश्रुति ज्ञान को भी साक्षात् और अपरोक्ष रूप मानती है **यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म**। वह ज्ञान पापक्षय अर्थात् शुद्धान्त:करण से ही होता है। उसके लिये कर्म और उपासनादि को साधन बताया गया है। अत: कर्मज्ञान समुच्चय, उपासनाज्ञान समुच्चय आदि सिद्धान्तों का श्रुति एवं युक्ति से खण्डन किया गया है क्योंकि ज्ञान भी मोक्ष को उत्पादित नहीं करता अपितु अविद्या का नाश करता है अर्थात् निवृत्त मात्र करता है। इसलिये शास्त्रों को बार-बार ज्ञापक कहा है। आचार्य शंकर ने कहीं भी कारक नहीं माना। इसलिये तपस्या, जप, ध्यानादि सकल साधन केवल पापक्षयपूर्वक अन्त:करण शुद्धि द्वारा शास्त्रोक्त प्रक्रिया से अविद्या निवृत्ति पूर्वक महावाक्यार्थ अखण्डबोधरूपी ज्ञानानुभूति मात्र में उपयोगी हैं। ज्ञान से ही मोक्ष है क्योंकि स्वरूप प्राप्त था, है और रहेगा भी, किन्तु बीच में भ्रान्ति से उसकी अप्राप्ति जो भास रही है उसे ज्ञान से निवृत्त करना ही मोक्ष है।

卐

28. शंकरोत्तरवेदान्त

शंकराचार्यजी के प्रमुख दो शिष्य सुरेश्वराचार्य एवं पद्मपादाचार्य सहित अनेकों विद्वानों का नाम शंकरोत्तर वेदान्त में लिया जाता है। सर्वप्रथम मण्डन मिश्र और सुरेश्वराचार्य को दो अलग अलग विद्वान् माननेवालों के प्रति हमारा कथन है कि वे दोनों एक हैं क्योंकि उंनका घरेलू नाम था पं.विश्वरूपमिश्र, लेकिन बौद्धों के तूफानी प्रभाव की वजह से वैदिक सनातन धर्म की विकटावस्था में उन्होंने बौद्धों के खिलाफ डट कर वेदों का मण्डन किया, अत: उनकी मण्डन मिश्र नाम से प्रसिद्धि हुई। उन्होंने ही जब आचार्यशंकर से प्रभावित होकर संन्यास ग्रहण किया, तब उनका नाम विश्वरूपाचार्य से **सुरेश्वराचार्य** हुआ। कुछ मामलों में इनका आचार्य शंकर से मतभेद है, जिनको उन्होंने अपने ब्रह्मसिद्धि, बृहदारण्यक वार्तिक एवं नैष्कर्म्यसिद्धि में प्रकट किया है। **पद्मपादाचार्य** कृत ब्रह्मसूत्र व्याख्या पञ्चपादिका, **सर्वज्ञात्ममुनिकृत** संक्षेपशारीरक, **वाचस्पतिमिश्र** कृत भामती, **विमुक्तात्मा** कृत इष्टसिद्धि:, **कृष्णमिश्रकृत** प्रबोधचन्द्रोदय, उसपर **प्रकाशात्ममुनि** कृत विवरण टीका, **अद्वैतानन्दबोधेन्द्र** कृत ब्रह्मविद्याभरण, **श्रीहर्ष** कृत खण्डनखण्डखाद्य एवं नैषधीयचरित्र, **आनन्दबोधभट्टारक** कृत न्यायमकरन्द, आचार्य **अमलानन्दकृत** कल्पतरु- व्याख्या, **चित्सुखाचार्य** कृत तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी), **विद्यारण्यमुनि** कृत बृहदारण्यकवार्तिकसार, विवरणप्रमेयसंग्रह, पञ्चदशी, आदि; **मधुसूदनसरस्वती**

कृत अद्वैतसिद्धिः, **सदानन्द** कृत प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, वेदान्तसारादि, **आनन्दज्ञान** कृत तर्कसंग्रहः, **गंगाधरेन्द्र** कृत स्वाराज्यसिद्धिः, इत्यादि अनेकों विद्वानों ने समय-समय पर विभिन्न संप्रदायों के द्वारा अद्वैतवेदान्त पर किये गए प्रहारों के उत्तर में अद्वैत वेदान्त के परिपोषक एवं परिवर्धक अनेक ग्रन्थों को लिखा है। कुछ मुख्य विद्वानों के नाम और कृतियों का उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर उनके विचारों का सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

मण्डनमिश्र कृत ब्रह्मसिद्धि एवं सुरेश्वराचार्य कृत वार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धि में कुछ सैद्धान्तिक अन्तर है। इस विषय में विचारकों की व्यवस्था है-ब्रह्मसिद्धि की रचना आचार्य शंकर से मिलने के पूर्व अपने गुरुकुल में किये गए प्रस्थानत्रयी के अध्ययन पर निर्भर है जब कि वार्तिकादि आचार्य शंकर के कृपा पात्र बनने के पश्चात् के हैं। इस विषय पर और अनुसन्धान कर पाठकों को स्वयं निर्णय लेना होगा। कुछ प्रमुख सैद्धान्तिक भेद इस प्रकार हैं-

(1) वाचस्पतिमिश्र एवं मण्डनमिश्र दृष्टिसृष्टिवाद को मानते हैं, अतः वे अविद्या का आश्रय जीव को मानते हैं। ब्रह्म केवल अविद्या का विषय है। जीव अपने में आश्रित नैसर्गिकी अविद्या से दृश्यजगत् का अनुभव करता है और आगन्तुकी विद्या से अविद्या को नाशकर मुक्त होता है। प्रकाशात्ममुनि एवं सुरेश्वराचार्य ने शांकरसिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहा-अविद्या का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म ही है। इसी विवाद ने शंकरोत्तर वेदान्त में 2 संप्रदायों को जन्म दिया है। प्रथम वाचस्पतिमिश्र एवं मण्डन मिश्र पर आधारित भामती प्रस्थान तथा दूसरा प्रकाशात्ममुनि और सुरेश्वराचार्य पर आधारित विवरणप्रस्थान।

(2) मण्डन सदाद्वैत की अपेक्षा भावाद्वैत मानते हैं। ब्रह्म को भावसत्य और अविद्या ध्वंस अथवा प्रपञ्चाभाव को अभावसत्य रूप से पृथक् मानते हैं, इन दोनों सत्यों को परस्पर विरोधी कहा है, जब कि सुरेश्वर शंकर का अनुसरण करते हुए अविद्याध्वंस को अविरोधी पृथक् सत्यतत्त्व न मानते हुए, सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर विद्या और अविद्या दोनों निवृत्त होकर साक्षाद् ब्रह्मसत्य रहता है-ऐसा मानते हैं।

(3) मण्डन प्रसंख्यानवाद के समर्थक होने से महावाक्य को मोक्ष का केवल अवान्तर साधन मानते हैं, जबकि आचार्यशंकर के मत को स्वीकार करते हुए सुरेश्वराचार्य का कहना है कि महावाक्य मोक्ष का साक्षात् साधन है।

(4) मण्डन ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के समर्थक हैं जब कि शंकर और सुरेश्वर

कर्मोपासना से निरपेक्ष ज्ञान मात्र को मोक्ष का साधन मानते हैं।

(5) मण्डन विदेहमुक्ति को वास्तविक मोक्ष मानते हैं लेकिन शंकरानुयायी सुरेश्वर ने जीवनमुक्ति को ही मोक्ष कहा है।

(6) मण्डन विपरीतख्याति मानते हैं जबकि सुरेश्वर ने अनिर्वचनीय ख्याति सिद्ध किया है।

(7) अविद्योपादानभेदवादी मण्डन का मानना है कि अविद्या का लेश मात्र भी ब्रह्म से सम्बन्धित नहीं।

'जीवानामविद्याकलुषीतत्त्वं न ब्रह्मणः ।'

[अविद्या से जीव ही कलुषित होता है, ब्रह्म नहीं।]

अविद्या, माया, आभास-ये सब पर्याय (समानार्थक) वाची शब्द हैं। इसके विपरीत सुरेश्वर शंकर का समर्थन करते हैं। अविद्या का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म है, अतः ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है ।

	भामतीप्रस्थान	**विवरणप्रस्थान**
8.	श्रवणादि में विधि का अभाव।	श्रवणादि में नियमविधि।
9.	जीवाश्रित अविद्या का विषयभूत ब्रह्म जगत् का कारण है।	स्वतन्त्र ईश्वर जगत् का कारण है।
10.	अनेक अविद्याएँ।	एक अविद्या।
11.	अनेक जीव।	एक जीव।
12.	अनेक ईश्वर।	बिम्बस्वरूप एक ईश्वर।
13.	कल्पित ईश्वर।	ईश्वर परमार्थ है।
14.	विविदिषा के साधन यागादि।	ज्ञान के साधन हैं यागादि।
15.	संन्यास में ज्ञान की अङ्गता अदृष्ट द्वारा।	संन्यास में ज्ञान की अङ्गता दृष्ट द्वारा।
16.	अवच्छेदवाद।	प्रतिबिम्बवाद।

मण्डनमिश्र के मत का समर्थन वाचस्पति मिश्र पूर्णरूपेण करते हैं। बल्कि इस मत में अन्योन्याश्रय दोष हैं कि-जब अविद्या का कार्य जीव है तो जीवाश्रित अविद्या कैसी हो सकती है, तो इसकी व्यवस्था दो तरह से वाचस्पतिजी देते है-बीजाङ्कुरन्याय के समान अनादि परम्परा मानते हैं अथवा अविद्या को चिरन्तनी भ्रान्ति माना है—आचार्य शंकर के अनुयायी सुरेश्वर के समर्थकों की कतार लम्बी है। पद्मपादाचार्य, प्रकाशात्मा (विवरणकार), सर्वज्ञात्मा (संक्षेपशारीरिककार)

इत्यादि हैं। पद्मपादाचार्यजी कहते हैं-

'मिथ्याशब्दो द्व्यर्थोऽपह्नववचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च ।'

(पं.पा.पृ. 4)

['मिथ्या'-शब्द के दो अर्थ हैं, निषेध और अनिर्वचन।]

अविद्या=माया मिथ्या है क्योंकि 'नेति नेति' का विषय है और अत्यन्त सत् अथवा अत्यन्तासत् भी न होने से अनिर्वचनीय भी है। मायावाद में दिये गए दोषों को निवारण करते हुए कहते हैं कि-

'न हि मायायां असम्भावनीयं नाम,असम्भावनीयावभासचतुरा हि सा।'

(पं.पा.पृ. 23)

[माया में कुछ भी असंभव नहीं है (अर्थात् सब कछ संभव है), क्योंकि असंभव को प्रकट करने में वह (माया) चतुर है।]

विवरणाचार्य प्रकाशात्ममुनि ने उक्त विचारों का विस्तार करते हुए माया को भावात्मक सिद्ध किया और अभावात्मक माननेवालों का युक्ति एवं श्रुतियों के आधार पर खण्डन किया है। सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरकम् में सुरेश्वर का समर्थन करते हुए वाचस्पतिजी के सिद्धान्त-अविद्या का मुख्यरूप मानस पूर्वपूर्वभ्रान्तिधारा का खण्डन किया है। लेकिन शांकरमत में थोड़ा अन्तर भी किया है। इनका मानना है कि अविद्या=माया न तो ब्रह्माश्रित है, न जीवाश्रित है किन्तु चैतन्य प्रत्यगात्मरूप से आश्रय होता है। इसी प्रकार अविद्या=माया का विषय ब्रह्म अथवा जीव नहीं किन्तु प्रत्यगात्मा। इसमें 'अहमज्ञः' यह अनुभव ही प्रमाण है-

'अज्ञानात्मकवस्तु नाश्रयतया अज्ञानस्य संभाव्यते,
नाज्ञानात्मकताबहिष्कृतमिदं जीवत्वमङ्गीकृतं ।'

(सं.श. 2.209)

[अज्ञानात्मक वस्तु अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकती। यह जीवभाव अज्ञानस्वरूप से भिन्न नहीं माना गया। जीवत्व आज्ञानाश्रयका घटक (अवयव-हिस्सा) भी नहीं हो सकता।]

इसलिये आपके मत में भी यह शुद्ध चेतन अज्ञान का आश्रय होगा। अतः यह अज्ञान उसी में घटता है। इस प्रकार यदि जीव अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता तो ब्रह्म को आश्रय मानना पड़ेगा। इस आशङ्का का उत्तर है-

'नाज्ञानमद्वयसमाश्रयमिष्टमेनं।
नाद्वैतवस्तुविषयं निशितेक्षणानाम्॥'
(सं.शा. 2.211)

[दूरदर्शी आचार्यों को अज्ञान का आश्रय ब्रह्म तत्त्व मानना अभीष्ट नहीं। अपितु अज्ञान अद्वैत तत्त्व को विषय भी नहीं बनाता है।]

अतः यह अज्ञान आनन्दस्वरूप नित्य वस्तु को न विषय बनाता है और न आश्रय किन्तु प्रत्यक्तत्त्व को ही विषय तथा आश्रय बनाता है।

आचार्य विमुक्तात्मा ने अपनी इष्टसिद्धि में शांकरसिद्धान्त -**'अघटितघटना-पटीयसी माया'** को स्वीकार करते हुए कहा है कि-

'दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम् ।'
(इ.सि. 1.140)

[असंभव को संभव कर यदि माया दिखाती है, तो यह उसके लिये शोभा ही है, दोष नहीं।]

इस माया को सभी ने ज्ञान द्वारा ध्वंस करने योग्य माना है। अतः श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में यद्यपि भावरूप सिद्ध किया तथापि चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका में वास्तविकता प्रकट करते हुए 9वीं कारिका की व्याख्या में कहते हैं-

'भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्।'
(चि.सु.पृ. 86)

[भाव और अभाव - दोनों से विलक्षण अज्ञान को अभावविलक्षणत्व मात्र की विवक्षा करके भावत्व का जो कथन किया गया है, वह औपचारिक ही है।]

अनिर्वाच्यता के बारे में तत्त्वप्रदीपिका में स्पष्ट कहा है

'प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥'
(चि.सु.श्लो. 13)

[जो वस्तु सत् अथवा असत् प्रकार से विचार का विषय नहीं बनती है उसे वेदांत के विद्वान् अनिर्वाच्य कहते हैं।]

आचार्य आनन्दज्ञान ने तर्कसंग्रह में तो कहा है कि-कोई भी निर्वचन सही न होने से उसे अनिर्वचनीय कहा गया-

'येन येन प्रकारेण परो निर्वक्तुमिच्छति ।
तेन तेनात्मनाऽयोगस्तदनिर्वाच्यता मता ॥'
(वेतसं पृ. 136)

[जिस जिस प्रकार से कोई कथन करना चाहता है, वह-वह प्रकार का उसमें संभव न होना ही, उसकी अनिर्वाच्यता अभिमत है।]

इन सब सिद्धान्तों को विद्यारण्यमुनि ने अपने बृहदारण्यकवार्तिकसार और विवरणप्रमेयसंग्रह में सुदृढ किया है।

ब्रह्मतत्त्व के बारे में सभी का एक ही मत है कि वह एक, अद्वैत, स्वप्रकाश, समस्त भ्रान्ति का अधिष्ठान, अज, नित्य है। किन्तु इस पर विवाद करने वालों के बारे में अन्धों से वर्णित हाथी को दृष्टान्त देकर खण्डन करते हुए आचार्य सुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है कि-

'इमं प्राश्निकमुद्दिश्य तर्कज्वरभृशातुराः ।
त्वाच्छिरस्कवचोजालैर्मोहयन्तीतरेतरम् ॥'

(नैसि. 2.59)

[प्राश्निक (शास्त्रार्थ निर्णय के लिये बैठे दो तार्किकों के बीच में मध्यस्थ बने हुए सभापति को प्राश्निक कहते हैं) को उद्देश्य करके तर्करूपी ज्वर से अत्यन्त पीड़ित तार्किकगण त्वात् शिरस्क-हेतु(अनुमान में हेतु को पञ्चम्यन्त से दर्शाया जाता है, जैसे धूमवत्त्वात्, घटत्वात्, कार्यत्वात्, इत्यादि) से युक्त अनुमानों के जाल द्वारा एक दूसरे को मोहित करते रहते हैं]

अर्थात् दोष रहित सर्वतार्किक से स्वीकृत एक मत (निर्णय) नहीं ले पाते हैं। किन्तु उन अनुमानों के आधार अनुभव को सब स्वीकार करते हैं। वह अनुभव (अनुभूति) ही आत्मा है। तार्किकों के इस प्रकार मोहित करनेवाले परस्पर विरोधी कथनों के कारण ब्रह्म में अनिर्वचनीय मायामय दृश्य के स्वरूप का सही प्रकार से उन्हें निर्णय न होना ही है, अतः संसार का स्वरूप ब्रह्म में कैसे है, इसका वर्णन इष्टसिद्धि में विमुक्तात्मा कहते हैं-

'न भिन्नो नाभिन्नो नापि भिन्नाभिन्नोऽनुभूतेः प्रपञ्चः ।'

(इसि.पृ. 24)

[यह प्रपञ्च अनुभूति से न भिन्न है, न अभिन्न है और न तो भिन्नाभिन्न है, क्योंकि मिथ्या है।]

श्री हर्ष इसलिये खण्डनखण्डखाद्य में कहते हैं-

'अद्वैतं हि पारमार्थिकं, इदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्यते
न तु अविद्याविद्यमानेन ।'

(खंख. पृ. 58)

[अद्वैत ही पारमार्थिक है। उसको यदि बाधना है तो दूसरा कोई पारमार्थिक

भेद सिद्ध करना होगा, जो कि असंभव है। अविद्या के होने मात्र से अद्वैत का बाध नहीं होता जैसे मिथ्या सर्प के होने मात्र से रज्जु का बाध नहीं होता।]

मधुसूदन सरस्वती ने अपने अद्वैत-सिद्धि में द्वैत का जबर्दस्त खण्डन किया है। अत: केवल व्यावहारिक सत्यता द्वैत में एवं पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैतब्रह्म ही एकमेवाद्वितीय सत्य सिद्ध होता है जिसे शंकरोत्तरवेदान्त में कुतर्कों को सुतर्कों से काटकर अत्यन्त सुन्दर ढंग से सिद्ध किया गया है।

卐

29. बौद्धवेदान्ततुलनात्मकविचार

बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन अत्यन्त विरोधी दो भिन्न-भिन्न दर्शन नहीं हैं। उपनिषदों की विचारधारा के स्पष्टीकरण में विकास की गति की विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत उनका समावेश किया जा सकता है। जिसप्रकार आस्तिक छः-दर्शनों को एक साधारण मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में विभिन्न सीढ़ियों के समान समन्वित किया गया है उसी प्रकार बौद्ध और वेदान्त का समन्वय हो सकता है।

बौद्ध ने उपनिषद् विचारों का परोक्षतया समर्थन किया है, जिनका विस्तार और साक्षात् समर्थन महायान बौद्धों ने किया, उसी को अत्यन्त स्पष्ट करते हुए गौड़पादाचार्य ने-सत्तात्रयादि व्यवस्था द्वारा विकास की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचाया, तत्पश्चात् शंकर द्वारा एवं शंकरोत्तर आचार्यों ने इसे परिपूर्णता प्रदान की है।

बौद्ध-वेदान्त की सामान्यताओं एवं विषमताओं पर विचार क्रमशः इस प्रकार है:

सर्वप्रथम बात तो यह है कि भगवान् बुद्ध ने अपने हाथों से कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, उनके शिष्यों ने बुद्ध के निर्वाण के पश्चात, उपदेशों को संगृहित कर ग्रन्थ रूप दिया। शिष्यों के प्रश्न के अनुसार अधिकारित्व को देखकर वे उपदेश देते थे। बताया जाता है कि जब कभी कोई आत्मा के बारे में पूछता था तो उसके जवाब में वे मौन रहते थे; उस मौन का अर्थ कुछ लोगों ने शून्य किया है। किन्तु याद रखें वेदान्त परम्परा में भी कहा गया है-दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र में-

'चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥'

(दक्षि:1)

वहीं पर-

'मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वं युवानं
वर्षिष्ठां तेऽवसदृषिगणैरावृतं ब्रह्मनिष्ठैः ।
आचार्येन्द्रं करकलितचिन्मुद्रमानन्दरूपं,
स्वात्मारामं मुदितवदनं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥'

(दक्षि:12)

[यह अत्यन्त विचित्र बात है कि - वटवृक्ष के मूल में वृद्ध शिष्यगण बैठे हैं और उनके गुरु युवक हैं। गुरु ने मौन व्याख्यान किया, उससे शिष्यों के सकल संशय नष्ट हो गये। और -जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे ब्रह्म-निष्ठ ऋषियों से घिरे हुए मौन व्याख्यान से ब्रह्मतत्व को प्रकाशित करनेवाले, प्रसन्न चेहरा और चिन्मुद्रा में स्थित करकमलों से युक्त आनंदस्वरूप परमपूज्य महानतम जो सदा आत्मस्वरूप में रमण करनेवाले, युवा अवस्था से संपन्न श्रेष्ठतम आचार्य दक्षिणामूर्ति भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।] और बृहदारण्यक में ब्राह्मी स्थिति के प्रकरण में कहा है-

'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्,
बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च
मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः ।'

(बृ. उ. 3.5.1)

[जिसलिये अनादिकाल से ब्राह्मण आत्मतत्त्व को जानकर पुत्र - लोक आदि ऐषणा त्याग कर मुक्त हुए थे इसलिये (आज के) ब्राह्मण भी (क्षणिक सुख देनेवाले इह - पर लोकों के पदार्थों की इच्छा को त्यागकर) पाण्डित्य (आत्मज्ञान अथवा श्रवणात्मकसाधन) का संपादन करके बाल्य भाव (अनात्मविषयकज्ञान का तिरस्कार अथवा मननात्मकसाधन) से स्थिर रहने की इच्छा करें, पुनः उक्त पाण्डित्य और बाल्य को पूर्णरूप से संपादन करके वह मुनि (मननात् मुनिः - योगी अर्थात् अनात्मविषयकज्ञान का परित्यागपूर्वक आत्मविषयकज्ञान का मनन (चिंतन करने से मुनि कहा जाता है) होता है। तात्पर्य है - मुनि - अनात्मप्रत्ययों की उपेक्षा का पर्यवसान, जो फल अथवा निदिध्यासन का अभ्यास

करते हुए स्थिर रहने की इच्छा करे। इस. प्रकार अमौनं (पाण्डित्य+बाल्य = आत्मज्ञान + अनात्मकविषयकत्याग अथवा श्रवण + मनन) और मौनं (अनात्मप्रत्ययों की उपेक्षा का पर्यवसान, जो फल अथवा निदिध्यासन का) पूर्णरूप से संपादन करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर कृतकृत्य होवें।] अतः मौन का तात्पर्य है पूर्णब्रह्मानुभूति से सम्पन्न ब्राह्मीस्थिति।

दूसरी बात यह है कि वैदिक सनातनधर्म की अनुष्ठानपद्धति में आई विकृतियों के खिलाफ बुद्धभगवान् ने जब अहिंसादि वास्तविक वैदिकधर्मों का प्रचार किया तब विद्वद् ब्राह्मण समाज एवं सम्पन्न राजादि तथा सुशिक्षित क्षत्रियसमाज अर्थात् बुद्धिजीवी वर्ग सर्वप्रथम उनके शिष्य बने, जिन्होंने बाद में ग्रन्थों को लिखा।

तीसरी बात यह है कि-मैत्रायण्युपनिषद् में कहा है-

'मन एव कारणं बन्धमोक्षयोः'

(मै.त्रा 4.11)

[मन ही बंधन और मोक्ष दोनों का कारण है]

यह औपनिषदिक सिद्धान्त को लेकर बुद्ध ने उपदेश दिया था कि -बुद्धितत्त्व सापेक्ष होकर अत्यन्त भिन्न-भिन्न उपाधियों में घुलकर चित्तचैत्य के अभेद द्वारा सकल व्यवहार करता है, उसी को जब बोधि अर्थात् प्रज्ञा के रूप में (ज्ञान रूप में) अनुभव करें तो निर्वाण प्राप्त होगा क्योंकि परिच्छिन्न स्वभाव अज्ञान (संवृत्ति) के कारण मानते हैं। बुद्धितत्त्व जब अपने चैतन्यरूप में रहता है तो वह अज, अकार्य, अविनाशी, क्षणिक जगत् के आधार के रूप में अर्थापत्ति से जाना जाता है और उसे ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान-त्रिपुटी से परे, अद्वयभाव, शुद्धचैतन्य के रूप को विवेकी अनुभव करता है।

चौथी बात यह है कि-**सर्वं शून्यं** यह औपनिषदिक सिद्धान्त नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् में कहा है-

'प्रभाशून्यं मनः शून्यं बुद्धिशून्यं निरामयं ।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ।।'

(सौल-17)

[विशिष्टप्रकाशस्वरूप रहित, मन एवं बुद्धि का अविषय, दोषरहित, समस्त जगत् रहित और विषयविशिष्टप्रकाश रहित ज्ञानस्वरूप को समाधि कहते हैं। इत्यादि अनेकों श्रुतिप्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है कि बौद्धदर्शन उपनिषद् सिद्धान्त के अत्यन्त विरूद्ध नहीं है।

आचार्य अश्वघोष ने जब देखा कि हीनयान मार्गी बौद्धों ने बुद्धभगवान् के सैद्धान्तिक विचारों में बहुत विकृति किया है तो उन्होंने महायानमार्ग का विस्तार किया और उसकी पुष्टि की। मजबूति लाया उन्होंने अपने ग्रन्थ-महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र में। जिस में तथता, भूततथता, तथागतगर्भ, धर्मकाय, धर्मधातु, आलयविज्ञान, बोधि अथवा प्रज्ञा इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है, वह उपनिषदों में कथित आत्मा=ब्रह्म के लिये ही प्रयोग किया है। प्रतीत्यसमुत्पाद-अविद्या का कार्य है जो बुद्धितत्त्व का विषय बनकर प्रकाशित होता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि अज्ञान के कार्य को अन्तिम सत्य नहीं मानना चाहिये और उस सत्य को भूलना नहीं चाहिए जिस पर यह स्थित है। तथता आदि शब्दों से कथित आलयविज्ञान और उसका ही परिच्छिन्न स्वरूप प्रवृत्तिविज्ञान उपनिषद्ों के निर्गुण निराकार परब्रह्म और सगुण साकार अपर ब्रह्म ही हैं। तथता का स्वरूप विशुद्ध, नित्य चैतन्य ज्ञानघन अनिर्वचनीय आदि कह कर ब्रह्म का लक्षण ही कहा है। जलतरंग, मृत्तिकाघट, स्वर्णाभूषण आदि उपनिषद् में कहे गए दृष्टान्तों को ही लिया है। शंकरप्रोक्त व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता की चर्चा उन्होंने की है। इससे सिद्ध होता है कि बौद्धदर्शन अन्यदर्शनों के समान पूर्णतया श्रुति विरोधी नहीं है।

शून्यवाद और वेदान्त :- वेदान्त में शून्यतत्त्व को लेकर काफी भ्रान्ति है-ऐसा कहा जा सकता है, अथवा आचार्य शंकर एवं शंकरोत्तरवर्ती आचार्यों ने शून्य शब्द का अर्थ खपुष्प के समान अत्यन्त अलीक, अभाव, सर्वोच्छेद, सर्ववैनाशिकता आदि मानकर खण्डन किया है। किन्तु नागार्जुन, अश्वघोष आदि के अनुसार ऐसा नहीं है। यद्यपि ये सब शंकराचार्य के पूर्ववर्ती लोग है, इनके ग्रन्थ भी आज तक प्रसिद्ध है तथापि पता नहीं क्यों इन लोगों द्वारा प्रतिपादित विचारों की उपेक्षा करके मुख्य रूप से हीनयानमार्गी दिङ्नाग आदि कृत कारिकादि ग्रन्थों पर आधारित होकर बौद्धों का खण्डन आचार्य शंकर ने किया है।

शून्य शब्द माया और ब्रह्म दोनों के लक्षणों में प्रयोग किया है। संसार के समस्त पदार्थों को **स्वभावशून्य** कहा है, अर्थात् पारमार्थिक सत्यता रहित, तात्पर्य है मायिक, क्योंकि ये सब प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् सापेक्ष है। इन्हें दृश्य कहते ही एक सत्य आधार को अनुमान अथवा अर्थापत्ति से मानना पड़ता है। वही ब्रह्म है, उसे **प्रपञ्चशून्य** कहा है। उसे बोधि, प्रज्ञा, विशुद्धचैतन्य आदि शब्दों से बौद्धों ने कहा है। सकल व्यवहारों की व्यवस्था देते हुए वे मिथ्यासंवृत्ति, तथ्यसंवृत्ति और परमार्थ तीन अवस्थायें मानते हैं जो कि वेदान्तियों की प्रातिभासिक, व्यावहारिक

और पारमार्थिक सत्ता हैं तथा विज्ञानवादियों की परिकल्पिता, परतन्त्रता और परिनिष्पन्नता है। बौद्धों ने भी पारमार्थिक तत्त्व को तर्क एवं मन का विषय नहीं माना किन्तु वे मौन ही हैं। अत: दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में कहा है-

'मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वं' इत्यादि। गौड़पादजी ने केवल शब्दों को बदलकर अपनी कारिका में बौद्धों के द्वारा कहे हुए औपनिषदिक सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार किया है। जैसे-

'नैवाग्रम् नावरम् यस्य तस्य मध्ये कुतो भवेत् ।'

(मा. का. 18.9)

[जिसका अग्र = आदि नहीं और अवर = अन्त नहीं उसका मध्य में होना कैसे हो सकता है।]

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।'

(गौ. का. 2.6)

[जो आदि में नहीं था और अन्त नहीं रहता है वह वर्तमान में अर्थात् बीच में भी नहीं हैं।]

शंकरोत्तरवेदान्त खण्डनखण्डखाद्य में कहा है कि यदि अनिर्वचनीय माया ही शून्य है तो बौद्धों से हमारा कोई विरोध नहीं। शून्यवाद और वेदान्त में अन्तर यह है कि ब्रह्म को बौद्ध अनिर्वचनीय मानते हैं जब कि वेदान्ती उसे पारमार्थिक सत्। शब्दों का फेर हैं (अर्थात् शब्दावलि में भेद है) क्योंकि नागार्जुन ने जीव को आत्मा कहा है और उसे मिथ्या भी माना है। रत्नावली में नागार्जुन ने, विशुद्ध चैतन्य के लिए बोधि और ज्ञान शब्द प्रयोग किया है, आर्य-देव ने चित्तविशुद्धिप्रकरण में उसी को चित्त कहा है, जबकि शान्तिदेव ने अपने बोधिचर्यावतार में बोधिचित्त कहा है। अन्तर इतना है कि बौद्ध जगत् की अपारमार्थिकता पर जोर देते हैं तो वेदान्त व्यावहारिक सत्यता सिद्ध करने में लगे हैं। ब्रह्मतत्त्व के स्वरूपादि का निर्णय करने में बौद्धों ने कम जोर दिया है जबकि वेदान्तियों ने सच्चिदानन्द स्वरूपता की सिद्धि में पूरा जोर लगाया है।

विज्ञानवाद और वेदान्त :- आचार्य असङ्ग द्वारा प्रतिपादित विज्ञानवाद भी शून्यवाद जैसे वेदान्त के निकट है। व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक जगत् विषयक विज्ञान को प्रवृत्ति विज्ञान और इनके आधारभूत विशुद्धचैतन्य एवं नित्य को आलय विज्ञान कहा है। यह वेदान्त मत में कहे गए प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्तायुक्त जीव तथा पारमार्थिक सत्तायुक्त ब्रह्म के समान है। अन्तर शब्दों में

है-प्रातिभासिक, व्यवहारिक और पारमार्थिक के लिये विज्ञानवादी परिकल्पिता, परातन्त्रा एवं परिनिष्पन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं। परिनिष्पन्नसत्ता युक्त आलयविज्ञान को ज्ञानज्ञेयादि सकलत्रिपुटी रहित मानकर ब्रह्म को ही दूसरे शब्दों से कहा है। अत: लङ्कावतार में कहे गए तथागतगर्भ, आलयविज्ञानादि शब्द; असङ्ग के धर्मधातु में कहे गए विशुद्धात्मा, महात्मा, परमात्मा आदि शब्द; वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त विज्ञप्तिमात्रा, धर्मकाय आदि शब्द, वेदान्तोक्त आत्मा, ब्रह्म के ही प्रतिपादक है।

कुछ स्थानों में अहंकार के लिए आत्मा शब्द प्रयोग करने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हुई हैं। जिस प्रकार ब्रह्म सूत्र में यह स्पष्ट देखा गया है कि प्राण, आकाश, आदि जैसे शब्द भी उपनिषदों में ब्रह्म के लिये प्रयोग किये गये है उसी प्रकार बौद्धों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का भी तात्पर्य ठीक समझ लें तो विशुद्ध विज्ञानवाद और वेदान्त में कोई खास अन्तर नहीं दीखता है।

तब प्रश्न उठता है कि शंकरादि द्वारा खण्डन किया गया क्षणिक विज्ञानवाद और सर्ववैनाशिकवाद किसका है। उत्तर यह है कि इतिहास के अनुसार बुद्ध भगवान् के बाद से लेकर प्रथम शताब्दी तक के काल में एवं पञ्चमशताब्दी में हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी बौद्धों का जोर रहा; जिन्होनें स्वतन्त्रविज्ञानवाद, सर्ववैनाशिकव्राद, सर्वास्तिवाद आदि का खूब विकास किया। इनका खंडन कर नागार्जुन, अश्वघोष, असङ्ग आदि ने द्वितीय से चतुर्थ शताब्दी तक खण्डन कर महायान सम्प्रदाय का विकास किया। जबकि छठी शताब्दी से गौड़पाद, शंकर आदि विद्वान आचार्यो ने बौद्धों का भारत से सफाया कर दिया।

स्वतन्त्रविज्ञानवाद और वेदान्त :- विज्ञानवाद एवं स्वतन्त्रविज्ञानवाद का मुख्यभेद यह है कि आलयविज्ञान को भी स्वतन्त्रविज्ञानवादियों ने क्षणिक कहा है। आचार्य शंकर आदियों ने स्वतन्त्रविज्ञानवादियों के इस क्षणिकविज्ञानवाद को ही विज्ञानवाद शब्द से खण्डन किया है। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि स्वतन्त्रविज्ञानवादियों के द्वारा न्यायादि परमतखण्डन के लिये प्रयुक्त युक्ति एवं तर्क जो कि कुमारिल भट्ट द्वारा श्लोकवार्तिक में दर्शाया गया है उनको वेदान्त में यथावत् स्वीकार किया हैं। लेकिन आत्मा को क्षणिकविज्ञान सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त तर्क एवं युक्तियों का केवल शंकरादियों ने खण्डन किया है। शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह एवं वेदान्त की माण्डूक्य कारिकावली में रचनाशैली की भी समानता है। बौद्ध कहते हैं-

'तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः ।'

(तत्त्व. 350)

(नित्यता के कथन से उनका दर्शन थोड़ा अपराध से युक्त है।)

वेदान्ती कह सकते हैं-

'तेषामल्पापराधं तु दर्शनं क्षणिकोक्तितः ॥'

[क्षणिक का कथन से उनका दर्शन थोड़ा अपराध से युक्त है।]

नैरात्मयवाद और वेदान्त :- बौद्धदर्शन में नैरात्म्यवाद का अर्थ विशुद्ध नित्य चैतन्य आत्मा ब्रह्म का खण्डन नहीं है अपितु आत्मा शब्द को बौद्धों ने ज्यादातर अनादिमाया अथवा संवृत्ति अर्थात् अविद्या एवं उसके कार्य वासना से परिकल्पित जीव के लिये प्रयोग किया है, जिसका खण्डन करते हुए उन्होने नैरात्म्यवाद की स्थापना की है। लेकिन कुछ बौद्धों तथा वेदान्तियों ने इसको सर्ववैनाशिकवाद के रूप में प्रस्तुत कर घोर अनर्थ किया है और व्यर्थ की लड़ाई लड़ते हैं, क्योंकि जैसा पूर्व में स्पष्ट किया गया है-बौद्धों ने नित्यशुद्ध चैतन्य ब्रह्म के लिये बोधि, प्रज्ञा, चित्त, बोधिचित्त, तत्त्व, विज्ञान, चित्तमात्रा, विज्ञानमात्रा, विज्ञप्तिमात्रा, तथता, तथागतगर्भ, धर्मधातु, धर्मकाय, बुद्धकाय, आदि शब्द प्रयोग किया है। केवल अश्वघोष ने अपने सौन्दरानन्द नामक ग्रन्थ में उसके लिये भी आत्मा शब्द प्रयोग किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण के तात्पर्यार्थ को मज्झिम निकाय में लिखा है-

'केवलो परिपूरो बालधम्मो ।'

(म.नि.1.1.2)

[यह आत्मा=जीवभाव वास्तव में बाल (अविद्वान्) के द्वारा परिकल्पित धर्म है। अतः केवलत्व अथवा परिपूर्णत्व आदि भ्रान्ति है क्योंकि परिछिन्न वस्तु केवल एवं पूर्ण नहीं हो सकता।] इससे स्पष्ट है कि आत्मा शब्द से संसार में आसक्त जीव को लेकर ही उसके मिथ्यात्व (सांवर्त्तिकता) का कथन कर नैरात्म्यवाद का कथन किया है। अतः धर्मनैरात्म्य और धर्मीनैरात्म्य का अर्थ है-दृश्यात्मक जगत् और इसका द्रष्टा परिच्छिन्नजीव दोनों सांवर्त्तिक हैं। इन बातों को नागार्जुन ने-माध्यमिक कारिका में, स्पष्ट किया है आर्यदेव ने चतुःशतक में, चन्द्रकीर्ति ने माध्यमकावतार में, शान्तिदेव ने अपने बोधिचर्यावतार में, असङ्ग ने महायानसूत्रालंकार में, वसबन्धु ने विंशिका में, धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में तथा

शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में स्पष्ट कहा है। इन सभी विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में जीवात्मा के लिए आत्मा, पुद्‌गल, सत्त्व, सत्‌काय इत्यादि शब्द प्रयोग किये हैं। ब्रह्म के लिये महायान सूत्रों में स्पष्टत: इन शब्दों का प्रयोग किया है- प्रपञ्चशून्य, अतर्क्य, सर्ववाग्विषयातीत, अद्वय, अचिन्त्य, अनक्षर, अनभिलप्य, अत्यन्तविशुद्ध, प्रत्यात्मवेद्य इत्यादि। वेदान्त के मोक्षस्वरूप एवं वास्तविक बौद्धों के मोक्ष स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अष्टसाहस्रिक, शतसाहस्रिक, सद्‌धर्मपुण्डरीक, महायानसूत्रालङ्कार इत्यादि ग्रन्थों में प्रत्यात्मवेद्य बोधिस्वरूप की अनुभूति को ही मोक्ष कहा है, उसी को वेदान्त के शब्दों में ब्रह्मानुभूति कहते हैं।

क्षणभंगवाद :- हीनयान एवं स्वतन्त्रविज्ञानवादियों द्वारा बोधि में क्षणभङ्गवाद स्वीकार करने से बौद्धदर्शन में भंयकर परिस्थिति उत्पन्न हुई, जिसको विषय बनाकर विरोधियों ने बौद्धदर्शन का सफाया किया है। खण्डनखण्डखाद्यकार श्री हर्षमिश्र केवल नित्य चैतन्य माननेवाले शून्यवाद और विज्ञानवाद को वेदान्त से अभिन्न मानते हैं। उपनिषदों में दृश्यरूपी जगत् के क्षणिक सिद्धान्त को कठ में नचिकेता द्वारा, बृहदारण्यक में मैत्रेयी द्वारा लक्षित किया गया है। द्रष्टा का जो जीवभाव है उसकी क्षणिकता के बारे में याज्ञवल्क्य कहते हैं।-

'इदं महद्‌भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति'

(बृह. 2.4.13)

[यह महाभूत-परमात्मा (अपरिच्छिन्न कूटस्थ), अनंत = कारणरहित, अपार = कार्यरहित, विज्ञानधन - विशुद्धप्रज्ञतिमात्रैकरस ही है। यह (जीव) इन देहादि उपाधियों के साथ सत्यशब्द-वाच्य भूतों से प्रकट होकर उनके नाश के पीछे (साथ-साथ) नष्ट हो जाता है।]

इस पर मैत्रेयी कहती है-

'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्'

(बृह. 2.4.13)

[मैत्रेयी- 'संज्ञा नहीं रहती- ऐसा कहकर आपने मुझे मोह में डाल दिया।']

तब स्पष्ट करके याज्ञवल्क्य बोले-

**'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति.........
यत्र वास्यसर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं जिघ्रेत........'**

(बृह. 2.4.14)

[यत्र =जिस अविद्या अवस्था में (परमार्थत: अद्वैत ब्रह्म में) द्वैत-सा प्रतीत होता है, वहाँ पर ही अन्य-अन्य को सूँघता है.......... जहाँ पर सब कुछ आत्मा ही हो गया(अर्थात् अविद्या की निवृत्ति से द्वैत प्रतीति की निवृति होने पर) वहाँ (अद्वैत आत्मस्वरूप में) किससे किसको सूँघे...... ।]

अर्थात् देहेन्द्रिभाव से मुक्त होकर (मैं अमुक हूँ, इत्यादि) विशेषसंज्ञा इसकी नहीं रहती है।........... । इस उपनिषद् वाक्य में और स्पष्ट है-

'नहि द्रष्टुः दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ।'

(बृह. 4.3.23)

अर्थात् [इस द्रष्टा (सोपाधिक चैतन्य=जीव) का भी जो दृष्टि है निरुपाधिक चैतन्य =शुद्धब्रह्म = सर्वकल्पना अधिष्ठान, उसका विपरिलोप = नाश नहीं होता]

तात्पर्य यह है कि कल्पित यह जीव और जगत् (द्रष्टा एवं दृश्य) का अविद्या से निवृत्ति होने पर भी नित्य चैतन्य ब्रह्म का लोप = नाश = निवृत्ति नहीं होती है। अत: द्रष्टा, दृश्य अर्थात् धर्म एवं धर्मी को क्षणिक मानना उपनिषद् सम्मत है और इन सबकी कल्पना के अधिष्ठान को नित्य चैतन्य मानना उचित है जो शून्यवाद एवं विज्ञानवाद में स्वीकृत किया गया है। अत: शंकरादि द्वारा, हीनयान एवं स्वतन्त्रविज्ञानवादी जो आधारभूतचैतन्य में भी क्षणभङ्गवाद लागू करते हैं, उसका खण्डन किया गया है। वेदान्त में जीवों का (अर्थात् द्रष्टृगत) क्षणिकत्व भी उपाधिदृष्ट्या ही है-यह यहाँ ध्यान देने योग्य विषय है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बौद्ध वेदान्त समीक्षा :- सृष्टि के आदि काल से बुद्ध भगवान् से पूर्व काल पर्यन्त वैदिक सनातनधर्म का पूर्ण विकास इस भारत में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में हुआ। लेकिन कालक्रमेण सामाजिक परिवेषों के कारण मिथ्याचार की अभिवृद्धि, वर्णव्यवस्था में विकृति एवं वैदिक कर्मकाण्ड का केवल एक आडम्बर का स्वरूप धारण करना तथा जैनधर्म के अवैदिक स्वरूप के विकास से समाज की अत्यन्त दयनीय परिस्थिति में वैदिक सनातन धर्म का परिष्करण एवं परिवर्धन के लिये भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। इस कथन में प्रमाण यह है कि असली ब्राह्मण को सन्त कहकर बुद्ध ने सुत्तनिपात-35 में प्रशंसा किया है, और त्रिपिटक में औपनिषदिक सिद्धान्त के खिलाफ ऐसी कोई बात नहीं है। किन्तु बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् हीनयानमार्गियों ने उनके उपदेशों के तात्पर्य को न समझकर अनर्थ किया। यह अनर्थ करीब दूसरी शताब्दी तक खूब जोर पकड़ लिया था। दूसरी शताब्दी में सर्वप्रथम अश्वघोष ने आधारभूतचैतन्य को

सत्-चित्-आनन्द रूप घोषित किया और नागार्जुन ने महायान मार्ग के अनुरूप सिद्धान्तों को संग्रहकर 'महायानसूत्र' का निर्माण किया। तीसरी शताब्दी में आर्यदेव ने इसका और विकास किया। चौथी शताब्दी में शून्यवाद के द्वारा द्रष्ट्-दृश्य की व्यावहारिक सत्यता पर जोर नहीं दिया गया था, उसका विकास करके उनकी सांवर्तिकता की घोषणा विज्ञानवादी असङ्ग और वसुबन्धु ने की; जिससे बौद्ध एवं वेदान्त में केवल शाब्दिक भेद रह गया। पाँचवी शताब्दी में बौद्ध-वेदान्त की ऐक्यता को न सहन करते हुए, भेद लाने के लिये गड़ेमुर्दे को उखाड़ने के समान, दिङ्नाग ने हीनयान के सिद्धान्तों के आधार पर स्वतन्त्रविज्ञानवाद की स्थापना की, जो कि विशुद्धचैतन्य को भी क्षणिक कहकर मानो बौद्ध दर्शन को मौत की ओर ढकेल दिया। धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित ने बौद्धदर्शन में जो भी थोड़ी जान रही हो उसे भी समाप्त कर दिया। छठी शताब्दी में गौड़पादजी ने अन्त्येष्टि कर दी। सातवीं एवं आठवीं शताब्दी में आचार्य कुमारिलभट्ट और आचार्य शंकर ने वर्षगाँठ मनाने के समान बौद्ध दर्शन का भारत से सफाया कर दिया और पुनः वैदिक सनातनधर्म की स्थापना की। यद्यपि इस बीच में छठीं शताब्दी में भावविवेक ने स्वतन्त्रमाध्यमिकमार्ग द्वारा कुछ सेतु बाँधने की चेष्टा की थी, किन्तु छठी शताब्दी में ही बुद्धपालित ने प्रासङ्गिक-माध्यमिक सिद्धान्त प्रस्तुत कर स्वतन्त्रमाध्यमिक का खण्डन किया तथा सातवीं शताब्दी में शून्यवादी चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव बौद्ध-वेदान्त सामञ्जस्य के लिये कुछ कर ही रहे थे कि उसी समय स्वतन्त्रविज्ञानवादी धर्मकीर्ति हुए। कुमारिलभट्ट मीमांसक ने इनके परस्पर विरोधी तर्कों का लाभ उठाया और अपने श्लोकवार्तिक में बौद्धदर्शन का पूर्णरूपेण खण्डन किया। आठवीं शताब्दी में शान्तरक्षित और कमलशील ने तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थों में स्वतन्त्रविज्ञानवाद को पुनः स्थापित करना चाहा लेकिन उसी समय आचार्य शंकर हुए जिससे कि शान्तरक्षित को अपने शिष्य कमलशील के साथ भारत छोड़कर तिब्बत में शरण लेनी पड़ी। इसके बाद एक तरह से बौद्धदर्शन भारत में पुनः किसी रूप से पल्लवित न हो सका। शांकरोत्तर वेदान्तियों में से खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष ने हमारे द्वारा प्रस्तुत बौद्ध-वेदान्त की सामान्यताओं को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है इसलिये हमारे कथन में वे अन्तिम प्रमाण है।

卐

30. 'अरविन्द दर्शन'

श्री अरविन्द आधुनिक युग के वेदान्त दार्शनिक माने जाते हैं। वे 'समग्राद्वैतवेदान्तदर्शन' के रचयिता हैं, उनके अनुसार उनके दर्शन का आधार उपनिषद् एवं स्वानुभव है। उनका प्रमुख ग्रन्थ है दिव्यजीवन। यद्यपि इन्होंने रामानुजादि के समान ब्रह्मसूत्रादि प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्यादि नहीं लिखा है तथापि उनके अपने कथनानुसार उपनिषदों पर आधारित ब्रह्मतत्त्व, जीव, जगत् आदि पर जो विचार प्रकट किये हैं उसे ही समग्राद्वैत वेदान्तदर्शन कहा जाता है; जिसका हम संक्षेप में वर्णन करेंगे।

श्री अरविन्दजी मानते हैं कि वास्तविक सत्य तत्त्व ब्रह्म ही है। वह दिव्य, नित्य, पूर्ण, अनन्त, निर्गुण, अनिर्वचनीय, स्वतन्त्र, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। हम सब के भीतर विराजमान प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न होने से हमारे अनुभव का विषय है। वह निर्गुण होता हुआ सगुण, एक होता हुआ अनेक, कारण होते हुए कार्य भी है। यह स्वरूप औपाधिक नहीं अपितु उसकी स्वातन्त्र्यता की महिमा है। अतः जीव, जगत्, ब्रह्म तीनों ही सत्य है। ब्रह्म का सत् स्वरूप-आत्मा, पुरुष एवं ईश्वर के रूप में अपनी अनन्त अभिव्यक्तियों का अर्थात् अनेकता का स्रोत है, क्योंकि उनके अन्तर्गत अव्यक्तरूप से विद्यमान् है तथा उनकी एकता स्वरूप के साथ तादात्म्य है। ब्रह्म का चित्स्वरूप-माया, शक्ति एवं प्रकृति के रूप में जगत्

का स्रष्टा एवं नियन्ता है। ब्रह्म का आनन्द स्वरूप सकल अभिव्यक्ति के आधार के रूप में दीखता है।

'तस्य मात्रामुपजीवन्ति'

(बृह. 4.3.32)

[ये जीव इस आनंद की एक मात्रा (बूंद) का ही उपभोग (अनुभव) करते हैं।]

यह चित्शक्ति माया अथवा प्रकृति ही है जो कि ब्रह्म की स्वाभाविक स्वरूपभूता शक्ति है, वही अपरिच्छिन्न ब्रह्म को परिच्छिन्न एवं निराकार को साकार बनाती है। ब्रह्म ही अपनी आनन्द रूपता के वजह से जगत् के रूप में लीला-मात्र (मौजमात्र) के लिये अभिव्यक्त होता है। इसमें ये क्षतियाँ प्रमाण हैं-

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।'

(तैत्त. 3.6)

[आनंद रूप ब्रह्म से ही ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं।]

'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेयः'

(छांदो 6.2.3)

[मैं जो एक हूँ, बहुत प्रकार से उत्पन्न होऊँ (अर्थात् प्रकट होऊँ)।]

ब्रह्म की इस समग्ररूपता के अनुभव को **अतिमानसचेतना** नाम से श्री अरविन्द कहते हैं। **मन** सीमित चेतन होने से वह **'विरोध के नियम'** के अनुसार असमग्र का अनुभव करता है किन्तु **अतिमन** अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह **'अनन्त के तर्क'** के अनुसार समग्रब्रह्म का अनुभव करता है। वह (अतिमन) ब्रह्म की असीमित ज्ञानशक्ति का स्वरूप है। इस समग्रता के अनुभव के साथ अपने एकत्वस्वरूप का अनुभव [अर्थात् अवरोहण प्रक्रिया से उत्पन्न सकल तत्त्वों में लीन होकर सक्रिय, सीमित और अनेकरूप ब्रह्म को आरोहण प्रक्रिया से ब्रह्म के निजस्वरूप निष्क्रिय, असीम और एकरूपता को अपने में अनुभव] कर लेना ही अद्वैततत्त्वानुभूतिरूपी मोक्ष है।

अरविन्द के समग्राद्वैतवेदान्तदर्शन का आधारभूत उपनिषद् मन्त्र है-

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

(छांदो. 3.14.1)

अत: उनका कहना है कि- ब्रह्म के स्वरूप एवं क्रिया को उसकी चेतना अर्थात् अनन्त चेतना (अनन्त के तर्क) के आधार पर देखना चाहिये। तदनुसार

ब्रह्म एक समग्र सत्ता है, वह एक एवं अनेक और निष्क्रिय एवं सक्रिय है। ब्रह्म में ये आपस में विरोधी नहीं है क्योंकि एकत्व अनेकता का और निष्क्रियत्व सक्रियता का स्रोत है। इसलिये अपनी एकता एवं निष्क्रियता के कारण वह अपने में अभिव्यक्त अनेकता और सक्रियता से अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखते हुए उनको अभिव्यक्त ही नहीं बल्कि उनका निदेशन भी करता है, उनका अपने में लय करता है तथा अपनी इच्छा से पुनः पुनः अभिव्यक्त करता रहता है। अतः यह जगत् ब्रह्म की साक्षादभिव्यक्ति होने से सत्य है। इसलिये जगदादि सकल तत्त्वों की व्याख्या आत्मा-माया, पुरुष-प्रकृति तथा ईश्वर-शक्ति इन तीन सूत्रों से करते हैं। ब्रह्म के पुनः दो स्वरूप है-अवैयक्तिक और वैयक्तिक। जगत् के स्रोत के रूप में अवैयक्तिक एवं जीवों में आत्मा के रूप में ब्रह्म वैयक्तिक है।

ब्रह्म से जगत् की व्याख्या-ब्रह्म अपनी चित्शक्ति की **'स्वयं निर्धारिका'** शक्ति द्वारा अपने आत्मज्ञान में अपनी अनेकरूपता की अभिव्यक्ति की एक विशेष संभावना का प्रत्यक्ष करके **'सृष्टिशक्ति'** की सहायता से संभावना के अनुसार **'स्वयं निदेशिका'** शक्ति से जगत् की सृष्टि का निदेशन करता है। चित् शक्ति सामान्य के इस विशेष शक्तित्रय का नाम ही **माया** है। यह इसलिये हो सकता है क्योंकि चेतन के दो पक्ष हैं-प्रकाशन और कार्यजनन। इसलिये माया ब्रह्म की वह शक्ति है जो ब्रह्म में अव्यक्तरूप से छिपे हुए नाम और रूप को पहले प्रकाशन करके अन्तर्दर्शन करती है, तत्पश्चात् उन्हें अपने में धारण करके उन्हें आकार प्रदान करती है। वह परिदृश्यमान जगत् ब्रह्म की अनन्त अभिव्यक्तियों की संभावना में से एक है और वह (जगत्) ब्रह्म के चेतन स्वभाव का विरोधी जड़स्वरूपवाला है। इसमें ब्रह्म अपने को अन्तर्लीन करता है-

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

(तैत्त. 2.6)

इस प्रकार ब्रह्म जड़ एवं जड़ के विकसितरूप शरीर-मन-प्राण रूपी मनुष्यदेह में अपने आपको प्रकट करता है। माया से ब्रह्म का अनेकरूप होना, सीमित होना तथा अन्तर्लीन होना-ये माया की शक्यताएँ हैं। मनुष्यदेह पर्यन्त अन्तर्लय प्रक्रिया से ब्रह्म के जड़रूप में प्रकट होने को **अवरोहण** कहते हैं और अचेतन में से विकसित होकर अपने जड़भाव से उभरकर अपने निजस्वरूप अतिचेतन के रूप में इसी जन्म में, इसी शरीर में, इसी पृथिवी पर प्रकट होने को **आरोहण** कहते हैं। आरोहण प्रक्रिया से मुक्ति होती है और अवरोहण प्रक्रिया से सृष्टि होती है।

अवरोहण प्रक्रिया में सर्वप्रथम निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय होता है अर्थात् अपने ज्ञान में स्थित अनेक अभिव्यक्तिरूपी अनेक संभावनाओं में से एक संभावना को प्रत्यक्ष कर तदनुसार जगत् की सृष्टि का निदेशन करता है। इसी सक्रिय ब्रह्मस्वरूप को माया, अतिमन, अतिमानस चेतना आदि शब्दों से श्री अरविन्द कहते हैं। इस रूप में ही ब्रह्म को जगत्स्रष्टा माना गया है। अत: अतिमन को वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्रव्यापक, सत्यसंकल्प, ऋतचित्त, आदर्श आदि सर्वगुणसंपन्न मानते हैं। अतिमन की दृष्टि ही अरविन्ददर्शन का आधार है क्योंकि अतिमन समग्रविश्वचेतना है अर्थात् एकता में अनेकता विद्यमान है तथा अनेकता में एकता व्याप्त भी है। अत: यह ज्ञान की अवस्था विशेष है, शंकरादि वेदान्ती के समान अज्ञान अथवा माया नहीं। इसलिये ध्यान रखें अरविन्ददर्शन में माया मिथ्या नहीं है। श्री अरविन्द अज्ञान की अवस्था तब मानते हैं जब ये अनेकताएँ अपने में स्थित एकता के प्रति अचेतन हो जायेंगी तथा अपने को स्वयं सत्रूप और दूसरों से पृथक् अनुभव करने लगेंगी। इसके लिये अतिमन की तीन अवस्थायें मानते हैं। प्रथम अन्तर्दृष्टि, दूसरी अभिमुखशक्ति और तीसरी अनुप्रवेश। प्रथम और दूसरे में अद्वैतप्रधान द्वैतअप्रधान रूपी अद्वैतद्वैतभाव है एवं तीसरी में द्वैत प्रधान अद्वैत अप्रधानरूपी द्वैताद्वैतभाव है। पहली में अपने आत्मा में तादात्म्य भाव से अनेकताओं का अन्तदर्शन करता है; दूसरी में अनेकताओं को अपने ज्ञान एवं इच्छा के अनुसार पृथक् पृथक्कर व्यावहारिक भेदों की उत्पत्ति करता है तथा तीसरी में अनेकताओं से अलग न रहकर उनमें प्रवेश करता है-

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

(तैत्त. 2.6)

[उनकी (भूतों की) सृष्टि करके, वह (ब्रह्म) ही स्वयं उनमें प्रवेश करता है।]

यद्यपि इस तरह खण्डभाव आ गया तथापि यह 'मानो' की दशा में है क्योंकि इन तीनों अवस्थाओं में अतिमन अनेकताओं में भेदपूर्ण व्यवहार करते हुए भी एकता का ज्ञान रखता है। वास्तविक खण्डभाव तब होगा जब उस एकताज्ञान को भूल जायें। इसके लिये अतिमन का अवरोहण मन के स्तर तक होना आवश्यक है। इस अवरोहण की सिद्धि के लिये दिव्यमाया के दो पक्ष माने हैं-विद्यामाया और अविद्यामाया। अतिमन की अवस्था विद्यामाया से तथा वास्तविक भेद युक्त अनेकता अर्थात् एकत्व को विस्मृत कर वास्तविक खण्डभाव अविद्यामाया से मानते हैं।

वास्तविक एकत्व ब्रह्म, एकत्व में अनेकत्व तथा अनेकत्व में एकत्व रूपी अतिमन और वास्तविक अनेकत्व प्रत्यगात्मा-यही प्रपञ्च के रूप में ब्रह्म का अवरोहण है। अतः अज्ञान अरविन्द की भाषा में चेतना का अन्यापवर्जी सकेन्द्रीकरण है। ब्रह्म की चेतना मन में भी है, अतः पूर्णरूप से अचेतन नहीं है। अतः मन से चेतना का पतन प्राण में, प्राण से जड़ में होता है। इस प्रकार चेतन, अवचेतन, अचेतन क्रम से सच्चिदानन्द जड़रूप को प्राप्त करता है। इस प्रकार अवरोहण की आठ सीढ़ियां हैं-सत्, चित्, आनन्द, अतिमन, मन, प्राण, जड़ और अन्तरात्मा। प्रथम 4 ज्ञानावस्था और अन्तिम 4 अज्ञानावस्था की हैं। इसी दो विभाग को परार्ध और अपरार्ध कहते हैं। परार्ध स्वतन्त्र है और उनके अधीन अपरार्ध होते हैं-अतिमन के अधीन मन, चित् के अधीन प्राण और सत् के अधीन जड़ अपने अपने कार्य करते हैं किन्तु अन्तरात्मा आनन्द के अज्ञानक्षेत्र में केवल प्रक्षेपणरूपी कार्य है। अतः अन्तरात्मा के दो रूप हैं-बाह्य और अन्तः। बाह्यरूप सकाम आत्मा है और अन्तःरूप निष्काम आत्मा। यह निष्काम आत्मा ही वास्तविक आत्मा अर्थात् ब्रह्म का इस जगत् में प्रतिनिधि है। ब्रह्म के पतन द्वारा जीव भाव कि प्राप्ति पर्यन्त यह अवरोहण की प्रक्रिया है।

अब आरोहण प्रक्रिया पूर्वक मोक्ष के बारे में विचार करें। सर्वप्रथम सकाम-आत्मा का आधार निष्काम आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर (अर्थात् सकाम आत्मा गौण हो एवं निष्काम आत्मा प्रधान होकर) जब बाह्य प्रकृति का संचालन करें तब हमारे मन, प्राण, शरीर एवं उनकी ग्रन्थियों को सत्य, समुचित, न्याय और सुन्दर बनाकर अन्तरात्मिक प्रतिरूपी में ढाला जा सकता है जिससे कि आरोहण की यात्रा आरम्भ की जा सकती है, इसे **'चैत्य-रूपान्तर'** कहते हैं। इन लौकिक पदार्थों में आसक्त साधारण मन को ऊपर उठाकर अतिमन की ओर आगे बढ़ने में आध्यात्मिक मन के 4 स्तर मानते हैं-उच्चमन, प्रदीप्त मन, अन्तर्मन एवं अधिमन। इन स्तरों की प्राप्ति द्वारा शरीर, मन व प्राण के रूपान्तरण को **'आध्यात्मिक रूपान्तर'** कहते हैं। अतिमन को प्राप्त कर उसका शरीरादि में अवतरण पूर्वक शरीरादि के रूपान्तर को **'अतिमानसरूपान्तर'** कहते हैं। तत्पश्चात्-श्री अरविन्द सर्वात्मभावानुभूति द्वारा समग्राद्वैत प्राप्ति से आरोहण समाप्त होकर मोक्ष प्राप्ति मानते हैं।

卐

उपसंहार

अरविन्ददर्शन के अध्ययन से ऐसा लगता है कि श्री अरविन्द मनोविज्ञान और आधुनिक विकासवादी वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। पारम्परिक गुरु के मार्गदर्शन का अभाव झलकता है। कुतर्क प्रधान होना विवेकाभाव दर्शाता है। अतः अपने दर्शन को भले ही उपनिषद् मूल कहें किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। इसलिये किसी विद्वान ने रामानुजादि की, जो उपनिषदों को उपनिषद् दृष्टि से न समझकर बुद्धिकुशलता एवं मन की तार्किकशक्ति पर आधारित व्याख्याओं को देखकर ठीक ही कहा है-

'नीतिज्ञो नियतिज्ञः शास्त्रज्ञोऽपि वेदज्ञाः ।
ब्रह्मज्ञोऽपि सुलभाः स्वाज्ञानज्ञो विरलाः ॥'

यद्यपि यह उक्ति शतप्रतिशत सत्य है तथापि समस्त मानव जाति औपनिषदिक प्रमुख सिद्धान्त अजातवाद, गौणसिद्धान्त मायावाद का अधिकारी नहीं है। अतः मंजिल चढ़ने के लिये जैसे अनेक सीढ़ियां होती हैं उसी प्रकार ब्रह्मानुभूति के योग्य तीक्ष्ण बुद्धि के लिये ये विभिन्न दर्शन सीढ़ियों के समान होने से व्यर्थ नहीं है। भोगवाद में डूबे हुए संसारी को उस दयनीय दशा से निकालकर उसकी बुद्धि को जगत्, जीव, ईश्वर आदि तत्त्वों के वास्तविकरूप का विवेक कराते हुए पारमार्थिक सत्य की ओर ले जाने के लिए चार्वाकादि से लेकर शंकरोत्तर वेदान्त तक की

विचारधारा की अत्यन्त आवश्यकता है। आधुनिक विज्ञान के स्वाद से युक्त बुद्धि के लिये अरविन्द की व्यवस्था कुछ दूर तक आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुँचने के लिये उपयोगी होने से हमने इसका समावेश किया है। आशा करता हूँ पाठकगण को अपने उद्देश्य एवं लक्ष्य की प्राप्ति में यह सर्वदर्शनसार उपयोगी होगा।

卐

हरि: ॐ तत्सत्

परिशिष्ट-1

'ख्याति पञ्चकम्'

'आत्मख्यतिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥1॥
योगाचारो माध्यमिकस्तथा मीमांसकोऽपि च ।
नैयायिकोऽद्वैतिनश्च ख्यातिरेताः क्रमाज्जगुः ॥2॥
(वि.वि. 1.1.2)

अर्थ-आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति-ये पाँच ख्यातियाँ हैं। ये क्रम से योगाचार विज्ञानवादी, माध्यमिक शून्यवादी, मीमांसक, नैयायिक और अद्वैत वेदान्तियों को सम्मत हैं।

1. **आत्मख्यातिः** :-

बौद्धों में चार मत हैं-माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें से योगाचारमत में **'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं'** अर्थात् क्षणिकविज्ञान (बुद्धि) को आत्मा मानते हैं। क्षणिकविज्ञान से अतिरिक्त बाह्य अर्थ (वस्तु) कुछ भी नहीं है। तो भी अनादि संवृत्ति (अविद्या) वश प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला विज्ञान ही ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि बाह्याकार रूप से पृथक्-पृथक् अवभासित होता है। वही भ्रम है। अतः इन्हें क्षणिक-विज्ञानवादी अथवा बाह्यार्थ शून्यवादी कहते हैं।

इस मत में अध्यास का लक्षण यह है-

'अन्यत्रान्यधर्मावभासः'

[अन्यवस्तु के धर्म का अन्यवस्तु में अवभास अध्यास है।]

जैसे-अन्य का धर्म = विज्ञानरूप आत्मा का धर्म = आकार विशेष, जो = रजत आदि, उसकी = रजतादियों की अन्य में = बाह्य असत् शुक्ति आदि में प्रतीति ही अध्यास है। यद्यपि योगाचार मत में बाह्य कोई भी पदार्थ नहीं है तथापि अनादि अविद्या वश क्षणिक विज्ञान ही रजत आदि अनेक आकारों से असत् बाह्य पदार्थों में अवभासित होता है। अतः 'नेदं रजतम्'-इस ज्ञान से असत् बाह्य रजत का बाध होने पर भी वह आन्तर विज्ञान रूप से है क्योंकि इनके मत में प्रतीयमान रजत आदि तथा उनका अधिष्ठान शुक्ति आदि आकार विशेष, आन्तर क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा के ही आकार विशेष हैं। आत्मा ही अनेक आकारों में प्रतीत होता है। इसलिये इसे 'आत्मख्याति' कहते हैं ।

2. **असत्ख्यातिः** :-

सर्व शून्यवादी माध्यमिक के मत में **'सर्वं शून्यं शून्यं'** सिद्धान्त है अर्थात् बाह्य और आन्तर सब शून्य है। अतः यह सर्वशून्यवादी है। इसलिये इनके मत में अध्यास का लक्षण इस प्रकार है-

'यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनात्वं ।'

[जिसमें जिसका अध्यास हो उसमें उस के विपरीतधर्म की कल्पना को अध्यास कहते हैं।]

जैसे-जिसमें=अत्यन्त असत् शुक्ति में, जिसका = रजतादि का अध्यास होता है, उसमें = उस अत्यन्त असत् शुक्ति में, उस शुक्ति के विपरीतधर्म = अत्यन्त असत् रजतादि की रजतादि रूप से कल्पना अथवा प्रतीति को अध्यास कहते हैं। अतः अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति को असत्-ख्याति कहते हैं। यही भ्रान्ति है।

3. **अख्यातिः** :-

सांख्य दर्शन, योगदर्शन एवं प्रभाकर मीसांसक के मत में भ्रान्ति के स्वरूप को अख्याति कहते हैं। इनके मत में अध्यास का लक्षण इस प्रकार है-

'यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः ।"

अर्थात् [जिसमें जिसका अध्यास लोकप्रसिद्ध हो उन विषयों के ज्ञान का भेद ग्रहण न होने के कारण भ्रम होता है।]

जैसे-जिसमें = शुक्ति आदि में जिसका=जिस रजत आदि का अध्यास लोक प्रसिद्ध है वहाँ उन दोनों विषयों (शुक्ति और रजत) के ज्ञान **'इयं शुक्ति'** और

'**इदं रजतम्**' का भेद ग्रहण न होने के कारण-इदं रजतम् (यह रजत है) ऐसा विशिष्ट व्यवहार होता है। यही भ्रम है। तात्पर्य यह है कि इनके मत में भ्रम स्थलों में शुक्ति आदि से सदोष नेत्र का सम्बन्ध होने पर शुक्तित्वादि विशेषांश प्रतीत नहीं होता किन्तु सामान्यांश 'इदं' (यह) प्रतीत होता है और सदोष नेत्र का शुक्ति के साथ अस्पष्ट सम्बन्ध से सादृश्यादि द्वारा झटिति रजतादि के संस्कार उद्भूत होकर रजतादि की स्मृति को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि स्मृति में तदंश (वह) की प्रतीति होती है परन्तु दोषवश वह लुप्त हो जाती है। इसलिये भ्रम स्थलों में दो ज्ञान होते हैं, 'इदमंश' का नेत्रों से प्रत्यक्षज्ञान हुआ है और 'रजत आदि' अंश का स्मृति ज्ञान हुआ है। अतः ये दोनों ज्ञान सत्य है। इनके विषय भी सत्य हैं।

किन्तु दोनों ज्ञान और दोनों विषयों का भेद ग्रहण न होने के कारण 'इदं रजतम्' इत्यादि विशिष्ट व्यंवहार होता है जिससे प्रवृत्ति भी होती है। इसलिये इनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं है, अपितु ज्ञानमात्र सत्य है।

4. **अन्यथाख्यातिः** :-

न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन एवं भाट्ट मीमांसकों (कुमारिल भट्ट के अनुयायियों) के मत में भ्रम को 'अन्यथाख्याति' कहते हैं। इनके मत में अध्यास का लक्षण यह है-

'अन्यत्रान्यधर्मावभासः'

यद्यपि यह योगाचार क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध मत में कहे गये लक्षण के समान है तथापि अर्थ में अन्तर है। क्योंकि इनके अनुसार लक्षण का अर्थ इस प्रकार है- अन्यधर्म- दूरस्थ दुकानादि में स्थित रजतादि धर्म का, अन्यत्र- समीपस्थ शुक्ति में नेत्रादि दोष के कारण, अवभास- दिखाई देना (अनुभव) ही अध्यास अथवा भ्रम हैं। तात्पर्य यह है कि भ्रमस्थल से भिन्न दुकानादि देशस्थ अनुभूत रजत आदि की नेत्र के दोष से अन्यत्र - शुक्ति आदि में प्रतीति ही भ्रान्ति है। यह प्राचीन नैयायिकों का कथन है।

किन्तु नव्य नैयायिक चिन्तामणिकार श्री गंगेशोपाध्यायजी इसका खण्डन करते हैं - यदि नेत्र दोष के कारण भ्रम से पूर्व दुकानादि में देखे गये रजत आदि के संस्कार जाग्रत होकर, भ्रमस्थल में प्रतीत होते हैं तो पूर्वोक्त अख्यातिवादी मीमांसकादि के समान दो ज्ञान मानने पड़ेंगे; जिससे अनेक दोष होंगे। परस्पर मतों का खण्डन आगे प्रदर्शित किया जायेगा। यदि कहें - नेत्र दोष से दूरस्थ रजत आदि की सम्मुख शुक्ति आदि में साक्षात् प्रतीति होती है तो यह प्रश्न उठेगा कि -

भ्रमस्थल एवं दुकान के बीच में विद्यमान वृक्ष आदि अन्य पदार्थो की प्रतीति क्यों नहीं होती? उनकी प्रतीति होनी चाहिये किन्तु नहीं होती है। अतः नेत्र आदि दोष से शुक्ति आदि की रजतादि के रूप से प्रतीति होना भ्रान्ति है।

5. **अनिर्वचनीय ख्याति** :-

शांकर वेदान्त मत में -

'सदसद्विलक्षणप्रतीतिरध्यासः'

यह भ्रम का लक्षण है। इनके मत में भ्रम को अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। जैसे 'इदं रजतम्' इस भ्रान्ति का विषय 'रजत' अनिर्वचनीय है। 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान से बाधित होने के कारण सत् नहीं है और प्रतीति का विषय होने के कारण गगनकुसुम आदि के समान 'असत्' भी नहीं। सत् असत् उभयात्मक तो हो नहीं सकता क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो धर्म एक में असंभव हैं। फलतः उस स्थल में सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति होती है। इसलिये इसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति एवं प्रतीति कैसे होती है? (उत्तर ढूंढने से पूर्व 'प्रमा सामान्य' की उत्पत्ति का अन्वेषण संक्षेप में कर लेना चाहिए।) अन्तःकरण की वृति प्रकाशादि बाह्य सामाग्री से युक्त नेत्र द्वारा बाहर निकलकर विषय के समान आकार को प्राप्त कर विषय के आवरणभूत अज्ञान का नाश करती है और वृत्तिस्थ आभास विषय विशिष्ट चैतन्य के साथ एकीभूत होकर विषय को प्रकाशित करता है। तब बाह्य पदार्थों का चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रमा ज्ञान 'अयं घटः' इत्यादि उत्पन्न होता है।

लेकिन शुक्ति आदि में जब रजत आदि का भ्रम होता है, तब तिमिर आदि दोष के कारण अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा निकलकर शुक्ति आदि के साथ संबधित होने पर शुक्ति के आकार को धारण नहीं कर पाती है, अतः शुक्तिस्थ आवरण की निवृत्ति नहीं हो पाती। फलतः शुक्ति के विशेष अंश का ज्ञान न होने के कारण पूर्वानुभूत रजत के संस्कार जाग्रत होते हैं, जिससे शुक्ति से परिछिन्न चेतनस्थ अविद्या (अज्ञान) क्षुब्ध होकर अपने तमोगुण से रजताकार परिणाम को प्राप्त होती है। जिस समय जिस निमित्त से शुक्ति से परिछिन्न चेतनस्थ अविद्या का तमोगुण रजताकार परिणाम होता है, उसी समय उसी निमित्त से साक्षी चेतनस्थ अविद्या का सत्त्वगुण भी ज्ञानकार से परिणत होता है। इस प्रकार भ्रमस्थल में अनिवर्चनीय रजत आदि विषय और उसके ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। अतः

ब्रह्मसूत्र के संबंधभाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं -

'स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः'

-यह अध्यास का लक्षण है। इसमें **परत्रावभासः** - इतना ही लक्षण है, शेषशब्द स्मृतिरूप और पूर्वदृष्टः (ये दोनों) स्पष्टरूप से बोध कराने के लिये हैं।

परत्रावभासः का अर्थ है - अन्यत्र अन्य का अवभास होना। सभी के मतों को विवेचन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि यही सामान्यलक्षण सर्ववादी सम्मत है। क्योंकि विभिन्न मतों द्वारा स्वीकृत लक्षणों में दोष है। अतः वे त्याज्य हैं। अब प्रश्न उठता है कि उनमें दोष कैसे? इसका उत्तर है-

क्षणिकविज्ञानवादी एवं बाह्यार्थशून्यवादी योगाचार मत के आत्मख्याति में अप्रसिद्ध दोष है क्योंकि प्रतीयमान रजतादि आकार विशेष बुद्धिरूप हैं, ऐसा अनुभव किसी को भी नहीं होता। भ्रमस्थल तथा व्यवहार में अनुभूत रजत आदि की आन्तरता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है किन्तु सुख दुःखादि को आन्तर एवं रजतादि को बाह्य, यह तो सर्वानुभव सिद्ध है। अतः रजतादि पदार्थ स्वप्न के अतिरिक्त जाग्रत में आन्तर मानना अत्यन्त अप्रसिद्ध है अर्थात् भ्रमादि में सर्वानुभवसिद्ध बाह्य प्रतीत पदार्थ को आन्तररूप से कल्पना करना अत्यन्त अप्रामाणिक एवं तर्क युक्त न होने से अप्रसिद्ध दोष से ग्रस्त है। यदि रजतादि आन्तर होते तो 'मयि रजतम्' (मुझमें रजत है) अथवा 'अहं रजतम्' (मैं रजत हूँ।) ऐसा अनुभव होना चाहिये, न कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) जो कि अपने से अलग कुछ दूर प्रदेश में अनुभूत वस्तु की प्रतीति का बोधक है और रजतार्थी की बाह्य प्रवृति भी देखने को मिलती है। अतः आत्मख्याति असंभव दोष ग्रस्त भी है।

सर्वशून्यवादी माध्यमिक मत के असत्ख्याति में असंभव दोष है क्योंकि यदि अत्यन्त असत् रजतादि कि प्रतीति हो सकती है तो अत्यन्त असत् वन्ध्यापुत्र, गगनकुसुम, शशशृङ्ग आदि की भी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं। अतः अत्यन्त असत् रजत आदि की भ्रमस्थल में प्रतीति असंभव है।

अख्यातिवादी मीमांसकादि के मत में अनुभव विरुद्ध अथवा अप्रसिद्धि दोष है क्योंकि उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं है अपितु ज्ञान मात्र सत्य है। शुक्ति में हुआ रजत ज्ञान भी सत्य है क्योंकि वह प्रत्यक्ष एवं स्मृति ज्ञानों और उनके विषयों के भेद का अग्रहण से होता है। विशिष्ट व्यवहार मात्र भ्रम है और वही बाधित होता है। वास्तव में ऐसा नहीं है - क्योंकि शुक्ति में रजत भ्रम होने पर रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति निष्फल होती है जिससे भ्रमज्ञान अर्थात् ज्ञान का

मिथ्यात्व सिद्ध होता है। बाधज्ञान के अनन्तर - रजत की स्मृति और शुक्ति ज्ञान का भेद न ग्रहण होने के कारण रजत के लिये शुक्ति में मेरी प्रवृत्ति हुई थी - ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। स्मृति में तत्तांश का लोप इत्यादि अनेक कल्पनाओं की अपेक्षा एक विशिष्ट ज्ञान को भ्रम ज्ञान मानना युक्तियुक्त एवं अनुभवानुकूल होगा। अत: सर्वजनानुभव विरुद्ध होने के कारण यह मत भी दोष पूर्ण है।

नैयायिकादियों के मत में स्वीकृत अन्यथाख्यातिवाद भी उचित नहीं क्योंकि इस मत में भ्रमज्ञान का विषय देशान्तस्थ रजत (प्राचीन) अथवा रजतत्व (नव्य) को मानते हैं अर्थात् विषय सत्य है किन्तु ज्ञान मिथ्या। सत्य शुक्ति में सत्य रजत अथवा सत्य रजतत्व का जो संबंध प्रतीत होता है वही 'इदं रजतम्' इस मिथ्या ज्ञान का कारण है। अत: बाध भी केवल उस संबंधमात्र का होता है। लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि रजतार्थी पुरुष की निष्फल प्रवृत्ति के पश्चात् बाधज्ञान के अनन्तर - 'मुझे रजत की भ्रान्ति नहीं हुई थी किन्तु केवल दुकान के रजत को मैंने इस शुक्ति में नेत्र-दोष-वश संबधित कर लिया था' - ऐसा अनुभव नहीं होता है। अपितु विषय एवं ज्ञान दोनों का मिथ्यात्व ही अनुभव सिद्ध है क्योंकि सर्वजनानुभव यही है कि - 'नेत्र ने दोषवश शुक्ति की चमकदमक में मैं ने रजत को देखा था। उस रजत की कल्पना वास्तव में मैंने ही की थी।' इस अनुभव के अनुसार विषय और उसका ज्ञान दोनों की उत्पत्ति मानना उचित है।

अत: भ्रमस्थल में एक विशिष्ट ज्ञान मानना ही अनुभवानुकूल है। तदर्थ आवश्यक अर्थाध्यास (विषयाध्यास) एवं ज्ञानाध्यास (विषयी का अध्यास) केलिये अनिर्वचनीय ख्याति मानना ही ज्ञप्ति-स्मृति-तर्क एवं अनुभव के अनुरूप होगा। इस प्रकार संक्षेप में ख्याति पञ्चक के स्वरूप एवं दोषों का विचार समाप्त होता है।

卐

।। ब्रह्मार्पणमस्तु ।।

परिशिष्ट -२

संदर्भित ग्रन्थसूची तथा उनके संकेताक्षर

1.	अथर्ववेद	अथर्व
2.	अन्ययोग व्यवच्छेदिका	अयो
3.	अभिधर्मकोश	अभिको
4.	अयोगव्यवच्छेद	अयोग
5.	अष्ट साहस्रिक प्रज्ञापारमिता	अष्ट
6.	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	आपश्रौ
7.	आप्त निश्चयालंकार	आनि
8.	आप्त मीमांसा	आप्त
9.	आर्ष संज्ञावलिः	आर्ष
10.	आलम्बन परीक्षा	आलम
11.	इष्ट सिद्धि	इसि
12.	ऋग्वेद	ऋ
13.	कठोपनिषद्	कठ
14.	कामसूत्र	काम
15.	किरणावली	किर
16.	केनोपनिषद्	केउ
17.	खण्डनखण्डखाद्य	रवरव
18.	गणकारिका	गका
19.	गौड़पादीय माण्डूक्य कारिका	गौका
20.	गौतम सूत्र	गौत
21.	चतु:दशक	चतु
22.	चित्सुखी	चिसु
23.	छान्दोग्योपनिषद्	छान्दो
24.	तंत्रालोक	तंत्र
25.	तत्त्वमुक्ताकलापः	तमुक
26.	तत्त्वविवेक	तवि
27.	तत्त्वसंग्रह	तत्व
28.	तत्त्वार्थसूत्र	तस
29.	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	तसू
30.	तर्कसंग्रह	तर्क

31.	तार्किकरक्षामणि:	त.रा.
32.	त्रिंशिका	त्रिंशि
33.	तैत्तिरीयोपनिषद्	तैत्त
34.	दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र	दक्षि
35.	दशश्लोकी	दश
36.	द्वादशदर्शनसंग्रह	द्वादसं
37.	धम्मपद	धाप
38.	नयचक्र	नम
39.	नैष्कर्म्यसिद्धि	नैस
40.	न्यायकुसुमांजलि	न्याकु
41.	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	न्यासि
42.	न्याय सूत्र	न्या सू.
43.	पांतजल महाभष्य	पामभा
44.	पातंजलयोगसूत्र	योसू
45.	पाशुपतदर्शन	पाद
46.	पुरूषसूक्तं	पुसू
47.	प्रमाणवार्तिक	प्रमा
48.	प्रश्नोपनिषद्	प्रश्न
49.	बृहदारण्यक उपनिषद्	बृह
50.	ब्रह्मसूत्र	ब्रसू
51.	ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका	ब्रसूटी
52.	पंचपादिका	पपा
53.	भगवती सूत्र	भग
54.	भक्तिरसामृतसिंधु	भक्ति
55.	मज्झिमनिकाय	मनि
56.	मनुस्मृति	मनु
57.	महानारायणोपनिषद्	महाना
58.	महानिर्वाणतंत्र	मनित
59.	महापरिनिर्वाणसुत्त	मपसू
60.	महाभारत	महा
61.	महाभारततात्पर्यनिर्णय	मता
62.	महायानसूत्रालंकार	महासू
63.	मानमेयोदय:	मा.मे.
64.	माध्यमिककारिका	माका

65.	माध्यमिकवृत्ति	मावृ
66.	माधवगीताभाष्य	मागीभा
67.	मीमांसाश्लोक वार्तिक	मीलो
68.	मुण्डकोपनिषद्	मु उ
70.	यजुर्वेद	यजु
71.	याज्ञवल्क्य स्मृति	यास्मृ
72.	रघुवंश	रघु
73.	रसहृदय	रह
74.	रसार्णव	रसा
75.	लंकावतार सूत्र	लंसू
76.	ललितासहस्रनाम	ल सेना
77.	लिंग पुराण	लिंग
78.	वाक्यपदीयम्	वाप
79.	वात्स्यायन भाष्य	वाभा
80.	वाराह पुराण	पापु
81.	वाल्मीकि रामायण	वारा
82.	विग्रह व्यावर्तिनी कारिका	विव्या
83.	विनयपिटक	विपि
84.	विभ्रमविवेक:	वि.वि
85.	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्	विधपु
86.	विष्णु सहस्रनाम	विस
87.	वेदान्तडिण्डिम:	वेडि
88.	वेदान्ततर्कसंग्रह	वेतसं
89.	वैशेषिक दर्शन (अथवा कणादसूत्र)	वैद/कासू
90.	शतसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता	शत
91.	शुद्धाद्वैत मार्तण्ड	शुमा
92.	श्रीमद् भगवद् गीता	गीता
93.	श्रीमद् भागवत	भाग
94.	श्वेताश्वतर उपनिषद्	श्वेउ
95.	संक्षेपशारीरकम्	संशा
96.	संयुत्त निकाय	संनि
97.	सांख्यकारिका	सांका
98.	सांख्यसूत्र	झांसू
99.	समाधिराज	सरा

100.	सर्वदर्शन संग्रह	सदसं
101.	सर्वसिद्धान्त संग्रह	ससिसं
102.	सामवेद	साम
103.	सुत्तपिटक	सुपि
104.	सौन्दरानन्द	सौन्द
105.	सौन्दर्यलहरी	सौल
106.	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्	सौभाल
107.	स्यादवाद मंजरी	स्यामं
108.	हितोपदेश मित्रलाभ	हितो

卐

परिशिष्ट-३

अनुक्रमणिका

卐

1960 में एक सनातन धर्मनिष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म होने के कारण **श्री स्वामी शांती धर्मानन्द सरस्वती** (लेखक) को बाल्यावस्था से ही धर्म एवं दर्शन में अभिरुचि रही। निरन्तर साधु-सन्तों के दर्शन एवं सत्संग भी प्राप्त होते रहे। बाल्यकाल से ही श्री रमण महर्षिजी, स्वामी विवेकानन्द जी एवं स्वामी राम तीर्थजी के विचारों से प्रभावित होने के कारण योग एवं दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में स्वाभाविकी जिज्ञासा बनी रही। जिसकी पूर्ति के लिए वे सदा तत्पर रहे। फलस्वरूप भगवत्कृपा से उनका सद्गुरुदेव **परमहंस श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी** (बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार) के साथ सम्पर्क हुआ। गुरूकृपा से योग तथा आध्यात्मिक मार्ग के द्वार खुले । अनेक विद्वानों तथा सन्तों की कृपा से दर्शनशास्त्रों का सम्यक् प्रकार से गुरुकुल पद्धति द्वारा अध्ययन करके पिछले दस वर्षों से अध्यापन कार्य में रत हैं।

यह ग्रन्थ **'सर्वदर्शनसार'** समस्त दर्शनों तथा वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतों के सार का संकलन है। अतः समस्त आध्यात्मिक जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुलोगों के लिए यह ग्रन्थ अवश्य उपकारी है। सत्य तत्त्व की खोज कर रहे साधकों के लिए भी यह ग्रन्थ शास्त्र दृष्टि द्वारा समस्त संशयों का समाधान कर शान्ति प्रदान कर सकता है।

आपके अन्य प्रकाशित ग्रन्थ है—**पूर्णयोग** जो योग के पिपासुओं के लिए अमृत है।

ISBN 81-7276-228-3